तृतीय परिवर्द्धित संस्करण १९६१

मूल्य ८.००

प्रकाशक :
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

मुद्रक :
मागध प्रेस, इलाहाबाद।

गुरुवर
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
को

तृतीय संस्करण की भूमिका

यह संस्करण द्वितीय संस्करण का संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप है। नवीन सामग्रियों के आलोक में पुस्तक के प्रथम खण्ड के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में परिवर्धन किया गया है साथ ही द्वितीय संस्करण की भूलें भी यत्र-तत्र ठीक कर दी गयी हैं। आशा है प्रस्तुत रूप में पुस्तक और भी उपयोगी होगी। जिन विद्वानों से सहायता ली गई है उनके प्रति लेखक कृतज्ञ है।

लोलार्क कुण्ड
वाराणसी
जून, १९६१

नामवर सिंह

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का आविर्भाव सन् १९५१ ई० में काशी विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत निबन्ध के रूप में हुआ था। पीछे वह निबंध भाषा और साहित्य संबंधी कुछ परिशिष्टों के साथ मार्च १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ। अब ढाई वर्षों बाद इसका द्वितीय संस्करण अत्यधिक संशोधन और परिवर्धन के साथ प्रकाशित हो रहा है। फिर से लिखी जाने के कारण यों तो पूरी पुस्तक एकदम नयी हो गयी है, फिर भी इस संस्करण की कुछ मुख्य विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं —

१ परवर्ती अपभ्रंश और आरंभिक हिन्दी संबंधी नवीन सामग्री का समावेश।

२ अपभ्रंश और हिंदी वाक्य-विन्यास का तुलनात्मक विवेचन।

३ अपभ्रंश के कुछ विशिष्ट तद्भव तथा देशी शब्द और उनके हिंदी रूपों की सूची।

४ अपभ्रंश के प्रायः सभी सूचित और ज्ञात ग्रंथों की सूची।

५ अपभ्रंश के मुख्य कवियों, काव्यों और काव्य प्रवृत्तियों की विस्तृत समीक्षा।

६ अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक संबंध पर विशेष विचार।

इन विशेषताओं के साथ साथ प्रथम संस्करण की प्रायः सभी आवश्यक बातों का समाहार कर लिया गया है और अनावश्यक बातें छोड़ दी गयी हैं।

पुस्तक लिखने में जिन ग्रंथकारों से सहायता मिली है, उन सबके प्रति लेखक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० परशुराम वैद्य और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे गुरुजनों से समय-समय जो कुछ मिला है उसके लिए आभार प्रदर्शन धृष्टता होगी। डा० वैद्य ने प्रथम संस्करण के लिए जो प्राक्कथन लिखा है, वह उनके स्नेहाशीष का प्रतीक है। भाई नर्मदेश्वर जी ने जिस आग्रह से यह पुस्तक तैयार करवाई है उसके लिए धन्यवाद देना उपचार होगा।

अंत में निवेदन है कि विज्ञ पाठक अपने सत्परामर्श द्वारा लेखक को अनुगृहीत करेंगे।

हिंदी विभाग
काशी विश्वविद्यालय
सितम्बर, १९५४ ई०

नामवर सिंह

प्राक्कथन

अभी कुछ ही दिनों से विद्वानों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास के अध्ययन की ओर ध्यान देना आरम्भ किया है। अध्ययन की इस दिशा में सबसे प्रमुख शृंखला ऐसे भाषा-वर्ग के अध्ययन की है जो प्राकृत नाम से अभिहित है और जिसके अन्तर्गत पाली, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची एवं अपभ्रंश आदि भाषाएं आती हैं। इनमें पाली का वाङ्मय बहुत विशाल है जो विद्वानों द्वारा सुसम्पादित तथा क्रमशः रोमन, सिंहली, बर्मी एवं श्यामी लिपि में मुद्रित है। समय-समय पर नागराक्षरों में भी पाली-साहित्य प्रकाशित होता आ रहा है। महाराष्ट्री, विशेषतः जैन महाराष्ट्री का बहुत विशाल साहित्य भी वर्तमान है जिसमें से कुछ विद्वानों को उपलब्ध भी है किन्तु शौरसेनी, मागधी एवं पैशाची आदि अन्य प्राकृत भाषाओं का साहित्य अत्यल्प है जो संस्कृत नाटकों एवं सट्टकों के केवल प्रारंभिक दो चरणों में है। कहा जाता है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा एक विशालकाय ग्रंथ रहा है जो पैशाची प्राकृत में था, किन्तु अब प्राप्य नहीं है। अपभ्रंश-साहित्य बहुत विशाल है और कुछ ग्रंथ प्रकाशित भी हुए हैं, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि आज से पचास वर्ष पूर्व १९०२ ई० में पिशल को 'मेटरियल्स फॉर द नालेज ऑफ अपभ्रंश' नामक पुस्तक में अपभ्रंश के कुछ अंशों का उपयोग करके ही सन्तुष्ट होना पड़ा था।

'अपभ्रंश' का सटीक शब्दार्थ अधिकतर अनुमान का विषय रहा है। पतंजलि को इस शब्द की जानकारी थी और उन्होंने अपने व्याकरण महाभाष्य में इसका प्रयोग भी किया है, जहाँ यह विकृत या उन शब्दों का द्योतन करता है जो संस्कृत के पाणिनि आदि वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत नहीं हैं अथवा जो अपभ्रष्ट या परंपराच्युत हैं, या जो पवित्र कर्मकाण्डों के अवसर पर प्रयोग की दृष्टि से असंगत हैं। इस बात का हमारे पास पुष्ट प्रमाण नहीं है कि शब्दों के अपभ्रष्ट रूप पतंजलि के समय तक शास्त्र-सम्मत थे या नहीं। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में तो पाणिनीय संस्कृत भी अपभ्रष्ट लग सकती है, किन्तु उनके समय में उनकी संस्कृत शिष्टों की भाषा मान ली गयी थी। पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त छान्दस और भाषायाम् से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में वैदिक संस्कृत अप्रचलित थी और एक नयी भाषा आविर्भूत हुई थी। मेरे विचार में इस प्रकार पुराने रूपों का

अप्रचलित होना और नवीन रूपों द्वारा बोलचाल की भाषा का निर्माण होना आज भी प्रचलित है। इस प्रकार वैदिक संस्कृत विकसित होकर शास्त्रीय अथवा पाणिनीय संस्कृत बनी जिसे हम 'भाषा' की संज्ञा देते हैं। बाण के समय में भी उक्त संस्कृत प्रचलित थी, किन्तु वह अपने मित्र ईशान को भाषा-कवि बतलाता है। (पुष्पदन्त ने भी अपनी रचना महापुराण में इनका उल्लेख किया है।) भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में संस्कृत और अपने समय में प्रचलित प्राकृत और उसकी विभाषाओं का उल्लेख किया है और दण्डी आदि परवर्ती लेखकों ने महाराष्ट्र की भाषा का सर्वश्रेष्ठ प्राकृत के रूप में उल्लेख किया है। रुद्रट ने अपभ्रंश के भेदों का प्रान्तीय भाषाओं के रूप में उल्लेख किया है। भरत अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं करते वे विभाषा और विशेषत आभीरों की विभाषा का उल्लेख करते हैं। वे एक ऐसी भाषा का भी उल्लेख करते हैं जिसमें नाम और आख्यात दोनों प्रकार के उकारान्त शब्दों की प्रधानता है जैसा कि शास्त्रीय अपभ्रंश में भी है। किन्तु उल्लेखनीय यह है कि केवल शास्त्रीय अपभ्रंश में ही 'उ' कारान्त शब्द नहीं मिलते। मैं भाषाशास्त्रियों का ध्यान, बौद्ध-साहित्य की संस्कृत पुस्तक 'ललित विस्तर' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ जिनमें 'उ' कारान्त नाम और आख्यात शब्दों का प्रयोग मिलता है। क्या हम इन पुस्तकों की भाषा को संस्कृत की विभाषा नहीं कह सकते? प्रसिद्ध 'धम्मपद' का एक प्राकृत रूपान्तर भी है जिसमें 'उ' कारान्त शब्द प्राय आते हैं। तारानाथ के प्रमाण पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बौद्ध त्रिपिटक भी कई रूपों में पाये जाते हैं। उसके पाली और अज्ञात संस्कृत रूप भी मिले हैं जिनसे हम परिचित हैं। 'धम्मपद' का प्राकृत रूप, जिसकी चर्चा हो चुकी है, त्रिपिटक का ही एक खण्ड है। बौद्धों के साम्मितीय मत का भी एक त्रिपिटक अपभ्रंश में रहा है जो दुर्भाग्यवश उपलब्ध नहीं है और इसके खण्ड रूप भी अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं। तारानाथ के प्रमाण पर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि इसका अपभ्रंश रूप भी रहा है। जो हो, आदर्श भाषा के साथ-साथ भाषाओं का अपभ्रंश रूप भी रहा है वैदिक संस्कृत के साथ उसके अपभ्रष्ट रूप में शास्त्रीय संस्कृत शास्त्रीय संस्कृत के साथ उसके अपभ्रष्ट रूप में 'ललित विस्तर' की बौद्ध संस्कृत और यह क्रम इसी प्रकार आगे भी चलता रहा है। अतएव, यह अनुमान ठीक ही है कि एक प्रकार का अपभ्रंश वैदिक संस्कृत के विकास के साथ-साथ रहा है और इसकी विशेषताएँ तत्कालीन प्रचलित शास्त्रीय रूपों पर आधारित रही हैं।

आज अपभ्रंश से हम एक प्राकृत भाषा का बोध होता है जिसकी विशेषताएँ चण्ड, हेमचंद्र, त्रिविक्रम, पुरुषोत्तम, मार्कण्डेय तथा अन्य वैयाकरणों द्वारा

निश्चित हैं। अपभ्रंश का अध्ययन भारत की आधुनिक भाषाओं का—विशेष
हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला तथा उनकी उपभाषाओं के विकास को ठीक ठी
समझने के लिए अत्यावश्यक है। मुझे हर्ष है कि काशी विश्वविद्यालय के प्रतिभ
सम्पन्न विद्यार्थी श्री नामवर सिंह, एम० ए०, जिन्होंने १९५१ ईस्वी में एम० ए
की परीक्षा में शीर्ष स्थान प्राप्त किया था, की थीसिस 'हिन्दी के विकास में
अपभ्रंश का योग' पुस्तक रूप में आ रही है। लेखक ने अपभ्रंश भाषा सम्बं
सारी समस्याओं का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन उपस्थित किया है, यह
नहीं अपने पूर्ववर्ती लेखकों की उन धारणाओं की आलोचना भी की है ज
उसे भ्रमोत्पादक जान पड़ीं। पुस्तक के अन्त में उन्होंने कुछ परिशिष्ट भी जो
दिये हैं जो पाठकों के लिए उपयोगी हैं। मैं उनकी इस उत्तम कृति के लिए उ
बधाई देता हूँ और भाषाशास्त्रियों, विशेषतः स्वतंत्र भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी
के विद्वानों को इसे पढ़ने के लिए आह्वान करता हूँ।*

हिन्दू विश्वविद्यालय,
बनारस
१६ फरवरी १९५२

(डा०) पी० एल० वैद

---

*अंग्रेज़ी से अनूदित

FOREWORD

It is only in recent years that scholars of Modern Indian Languages started taking interest in problems concerning the origin and growth of these languages One of the most important links in this branch of studies is a scientific study of a group of languag-s known as the Prakrit languages such as pali Maharastri Saurasem Magadhi Paisachi and Apabhramsa Of these Pali has got vast literature which is available to scholars in carefully prepared editions printed in Roman-script and laterly in Singhalese Burmese and Siamese Pali books in the Devanagri script are also appearing off and on The literary works in Maharastri particularly in Jain Maharastri exist in large number and some of them are available to scholars but works in other Prakrit languages such as Saurasem Magadhi and Paisachi is very scanty covering in the first two passages found in the Samskrit dramas and sattakas only It is said that Gunadhya Brihat Katha reported to be a voluminous work was written in Paisachi Prakrit but is no longer extant Literature in Apabhramsa is vast and a few works are available in print but it should be noted that in 1902 just fifty years back Pischel had to remain content with a few bits which he put into a small publication known as Materials for the knowledge of Apabhramsa.

The exact connotation of the term Apabhramsa has been a matter of considerable speculation The term is known to Patanjali and used by him in his Vyakaran Mahabhasya where it signifies corrupt words or words not sanctioned by Samskrit grammarians like Panini and words which being Apabhrasta or degenerated are unfit to be used on occasions of sacred rituals Whether the Apabhrasta forms in the age of Patanjali were standardised or not we have no sufficient evidence To vedic seers even Panini s Samskrit might appear as Apabhrasta but in his age his Samskrit attained the status of a Bhasa of the sistas. Chhandasi and Bhasyam as used by early grammarians clearly indicate that in the age of Panini Vedic language had gone out of use and a new

निश्चित हैं। अपभ्रंश का अध्ययन भारत की आधुनिक भाषाओं के—विशेषतः हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला तथा उनकी उपभाषाओं के विकास का ठीक-ठीक समझने के लिए अत्यावश्यक है। मुझे हर्ष है कि काशी विश्वविद्यालय के प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी श्री नामवर सिंह, एम० ए०, जिन्होंने १९५१ ईस्वी में एम० ए० की परीक्षा में शीर्ष स्थान प्राप्त किया था, की थीसिस 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' पुस्तक रूप में आ रही है। लेखक ने अपभ्रंश भाषा सम्बन्धी सारी समस्याओं का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन उपस्थित किया है, यही नहीं अपने पूर्ववर्ती लेखकों का उन धारणाओं की आलोचना भी की है जो उसे असन्तोषप्रद जान पड़ीं। पुस्तक के अन्त में उन्होंने कुछ परिशिष्ट भी जोड़ दिये हैं जो पाठकों के लिए उपयोगी हैं। मैं उनको इस उत्तम कृति के लिए उन्हें बधाई देता हूँ और भाषाशास्त्रियों, विशेषतः स्वतंत्र भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी के विद्वानों को इसे पढ़ने के लिए आह्वान करता हूँ।*

हिन्दू विश्वविद्यालय,
बनारस
१६ फरवरी, १९५२

(डा०) पी० एल० वैद्य

*अंग्रेजी से अनूदित

FOREWORD

It is only in recent years that scholars of Modern Indian Languages started taking interest in problems concerning the origin and growth of these languages One of the most important links in this branch of studies is a scientific study of a group of languag s known as the Prakrit languages such as pali Maharastri Saurasem Magadhi Paisachi and Apabhramsa Of these Pali has got vast literature which is available to scholars in carefully prepared editions printed in Roman-script and laterly in Singhalese Burmese and Siamese Pali books in the Devanagri script are also appearing off and on The literary works in Maharastri particularly in Jain Maharastri exist in large number and some of them are available to scholars *but works in other Prakrit languages such as Saurasem* Magadhi and Paisachi is very scanty covering in the first two passages found in the Samskrit dramas and sattakas only It is said that Gunadhya Brihat Katha reported to be a voluminous work was written in Paisachi Prakrit but is no longer extant Literature in Apabhramsa is vast and a few works are available in print but it should be noted that in 1902 just fifty years back Pischel had to remain content with a few bits which he put into a small publication known as Materials for the knowledge of Apabhramsa.

The exact connotation of the term Apabhramsa has been a matter of considerable speculation The term is known to Patanjali and used by him in his Vyakaran Mahabhasya where it signifies corrupt words or words not sanctioned by Samskrit grammarians like Panini and words which being Apabhrasta or degenerated are unfit to be u ed on occasions of sacred rituals Whether the Apabhrasta forms in the age of Patanjali were standardised or not we have no sufficient evidence. To vedic seers even Panini s Samskrit might appear as Apabhrasta but in his age his Samskrit attained the status of a Bhasa of the sistas Chhandasi and Bhasyam as used by early grammarians clearly indicate that in the age of Panini Vedic language had gone out of use and a new

form of the language had made its appearance In my view this process of old form becoming obsolete and new forms constituting a Bhasa i e a current language has continued even up to our age So we have Vedic Samskrit and it developped into classical or Panini s Samskrit which was called Bhasa we have classical Samskrit current in the days of Bana but he mentions his friend Isan as Bhasa Kavi (h e is also referred to by Pushpadant in his Mahapuran) Bharat in his Natyasastra has mentioned Samskrit as also Prakrit and its Vibhasa which were current in his times and subsequent writers like Dandi have referred to the language of Maharastra as the best Prakrit Rudrat refers to varieties of Apabhramsa as provincial forms. Bharata does not use the term Apabhramsa he mentions Vibhasa and particularly the Vibhasa of the Abhir s He also mentions a Bhasa in which u as ending vovel of words both nouns and verbs figures prominently as in classical Apabhramsa But it should be noted that classical Apabhramsa is not the only language which uses u ending words I should like to draw the attention of linguists to the fact that Buddhist Samskrit e g the verses in Lalit Vistar and Sadharm Pundarika use several forms of nouns and verbs ending in u We cannot call then the language of these works as Vibhasa of classical Samskrit There is a version of the famous Dhammapad known as the Prakrit Dhammapad in which u ending forms figure prominently We may even assume on the authority of Taranath that the Bauddha Tripitak exists in versions. The Pali and samskrit versions the latter in fragments are discovered and known to us The Prakrit version of the Dhammapad which is a work of the Tripitak has been just mentioned The Samitiva School of the Buddhists had their Tripitak in the Apabhramsa version unfortunately it is not extant and even fragments of this version have not yet come to light We can still assume on the authority of Taranath that the Apabhramsa version was in existence In any case Apabhramsa form of a language existed side by side with the standard form the classical Samskrit figuring as the Apabhrast form by the sid of Vedic Samskrit. Buddhist Samskrit of Lalit Vistar figured as Apabhrast by the side of classical Samskrit and the Process went on further It is therefore right to assume that

a type of Apabhramsa existed throughout the development of the Vedic Samskrit its characteristic depending on the classical form current at the time-

Today however we understand by the term Apabhramsa a Prakrit language whose characteristics have been fixed by grammarians like Chand, Hemachandra Trivikrama Purusottama Markandeya and others The study of the Apabhramsa is essential for correctly mastering the growth of the languages of Modern India particularly Hindi Gujrati, Bengali Marathi and all their sub-dialects I am therefore glad to find Shri Namavara Singh M A a brilliant student of the Banaras Hindu University who topped the list of M A students in 1951 to come out with his thesis he offered at that examination on Hindi ke Vikas men Apabhramsa Ka Yoga and to make it available in a book form He has studied the entire problem of the Apabhramsa language scientifically and historically and has not hesitated to criticise the views of his predecessors where they appeared to him to be unsatisfactory To his thesis he has added a few appendices to make his study more useful to the readers. I congratulate him on his excellent work and commend it to linguists and particularly to the scholars of the Hindi language which has now rightly attained the status of the Rastrabhasa of free India

Hindu University Banaras
16th February 1952

(Dr) P L. VAIDYA



विषय-सूची

प्रथम खण्ड भाषा

संक्षिप्त रूप

हिन्दी

उक्ति	उक्ति व्यक्ति प्रकरण
कबीर०	कबीर-ग्रंथावली
कीर्ति०	कीर्तिलता
जस०	जसहर चरिउ
पद्मा०	पद्मावत
प० च०	पउम चरिउ
महा	महापुराण
मानस	रामचरितमानस
वर्ण०	वर्णरत्नाकर
स० रा	सदेश रासक
सुदामा०	सुदामाचरित
हि० ग्रै० अप०	हिस्टॉरिकल ग्रैमर ऑव अपभ्रंश
हेम	हेमचन्द्र-कृत प्राकृत व्याकरण

अंग्रेजी

BSOAS	Bulletin of the School of Oriental and African Studies
DCRI	Deccan College Research Institute
GOS	Gaikwar Oriental Series
JRASB	Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal
SJS	Singhi Jain Series

प्रथम खण्ड : भाषा

अपभ्रंश भाषा

उद्भव और विकास

भारतीय आर्यभाषा के विकास की जो अवस्था अपभ्रंश नाम से जानी जाती है, उसके लिए प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में अपभ्रष्ट और अपभ्रंश तथा प्राकृत अपभ्रंश ग्रंथों में अवब्भंस, अवहंस, अवहत्थ, अवहट्ठ, अवहठ, अवहट, आदि नाम मिलते हैं। संस्कृत में प्रायः अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया गया है, 'अपभ्रष्ट' शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण जैसे दो एक ग्रंथों ने ही 'अपभ्रष्ट' संज्ञा का व्यवहार किया है।[1] अवब्भंस और अवहंस शब्द अपभ्रंश के ही तद्भव रूप हैं। प्राकृत अपभ्रंश के ग्रंथों में जहाँ संस्कृत के लिए सक्कय और प्राकृत के पाइय, पाउँअ आदि रूप व्यवहृत हैं, वहाँ अपभ्रंश का अवब्भंस और अवहंस हो जाना स्वाभाविक है। उद्योतन की 'कुवलय माला कहा'[2] (८वीं शताब्दी ईस्वी) तथा पुष्पदन्त के महापुराण[3] (१०वीं शताब्दी ईस्वी) में ये दोनों शब्द मिलते हैं।

'अपभ्रंश' संज्ञा

इसी प्रकार अवहत्थ, अवहट्ठ अवहठ, अवहट, आदि रूप अपभ्रष्ट के तद्भव हैं और इनका प्रयोग परवर्ती कवियों में विशेष पाया जाता है। स्वयम्भू ने अपनी रामायण[4] (८वीं शताब्दी ईस्वी) में 'अवहत्थ' शब्द का प्रयोग किया है। शेष शब्दों का प्रयोग अद्दहमाण के संदेशरासक[5] (१२वीं शताब्दी ईस्वी),

---

१ अपभ्रष्ट तृतीयं च तदनन्त नराधिप। (खण्ड ३ अध्याय ३)

२ किं चि अवब्भंस-कया दा (अल्फ्रेड मास्टर द्वारा B S O A S XIII २ में उद्धृत) ता किं अवहंस होहिइ ? (अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० ९७ पर उद्धृत)

३ सक्कय पायउ पुणु अवहंसउ। (संधि ५ कड़वक १८)

४ अवहत्थे वि खल-यणु णिरवसेसु। (रामायण—१।४ हिंदी काव्यधारा में उद्धृत)

५ अवहट्टय-सक्कय-पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खण छन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं॥ (प्रथम प्रक्रम ६ ६)

ज्योतिरीश्वर के वर्ण-रत्नाकर[१] (१४वीं शताब्दी ईस्वी का पूर्वार्द्ध) विद्यापति की कीर्तिलता[२] (१४वीं शताब्दी ईस्वी का उत्तरार्द्ध) और प्राकृतपैङ्गलम् की वंशीधर कृत टीका[३] (१६वीं शताब्दी ईस्वी) में मिलता है।

सबका अर्थ समान होते हुए भी अनेक कारणों से इस भाषा के लिए संस्कृत की अपभ्रंश संज्ञा ही गृहीत हुई।

अपभ्रंश का अर्थ

अपभ्रंश का साधारण शब्दार्थ स्पष्ट है। अपभ्रंश अर्थात् भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत अथवा अशुद्ध। भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्द-रूप च्युत हों, वे अपभ्रंश हैं। यह अवश्य है कि भाषा का एक सामान्य मानदण्ड बोलियों के अनेक विकृत शब्द रूपों से ही स्थिर होता है, किन्तु उसके साथ ही यह भी निश्चित है कि लोक व्यवहार में उस सामान्य मान के भी विकार होते रहते हैं। संभव है, प्रतिमान पर दृष्टि रखने वाले विद्वानों ने ऐसे विकारों को अपभ्रंश कहने की परिपाटी चला दी हो। लेकिन इस तरह के अर्थ तथा ऐसे ही दूसरे अर्थ अनुमान के ही विषय हो सकते हैं। अपभ्रंश शब्द का सटीक अर्थ जानने के लिए उसके प्रयोग का इतिहास देखना अधिक संगत होगा।

अपभ्रंश शब्द की प्राचीनता

प्राचीन ग्रंथों से पता चलता है कि संग्रहकार व्याडि को अपभ्रंश शब्द की जानकारी थी। भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् की वृत्ति में शब्द प्रकृति पर विचार करते हुए लिखा है कि संग्रहकार के अनुसार अपभ्रंश की प्रकृति शब्द अर्थात् संस्कृत शब्द हैं।[४] संग्रहकार व्याडि का उल्लेख पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है।[५] इससे इतना तो स्पष्ट है कि व्याडि महाभाष्यकार के समय (दूसरी शती ईस्वी पूर्व) से पहले हुए थे। लेकिन अभी तक व्याडि का ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका है,

---

१ [illegible] कइसन भाट संस्कृत पराकृत अवहठ पैशाची सौरसेनी मागधी छहु भाषाक तत्वज्ञ (षष्ठ कल्लोल पृ० ४४)

२ देसिल बयना सबजन मिट्ठा। तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥ (पृ० ६)

३ प्रथमो भाषा तरंड प्रथम भाषा भाषा अवहट्ट भाषा　(प्रथम गाथा की टीका)

४ शब्द प्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारो। (वाक्यपदीयम्-काण्ड १ कारिका १४८ का वार्तिक)

५ महाभाष्यम्—कीलहार्न संस्करण भाग १ प० ६ और ४६८ भाग ३ पृ० ३५६।

इसलिए परोक्ष प्रमाण के आधार पर अपभ्रंश शब्द का इतिहास इतना पहले दिखाना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

अपभ्रंश शब्द का स्पष्ट उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है[१]। पतञ्जलि ने उदाहरण देकर अपभ्रंश-संबंधी अपना विचार और भी स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार गौ जैसे शब्द 'शब्द' हैं अर्थात् साधु शब्द हैं और लोक में इसके गावी, गाणी, गोता, गोपोतलिका आदि जो विविध रूपान्तर मिलते हैं, वे अपशब्द अथवा असाधु शब्द हैं। इन्हें ही महाभाष्यकार ने अपभ्रंश कहा है।

पतंजलि जैसे लोकवादी मुनि के मुख से बोली के शब्दों के लिए अपशब्द और अपभ्रंश संज्ञा का प्रयोग सुनकर आश्चर्य होता है क्योंकि उन्होंने स्थान स्थान पर लोक-प्रचलित शब्द-रूपों को लक्षित ही नहीं किया है बल्कि शब्द-प्रयोग के विषय में लोक का ही प्रमाण माना है। महाभाष्य का वैयाकरण और सूत संवाद प्रसिद्ध है जिसमें शब्द प्रयोग को लेकर वैयाकरण को सूत के सम्मुख मुँह की खानी पड़ती है। यही नहीं, महाभाष्यकार ने अनेक जगह शब्द को 'लोक विज्ञान' कहा है। 'लोकतो अर्थ प्रयुक्ते शब्द-प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमो क्रियते' वार्तिक पर भाष्य करते हुए जो यह कह सकता हो कि 'अभ्यन्तरोऽहं लोके न त्वहं लोकः' उसके द्वारा लोक में व्यवहृत बोली के शब्दों के लिए अपशब्द का प्रयोग किया जाना कुछ विस्मयकर ही लगता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार ने उक्त कथन के द्वारा देववाणी संस्कृत के तत्कालीन आचार्यों का सामान्य विचार व्यक्त किया है। अपशब्द अथवा अपभ्रंश से उनकी घृणा का नहीं, बल्कि दृष्टिकोण विशेष का पता चलता है।

आगे चलकर हम देखते हैं कि व्याकरण में अपभ्रंश शब्द का यह अर्थ रूढ़ हो गया। यही नहीं, वैयाकरणों ने प्रायः 'गो' वाले यही उदाहरण भी दुहराये हैं। दण्डी (७वीं शती ईस्वी) ने इसी परंपरा की ओर संकेत करते हुए कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से इतर शब्द को अपभ्रंश कहा जाता है।[२] यहाँ शास्त्र से दण्डी का अभिप्राय संस्कृत के व्याकरण शास्त्र से है। दण्डी के इस कथन को

संस्कृत व्याकरण में अपभ्रंश शब्द

१ भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः (वही पस्पशाह्निक)

२ शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्। (काव्यादर्श १।३६)

३ समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च। (नाट्यशास्त्रम्—१०।३)

पुष्टि अनेक वैयाकरणों द्वारा होती है। भरत मुनि ने समान शब्द के अतिरिक्त जिस विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग किया है, वह यही अपभ्रंश है। भर्तृहरि (५ वीं शती) ने संस्कारहीन शब्दों का अपभ्रंश कहे जाने का उल्लेख किया है।[1] महाभाष्य के टीकाकार कैयट (१० वीं शती ईसवी) ने भी उन शब्दों को अपभ्रंश कहा है जो साधु शब्दों के समान अर्थ में लोक में प्रयुक्त होते हैं।[2] इसी तरह अन्य संस्कृत वैयाकरणों का भी मत उद्धृत किया जा सकता है। इनसे व्याकरण शास्त्र में प्रचलित अपभ्रंश शब्द की उक्त अर्थ परंपरा सहज ही पुष्ट होती है।

यहाँ एक बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना अनुचित न होगा कि इन वैयाकरणों ने संस्कृत से इतर भाषा अथवा बोली के लिए तो प्राकृत शब्द का प्रयोग किया, लेकिन संस्कृत से इतर शब्द के लिए अपभ्रंश शब्द का।

गावी-गोणी आदि अपभ्रंश शब्दों का विश्लेषण

सहज ही प्रश्न उठता है कि गावी, गोणी आदि अपभ्रंश शब्द किस लोक भाषा के थे? इन शब्दों का सम्बन्ध किन प्राकृतों से था? इस प्रश्न का समाधान महाभाष्य में तो नहीं मिलता, लेकिन प्राकृतिक-व्याकरणों में इनको समझने के कुछ सूत्र अवश्य प्राप्त होते हैं। चण्ड ने प्राकृत-लक्षणम् में गो के प्राकृत रूप 'गावी' का उल्लेख किया है।[3] हेमचन्द्र ने भी गोणी आदि प्राकृत रूपों का समर्थन किया है।[4] श्वेताम्बर जैनों के अर्धमागधी प्राकृत में लिखित ग्रन्थों में भी गावी और गोणी रूपों को लक्षित किया गया है।[5] इस प्रकार अपभ्रंश शब्दों पर विचार करते हुए वैयाकरणों का ध्यान क्रमशः संस्कृतेतर भाषाओं अथवा बोलियों की ओर गया और शीघ्र ही अपभ्रंश शब्द भाषा विशेष के लिए भी प्रयुक्त होने लगा।

बहुत संभव है गावी, गोणी आदि अपभ्रंश शब्द मूलतः गोपालक आभीर

---

१ शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥ (वाक्यपदीयम् काण्ड १ कारिका १४८)

२ अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्दसमानार्थश्च।

३ गोर गावी। (प्राकृतलक्षणम् २ १६)

४ गोणाद्यः। (सिद्ध हेम शब्दानुशासन ८ २ १ ७)

५ खीरीखियाओ गावीओ (आचाराङ्ग सु० २ उ० ४)
गोणीणं संगेल्लं (व्यवहारसूत्र उ ४) इत्यादि।
[अपभ्रंशकाव्यत्रयी भूमिका पृ० ७२ पर उद्धृत]

जाति की बोलियों में प्रयुक्त होते रहे हों। दण्डी का यह कथन कि काव्यों में आभीर आदि की भाषा को अपभ्रंश नाम से स्मरण किया जाता है,[1] इस प्रसंग में विशेष महत्व रखता है। दण्डी के इसी कथन से यह भी अनुमान किया जाता है कि भरत मुनि ने जिस आभीरोक्ति का नाम लिया है[2] वह अपभ्रंश ही थी। लेकिन भरतमुनि द्वारा अपभ्रंश शब्द का प्रयोग न किया जाना कुछ तो अर्थ रखता ही है। कहा जा सकता है कि तीसरी शती तक भाषा विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का व्यापक प्रसार नहीं हुआ था।

भाषा विशेष के लिए अपभ्रंश शब्द का प्रयोग

भाषा-विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग प्रायः छठीं शती ईस्वी के आस-पास मिलता है। प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड प्रथम हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश भाषा का नामोल्लेख किया है।[3] इसी तरह संस्कृत आलंकारिकों में भामह को अपभ्रंश के प्रथम नामोल्लेख का श्रेय है।[4] इन सबके साथ ही वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र (छठीं शती ईस्वी) से भी अपभ्रंश नामक भाषा के अस्तित्व की पुष्टि होती है, जिसमें द्वितीय धरसेन ने अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की प्रबन्ध-रचना में निपुण कहा है।[5] इन सभी उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि ईसा की छठीं शताब्दी तक आते आते भाषा के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग होने लगा था। यही नहीं, बल्कि संस्कृत आलंकारिकों द्वारा अपभ्रंश में काव्य-रचना भी लक्षित की गयी। इसके साथ ही यह भी पता चलता है कि संस्कृत के आचार्यों ने संस्कृत और प्राकृत (महाराष्ट्री) के बाद तीसरा स्थान अपभ्रंश को ही दिया, शौरसेनी मागधी पैशाची आदि किसी प्राकृत को नहीं। ध्यान देने की बात है कि जो अपभ्रंश शब्द ईसा से दो शताब्दी पूर्व अपाणिनीय अपशब्द के लिए प्रयुक्त होता था, वही ईसा की छठीं शताब्दी तक आते आते एक साहित्यिक भाषा की संज्ञा बन गया।

फिर भी इस भाषा को बहुत दिनों तक देशभाषा ही समझा जाता रहा।

---

१ आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। (काव्यादर्श १।३६)

२ आभीरोक्तिः शाबरी स्यात् द्राविडी द्रविडादिषु।
(नाट्यशास्त्रम् १७-५५)

३ न लोपोऽपभ्रंशेऽधो रेफस्य। (प्राकृतलक्षणम् ३।३७)

४ शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥ (काव्यालङ्कार १।१६)

५ संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबन्धरचना-निपुणान्तःकरण

संस्कृत के आचार्यों ने तो इसे देशभाषा कहा ही,[1] स्वयं अपभ्रंश कवियों ने भी अपनी भाषा को देशभाषा के रूप में स्वीकार किया। स्वयंभू ने अपनी रामायण को 'ग्रामीण भाषा' अथवा 'देसी भाषा' में रचित बतलाया है।[2] अपभ्रंश के दूसरे महान कवि पुष्पदन्त ने भी 'देसी' नाम से अपभ्रंश की ओर संकेत किया है।[3] इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अपभ्रंश से पहले प्राकृत को देसी कहने की प्रथा थी[4] और प्राकृत से भी पहले पालि के लिए इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश देशभाषा (पालि) में ही किया था और उसी भाषा में उन्हें सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था। इसी तरह पालि से पूर्व पाणिनीय संस्कृत भी केवल 'भाषा' कहलाती थी क्योंकि छन्दस् की भाषा की तुलना में वह लोक भाषा थी। स्वयं पाणिनि भी अपने समय की बोलचाल की भाषा संस्कृत का व्याकरण लिखते समय बीच-बीच में छन्दस् की आर्ष-वाणी की भी विशेषताएं आँकते गये।

अपभ्रंश और देशभाषा

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग में साहित्य-रूढ़ भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी अवश्य रही है और यही देशी भाषा उस साहित्यिक भाषा को नया जीवन प्रदान कर सदैव विकसित करती चलती है। छन्दस् की भाषा ने तत्कालीन देशी भाषा से शक्ति अर्जित करके संस्कृत का रूपग्रहण किया और फिर संस्कृत अपने समय की देशी भाषा के सहयोग से प्राकृत के रूप में ढली। अवसर आने पर प्राकृत को भी अपनी आन्तरिक रूढ़ि दूर करने के लिए लोक भाषा की सहायता

---

१ षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः। (रुद्रट-कृत काव्यालङ्कार २ १२)
लोकेषु यस्मादपभ्रष्टसंज्ञं ज्ञेयं हि तद्देशविदोऽधिकारम्।
(विष्णुधर्मोत्तर ३ ७)

२ देसी भासा उभय तडुज्जल। कवि दुक्कर घण-सद्द सिलायल। (रामायण १)
छुडु होंति सुहासिय-वयणाइं। गामेल्ल भास परिहरणाइं॥
(रामायण १ ३)

३ णउ हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि।
(महापुराण १-८)

४ पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य देसिवयणेहिं।
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता य विउला य॥ (पादलिप्त तरङ्गवती कथा पाहुड़ दोहा की भूमिका में उद्धृत)

सेनी पड़ी फलत भारतीय आर्यभाषा की अपभ्रंश अवस्था उत्पन्न हुई, जिसने आगे चलकर सिंधी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि आधुनिक देशी भाषाओं को जन्म दिया।

विकास के इस क्रम में ऐसी अवस्था आती है जब आरंभिक देशी भाषा शिष्टों की साहित्यिक भाषा बन जाती है और वैयाकरण लोग उसका नियम लिखते समय शिष्टों के प्रयोग को सामने रखते हैं। जिस अपभ्रंश को महाकवि स्वयंभू ने 'गामेल्ल भास' कहा था उसे ही ११वीं शताब्दी ईस्वी के वैयाकरण पुरुषोत्तम ने शिष्टों के प्रयोग से जानने की सलाह दी।[१]

फिर भी आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में इस प्रश्न को लेकर काफी विवाद हुआ है कि अपभ्रंश वास्तविक देशभाषा अर्थात् बोलचाल की भाषा थी या नहीं। एक ओर पिशेल ग्रियर्सन, भण्डारकर, चटर्जी, बुलनर जैसे विद्वान हैं जो अपभ्रंश को 'देशभाषा' मानते हैं। दूसरी ओर याकोबी, कीथ, ज्यूल ब्लाख, अल्सडार्फ प्रभृति विद्वान हैं जो अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इनकार करते हैं।

देशभाषा-पक्ष की स्थापना करते हुए पिशेल ने अनेक प्राचीन प्रमाणों के अतिरिक्त 'प्राकृत पैंगलम्' के टीकाकार रविकर का एक कथन उद्धृत किया है जिसमें अपभ्रंश के दो प्रकार बताए गए हैं एक तो वह अपभ्रंश जो प्राकृत से उत्पन्न हुए है और जो शब्द-रचना तथा रूप रचना में प्राकृत की लीक से नहीं हटती दूसरी अपभ्रंश वह है जो 'देशभाषा है।

ग्रियर्सन ने प्रसंगात् अनेक स्थानों पर अपभ्रंश की चर्चा की है और किसी-न किसी रूप में उसे देशभाषा स्वीकार किया है किन्तु उन वक्तव्यों में कुछ-न-कुछ अन्तर है। जैसे 'लैंग्वेजेज आफ इंडिया' निबंध में उन्होंने अपभ्रंश की इतनी व्यापक परिभाषा की है कि उसके अंतर्गत बोलचाल की प्राकृतों को भी सम्मिलित कर लिया है और उन्हें आरंभिक अपभ्रंश कहा है लेकिन इसके साथ ही परवर्ती अथवा वास्तविक अपभ्रंश से उसे भिन्न माना है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' (जिल्द १, पृ० १२३) में ग्रियर्सन ने अपभ्रंशों को प्राकृत का स्थानीय अथवा प्रान्तीय विकार कहा है। इसी प्रकार 'ऑन द माडर्न इंडो आर्यन वर्नाक्यूलर्स' (इंडियन एंटीक्वेरी, जिल्द ६०) में उन्होंने अपभ्रंश के अन्तर्गत बोलचाल की प्राकृतों को लेने से इनकार करते हुए अपभ्रंश को साहित्यिक प्राकृतों के बाद की देशभाषा माना है।

चैटर्जी आदि अन्य अन्य परवर्ती भाषाविदों ने पिशेल तथा ग्रियर्सन का

१ शिष्टप्रयोगात्। (पुरुषोत्तम १७-६१)

अनुमान करते हुए अपभ्रंश को देशभाषा स्वीकार कर लिया है।

परंतु याकोबी ने 'भविसत्त कहा' की भूमिका[1] लिखते हुए १९१८ में ही पिशल के मत का दृढ़ता से विरोध किया था। याकोबी के अनुसार प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश में देशी शब्द तथा धातु निस्सन्देह बहुत अधिक हैं किन्तु उन देशी शब्दों और धातुओं का एकमात्र स्रोत देशभाषाओं को मानना ठीक न होगा क्योंकि अपभ्रंश में प्राप्त होने वाले ये देशी शब्द आधुनिक भाषाओं में बहुत कम मिलते हैं। यदि अपभ्रंश के देशी शब्द देशभाषाओं से आए होते तो उन शब्दों को देशभाषाओं से विकसित होने वाली आधुनिक भाषाओं में भी मिलना चाहिए था। चूँकि ऐसा नहीं हुआ इसलिए अपभ्रंश को देशभाषा मानना कठिन है।

याकोबी ने 'भविसत्त कहा' के शब्दों की सम्यक् परीक्षा करके दिखलाया है कि इस ग्रंथ के लगभग चार हजार शब्दों में देशी शब्द मुश्किल से पाँच प्रतिशत हैं, इसलिए अपभ्रंश को देशभाषा-जैसा मानना असंगत होगा।

याकोबी ने वाग्भट के उस कथन की भी अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है जिसको पिशल ने अपभ्रंश को देशभाषा प्रमाणित करने के लिए उद्धृत किया था। वाग्भट ने कहा था कि 'अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।' इसका अर्थ पिशल ने यह लिया था कि अपभ्रंश भिन्न देशों अथवा प्रदेशों की शुद्ध की हुई भाषा है। याकोबी की राय में वाग्भट के कथन का तात्पर्य यह है कि अपभ्रंश वह है जो एक एक देश में *शुद्ध रूप से बोली जाती है अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का मिश्रण* नहीं होता। याकोबी के अनुसार इस कथन में अपभ्रंश तथा देशभाषा को एक नहीं माना गया है। इससे ऐसा आभास होता है कि स्थानीय अथवा लोक-प्रचलित बोली तो शुद्ध है किन्तु अपभ्रंश शुद्ध नहीं है क्योंकि वह प्राकृत से प्रभावित है। इस प्रकार याकोबी अपभ्रंश में कुछ देशी तत्वों का मिश्रण तो स्वीकार करते हैं किन्तु अपभ्रंश को पूर्णतः देशभाषा नहीं मानते।

ज्यूल ब्लाख ने 'लॉ लांग मराठी' तथा 'ल इंदोआर्यां' दो ग्रंथों में प्रसंगात् अपभ्रंश की चर्चा की है। मराठी भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने अपभ्रंश को अन्तर्प्रान्तीय विचार विनिमय की भाषा कहा है। ब्लाख के विचार से अपभ्रंश का संबंध किसी विशेष क्षेत्र से नहीं था। उनके अनुसार अपभ्रंश के जो रूप आधुनिक भाषाओं अथवा देशभाषाओं से समानरूपता प्रकट करते हैं उसका कारण आधुनिक भाषाओं की लेखनशैली में उनका लिखा जाना है, न कि प्राकृत के

१ डा० एस० एन० घोषाल कृत अंग्रेजी अनुवाद जर्नल आफ दि ओरिएंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा १९५४, ५५, ५६ ई०।

रूपों में होने वाले ध्वनिविकार जो कि भाषा की विकास प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं। वैसे एक स्थान पर ब्लाख यह स्वीकार करते हैं कि अपन आरंभिक रूप में व एक क्षेत्र की वास्तविक देशभाषा से ही उत्पन्न हुई थीं किन्तु शीघ्र ही प्राकृत से अत्यधिक प्रभावित हो गईं और कालक्रम से उसका एक परिनिष्ठित रूप स्थिर हो गया।

अल्सडार्फ अपभ्रंश को इसलिए देशभाषा मानने से इनकार करते हैं कि अभी तक अपभ्रंश का कोई गद्य-ग्रंथ नहीं मिला है। यद्यपि वे अपभ्रंश की मुख्य भाषा प्रकृति को देशभाषा से ही उत्पन्न मानते हैं किन्तु उस पर प्राकृत का गहरा रंग देखकर अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा मानना ही संगत समझते हैं।

कीथ ने 'हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर' (पृ० ३२) में अपभ्रंश पर विचार करते हुए साफ़ शब्दों में अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इनकार किया है और साथ ही दृढ़ता से यह स्थापना भी की है कि अपभ्रंश आधुनिक भाषाओं के विकास का आवश्यक सोपान नहीं था। अपने मत की पुष्टि में कीथ ने हेमचन्द्र का प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है जो, कीथ के अनुसार, अपभ्रंश को देशभाषा-संज्ञा नहीं मानते। कीथ के विचार से अपभ्रंश प्राकृत को सरल करने का एक प्रयास है जिसमें प्रधान रूप से प्राकृत शब्द तथा बहुत कुछ प्राकृत व्याकरण के रूप मौजूद थे। अपभ्रंश और पुरानी गुजराती के कुछ रूपों में समानता देखते हुए भी कीथ ने चेतावनी दी है कि इससे प्रेरित होकर अपभ्रंश को गुजराती का स्रोत मानना भ्रम होगा क्योंकि जो समान तत्व दिखाई पड़ते हैं वे वस्तुतः उस पुरानी देशभाषा के हैं जो प्राकृत और अपभ्रंश से भी पुरानी है और कालक्रम से प्राकृत तथा अपभ्रंश में आ मिले। इसलिए ब्लाख ने भी मराठी का उद्भव दिखलाते हुए अपभ्रंश का उपयोग नहीं किया है।

कीथ के इन विचारों का खंडन काशी हिंदू विश्वविद्यालय के पंडित केशव प्रसाद मिश्र ने 'इंडियन एंटिक्वेरी (१९३१) में प्रकाशित करवाया था। उन्होंने हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण के कुछ अपभ्रंश दोहों को आधुनिक देशभाषा के अनुसार यत्किंचित् रूपान्तर करके प्रमाणित कर दिया था कि अपभ्रंश आज की एक जीवित बोलचाल की भाषा के कितना निकट है।[१]

वस्तुतः यह सारा विवाद इसलिए है कि अपभ्रंश संबंधी प्रस्तुत ज्ञान जिन सामग्रियों पर आधारित है उनमें से कुछ तो आलंकारिकों एवं वैयाकरणों के स्फुट विचार हैं और शेष काव्य-साहित्य और यह साहित्य भी अधिकांशतः एक विशेष

---

१ प्रस्तुत समस्या पर विभिन्न विद्वानों के मतों की विस्तृत जानकारी के लिए देखिए डा० एस० एन० घोषाल का निबंध कन्ट्रोवर्सी ओवर द लिमिटिंग्स आफ़ अपभ्रंश (जर्नल आफ़ एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता जिल्द २२ खंड २ १९५६ई०)

सम्प्रदाय-परंपरा से प्राप्त है। जब तक उस समय की बोलचाल की भाषा का पता देने वाली कोई अन्य प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती तब तक हमें अपभ्रंश के प्राप्त साहित्य के परीक्षण से ही देशभाषा का निश्चय करना होगा। और जो विद्वान अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इनकार करते हैं उनके कथन से भी इतना तो निश्चित है ही कि अपभ्रंश में देशभाषा के पर्याप्त तत्त्व प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि देशी भाषा अपभ्रंश एकदम नये सिरे से उत्पन्न नहीं हुई थी बल्कि उसकी पूर्ववर्ती साहित्यिक प्राकृत ही देशी भाषाओं के योग से अपभ्रंश की अवस्था में विकसित हो गई। नमिसाधु ने इसी बात को अपने ढंग से इस प्रकार लिखा है कि प्राकृत ही अपभ्रंश है।[1] परन्तु विद्वानों ने इस कथन को बहुत दूर तक खींचकर प्राकृत और अपभ्रंश की अभेदता स्थापित करने की चेष्टा की है। सही बात का पता लगाने के लिए नमिसाधु के कथन का पूरा प्रसंग समझना आवश्यक है।

प्राकृतमेवापभ्रंशः

नमिसाधु का उक्त कथन रुद्रट की जिस कारिका से संबद्ध है, वह इस प्रकार है—

प्राकृत संस्कृत-मागध पिशाचभाषाश्च सूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥

इस पर टीका करते हुए नमिसाधु ने सबसे पहले प्राकृत को संस्कृत से भी पूर्व तथा सर्वप्रथम स्थान दिए जाने का कारण बतलाया है और इसके साथ ही प्राकृत की परिभाषा भी दी है। पश्चात् संस्कृत की परिभाषा दी है। इसके बाद क्रमशः मागधी, पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश का लक्षण कहा गया है।

उदाहरण-स्वरूप मागधी की विशेषता बतलाते हुए नमिसाधु ने लिखा है कि 'प्राकृतभाषैव किंचिद्विशेषलक्षणा मागधिका भण्यते।' अर्थात् प्राकृत भाषा ही कुछ विशेष लक्षणों के साथ मागधिका कही जाती है। इसके बाद नमिसाधु ने मागधी के उन विशेष लक्षणों को सोदाहरण निर्दिष्ट कर दिया है। इसी तरह उन्होंने पैशाची, सूरसेनी आदि को भी किंचित् विशेषता के साथ प्राकृत कहा है।

जब भाषा क्रम में अपभ्रंश का नाम आया तो उसी तरह अपभ्रंश को भी उन्होंने प्राकृत बतलाया। अपभ्रंश का लक्षण बतलाते समय नमिसाधु ने इतनी विशेषता दिखलाई कि उसके मान भेदों का भी उल्लेख किया और उसके लक्षण के लिए विशेष रूप से लोक को ही मुख्य स्रोत माना। इतना ही नहीं, उन्होंने इनके लक्षणों का उल्लेख भी विस्तार से किया।

[1] रुद्रटकृत काव्यालङ्कार २.१२ की टीका।

उपर्युक्त प्रसंग में 'प्राकृतमेवापभ्रंशः' कथन को देखने से स्पष्ट हो जाता कि —

१ प्राकृत से नमिसाधु का अभिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत है।

२ अन्य प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश की भी प्रकृति महाराष्ट्री प्राकृत ही है।

३ किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत पर आधारित होते हुए भी अपभ्रंश मागधी आदि अन्य प्राकृतों से विशिष्ट है।

अपभ्रंश की प्रकृति के विषय में नमिसाधु के ये विचार बहुत कुछ दूसरे वैयाकरणों द्वारा भी समर्थित हैं। अपभ्रंश के सबसे बड़े वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी लिखा है अपभ्रंश में विशेष प्रयोग दिखाई पड़ते हैं

अपभ्रंश की प्रकृति

यहाँ कहीं महाराष्ट्री प्राकृत और कहीं शौरसेनी प्राकृत की भाँति कार्य होता है।[1] सत्रहवीं शती के प्राकृत-वैयाकरण मार्कण्डेय ने भी इसी कथन का समर्थन किया है। मार्कण्डेय के अनुसार नागर अपभ्रंश महाराष्ट्री और शौरसेनी पर प्रतिष्ठित है।[2] इसका यही मतलब है कि कतिपय विशेष व्याकरणिक नियमों के अतिरिक्त अपभ्रंश प्रायः महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण की परंपरा का पालन करता है। अपनी पूर्ववर्ती भाषा से प्रत्येक भाषा का प्रायः यही सम्बन्ध होता है कुछ दूर तक तो वह पूर्ववर्ती भाषा पर ही आधारित होती है परन्तु भाषा विकास के अपने नियमों के अनुसार वह पूर्ववर्ती भाषा का विकसित अथवा परिष्कृत और परिवर्द्धित रूप भी होती है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा अपनी प्रकृति से कुछ विशिष्ट और विभिन्न हो जाती है। प्रकृति संस्कृति से विकृति प्राकृत का यही सम्बन्ध है और प्राकृत अपभ्रंश का भी।

बात बड़ी सीधी है, फिर भी विद्वानों ने इस पर बड़ा विवाद किया है। प्राचीन काल के प्राकृत और अपभ्रंश के पक्षधर आचार्यों ने भी बड़े ही सहज ढंग से संस्कृत को प्रकृति मानकर प्राकृत-व्याकरण का आरंभ किया

'प्रकृतिः संस्कृतम्'

है। लेकिन आधुनिक युग के प्राकृत प्रेमी विद्वानों ने इस सामान्य कथन के सामने भी प्रश्न चिन्ह लगा दिया। 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' की संस्कृत भूमिका में श्री लालचन्द्र गांधी ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है।[3]

---

१ यस्तु अपभ्रंशे विशेषो भवति तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति। (सिद्धहेमशब्दानुशासन ८ ४ ३२६ की व्याख्या)

२ नागर तु महाराष्ट्री शौरसेन्यो प्रतिष्ठितम्। (प्राकृतसर्वस्वम्, सप्तदश पाद)

३ अपभ्रंशकाव्यत्रयी भूमिका पृ० ८१-८४

वस्तुतः 'प्रकृतिः संस्कृतम्' वाले कथन में आधुनिक भाषा वैज्ञानिक दृष्टिवाले विद्वानों के लिए खटकने वाली वस्तु यह है कि यहाँ प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न कहा गया है।[१] जो विद्वान् प्राकृत को लोक भाषा तथा संस्कृत को उस लोक भाषा का सुधारा-सँवारा हुआ परिष्कृत अथच कृत्रिम रूप मानते हैं, उनके लिए प्राकृत ही योनि है न कि संस्कृत।

यदि नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत को लें, तो साफ मालूम हो जाता है कि यह संस्कृत वाक्यों का ही यत्किंचित् ध्वनि-परिवर्तन किया हुआ रूप है। नाटकों के प्राकृत गद्य-पद्य को संस्कृत छाया के साथ मिलाकर देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सम्भव है संस्कृत को प्रकृति कहते समय वैयाकरणों के मस्तिष्क में यह तथ्य भी रहा हो। लेकिन इसके अतिरिक्त ऐसा भी मालूम होता है कि संस्कृत में प्रकृति प्रत्ययादि नियमों के स्पष्ट विधान के कारण भी वैयाकरणों ने प्राकृतों के विवेचन में संस्कृत को आधार बनाया हो।

प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इस विषय में एक और युक्ति उपस्थित की है। उनके विचार से प्रकृति का अर्थ है साधारण, नियम, मॉडल उत्सर्ग आदि, और इससे जो विशेष, अलौकिक, भिन्न, अन्तरित और अपवाद है वह 'विकृति' की संज्ञा पाता है।[२] गुलेरी जी ने 'मीमांसा' से इन शब्दों का ऐसा अर्थ उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्धहेम शब्दानुशासन' में प्राकृतों का अध्याय समाप्त करते हुए जो 'शेषं संस्कृतवत्सिद्धम्' लिखा है,[३] उससे भी गुलेरी जी की उक्त युक्ति का समर्थन होता है। स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने प्राकृतों के विशेष लक्षणों का निर्देश करने के बाद अंत में यह लिखना आवश्यक समझा कि प्राकृतों के जो अन्य सामान्य लक्षण हैं वे संस्कृत के ही अनुसार समझे जायँ।

वस्तुतः संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति मानने में आपत्ति उठाने का मुख्य कारण है संस्कृत और प्राकृत का पूर्वग्रह-ग्रस्त अर्थ। कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली है कि प्राकृत का अर्थ है जन साधारण की प्राकृतिक भाषा और संस्कृत का अर्थ है उस जन-बोली का संस्कार किया हुआ रूप। इस तरह की धारणा फैलाने में प्राचीन आचार्यों का भी बहुत कुछ हाथ है।

नमिसाधु ने सम्पूर्ण संसार के जन्तुओं की व्याकरण आदि के संस्कार से

१ प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।
(सिद्धहेम० ८।१।१ व्याख्या)

२ पुरानी हिंदी प्रथम संस्करण पृ० ७७।

३ सिद्धहेम० ८।४।४४८।

रहित सहज वचन व्यापार से उत्पन्न भाषा को प्राकृत कहा है। इसके विपरीत संस्कृत का उन्होंने पाणिनि आदि वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट शब्द लक्षण से संस्करण की हुई भाषा को संस्कृत संज्ञा दी है।[१]

परन्तु संस्कृत और प्राकृत का जो साहित्य प्राप्त है उससे वस्तु स्थिति कुछ और ही मालूम होती है। नमिसाधु ने व्याकरण आदि के संस्कार से रहित जिस सहज वचन व्यापार को आदर्श प्राकृत का उल्लेख किया है उसमें रचे हुए साहित्य की जानकारी हमें नहीं है। साहित्य में प्रयुक्त होते ही वह 'सहज व्यापार' कुछ न कुछ संस्कृत तो हो ही उठता है। इसलिए नाटकों और काव्यों की प्राकृत उस सहज वचन व्यापार का कोई-न-कोई परिष्कृत रूप ही है और वैयाकरणों ने प्रकृति प्रत्यय आदि से उस का भी संस्कार किया है। यदि संस्कृत को पाणिनि कात्यायन, पतञ्जलि आदि मिले तो प्राकृत को भी वररुचि और हेमचन्द्र जैसे वैयाकरण प्राप्त हुए। संस्कृत भी किसी-न-किसी सहज वचन व्यापार का ही परिष्कृत रूप है। भाषा का संस्कार करके उसे समय और व्यवस्थित रूप देना बुरा बात नहीं है। यह तो मानव मनीषा का महत्वपूर्ण कार्य है। लेकिन आजकल सहजता, स्वच्छंदता आदि की ऐसी हवा बही है कि भाषा के क्षेत्र में व्याकरण की व्यवस्था को अधिक अच्छा नहीं समझा जाता। संस्कृत के विरुद्ध प्राकृत की काल्पनिक सहजता के गौरव-भाव का भी यही कारण है।

इसलिए भारतीय आर्यभाषा के क्रम विकास को ध्यान में रखते हुए संस्कृत को, प्राकृत से पूर्ववर्ती भाषा होने के कारण, साहित्यिक प्राकृत की प्रकृति मानने में वैज्ञानिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं है।

इस प्रकार जिस अर्थ में प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है उसी अर्थ में अपभ्रंश की प्रकृति प्राकृत है—प्राकृत अर्थात् शौरसेनी आदि भेदों से युक्त मुख्यत महाराष्ट्री प्राकृत।

अपभ्रंश की विशिष्टता

परन्तु अपभ्रंश को प्राकृत भाषाओं में से एक मानते हुए भी इसका विशेष सत्ता के प्रति प्राचीन वैयाकरण सजग थे। जहाँ कहीं प्राकृत के भेदों के नाम गिनाये गये हैं, शौरसेनी मागधी पैशाची चूलिका-पैशाची तथा कभी-कभी आवन्ती और अर्धमागधी का भी नाम लिया गया है परन्तु उन स्थलों पर अपभ्रंश का नाम किसी ने नहीं लिया है। प्रायः वैयाकरणों ने अपभ्रंश को इन सबसे स्वतंत्र भाषा मान

१ सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।... पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात्संस्कृतमुच्यते। (रुद्रट काव्यालङ्कार २.१२ की टीका)

कर उसके भेदों की चर्चा अलग से की है। प्रमुख भाषाओं में संस्कृत, (महाराष्ट्री) प्राकृत और अपभ्रंश केवल तीन का नाम लेना ध्यान देने योग्य तथ्य है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आधुनिक भाषाओं के आरंभ से पूर्व भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास में यही तीन महत्वपूर्ण मंज़िलें हैं।

किन्तु कुछ विद्वानों को भारतीय आर्यभाषा के विकास में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश वगैरह इतनी मंजिलें गिनाना असंगत प्रतीत होता है। उनका कहना है कि जितनी मंज़िलें हमारे सामाजिक विकास ने भी तय नहीं की थीं, उससे अधिक मंज़िलें भाषा के इतिहास में दिखलाना अवैज्ञानिक है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन की तुलना में भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन बहुत मन्द होता है। उनके अनुसार हिन्दी भाषा के जन्मकाल को इतनी मंज़िलों के बाद रखने का एक कारण सामन्ती और साम्राज्यवादी भाषाशास्त्रियों में आम जनता के प्रति घृणा भाव भी था।[१]

प्राकृत और अपभ्रंश को लोकभाषा मान कर अध्ययन करने वालों के मन में आम जनता के प्रति घृणा भाव था या प्रेम भाव, इसका निर्णय तो सामान्य जन ही करेंगे लेकिन इन तमाम मंज़िलों को तोड़कर संपूर्ण भारतीय आर्यभाषा को हिंदी घोषित कर देने से आम जनता के प्रति प्रेम किस प्रकार प्रकट हो जाता है यह समझ में नहीं आता।

यदि भाषा परम्परा की एकता और प्राचीनता पर जोर देना ही जनता के प्रति प्रेम प्रकट करने का प्रमाण है तो यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक मंज़िलें गिनाई हैं उन्होंने भी इनमें एकसूत्रता की तरह एक भाषा-परम्परा—'भारतीय आर्यभाषा' को स्वीकार किया है। 'भारतीय आर्यभाषा' के सिद्धान्त से जनता की भाषा-परम्परा की एकता और प्राचीनता दोनों की पुष्टि होती है। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि विकास-क्रम की अनेक मंज़िलें गिनाने से भाषा-परम्परा की एकता को धक्का नहीं लगता।

लेकिन असल सवाल तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि मंज़िलों की वैज्ञानिकता का है। क्या यह संभव नहीं है कि समाज-व्यवस्था के अपरिवर्तित रहते हुए उसकी भाषा में परिवर्तन होता चले?

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक युग (१९वीं शती ईस्वी) से पूर्व भारतीय समाज का मूल ढाँचा बहुत कुछ स्थिर सा रहा। इस ढाँचे की नींव ग्राम संगठन है जिसके ढाँचे में पिछले दो हजार वर्षों तक किसी प्रकार के मौलिक परिवर्तन का

१ हमारी जातीय भाषा के विकास की समस्या—डा० रामविलास शर्मा (लेख संग्रह, स० १ मार्च १९५३) जन प्रकाशन गृह बम्बई।

पता नहीं चलता। फिर भी हम देखते हैं कि उत्तर भारत की सोलहवीं शती की भाषा में पहली शती की भाषा से मौलिक अंतर है। तुलसीदास की भाषा वाल्मीकि की भाषा से बहुत भिन्न है शब्दकोश में थोड़ा-बहुत साम्य भले ही मिल जाय लेकिन दोनों के वाक्यगठन में महान अन्तर है, दोनों के व्याकरण दो हैं। एक हिंदी है और दूसरा संस्कृत। इस अन्तर को न देखना अथवा देखने से इनकार करना भाषा-सम्बंधी विवेक को पाठ देना है।

इससे सिद्ध होता है कि भाषा के विकास के अपने नियम होते हैं। समाज के स्थिर होते हुए भी भाषा बदल सकती है और समाज के जल्द-जल्द बदलते रहने पर भी भाषा अपेक्षाकृत स्थिर रह सकती है। सामाजिक परिवर्तन धीरे धीरे भाषा को प्रभावित करते चलते हैं लेकिन सामाजिक क्रान्ति भाषा में सहसा क्रान्ति नहीं ला सकती। परम्परा निर्वाह सम्भवतः भाषा में सबसे अधिक दिखाई पड़ता है।

इसलिए प्राकृत भाषाओं में अपभ्रंश की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करना अवैज्ञानिक नहीं है।

वस्तुतः अपभ्रंश भारतीय आर्यभाषा में महत्वपूर्ण तथा कुछ मौलिक परिवर्तन की सूचना देती है। विद्वानों ने इस तथ्य को लक्षित किया है। संस्कृत के बाद प्राकृत में वैसा परिवर्तन नहीं हुआ जैसा अपभ्रंश में दिखाई पड़ा। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि सुबन्त, तिङन्त या शब्द-रूप और धातु रूप की शैली में दोनों (पालि और प्राकृत) ही ने संस्कृत का अनुसरण नहीं छोड़ा। ..... और अपभ्रंश ? यहाँ आकर भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया, बने नये सुबन्तों, तिङन्तों की सृष्टि की।[1] राहुल जी आगे लिखते हैं कि वस्तुतः संस्कृत से पालि और प्राकृत तक भाषा विकास क्रमिक या अविच्छिन्न प्रवाह-युक्त हुआ, मगर आगे वह क्रमिक विकास नहीं, बल्कि विच्छिन्न प्रवाहयुक्त विकास—जाति परिवर्तन हो गया।[1]

वास्तविकता यह है कि किसी भाषा के विकास-सूचक सभी परिवर्तनों का क्रम लिखित रूप में नहीं मिलता, क्योंकि भाषा का निर्माण समाज के दैनंदिन जीवन में होता रहता है और साहित्य में तो उन छोटे-छोटे परिवर्तनों का संचित रूप ही सामने आ पाता है। इसलिए साहित्य में प्रयुक्त भाषाओं के बीच शताब्दियों में कुछ-कुछ अन्तराल मिलते हैं। इन अन्तरालों के कारण क्रमा-क्रमी भाषा में जाति-परिवर्तन अथवा गुणात्मक परिवर्तन का भान होने लगता है। राहुल जी

१ हिन्दी काव्यधारा अवतरणिका पृ० ६।

ने अपभ्रंश में भाषा का जो जाति-परिवर्तन लक्षित किया है, वह सम्भवतः इसी कारण।

विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि अपभ्रंश तक आते आते भाषा में जिस जाति परिवर्तन का आभास होता है उसका आरम्भ प्राकृत में ही हो चुका था और शताब्दियों के परिवर्तनों का संचित रूप अपभ्रंश में सहसा पहली बार दृष्टिगोचर हो उठा।

फिर भी इतना अवश्य है कि अपभ्रंश ने संस्कृत-व्याकरण के विस्तार को अत्यंत संक्षिप्त करके भाषा के ढाँचे को बहुत सरल बना दिया। अपभ्रंश तक आते आते संस्कृत और प्राकृत की तरह शब्द-रूप और धातु-रूप का रटना सा जाता रहा। विभक्ति चिह्नों की संख्या बहुत घट गई, विभक्तियों के विकारी रूप कारक निर्माण में असमर्थ समझे जाने लगे कारकों के लिए परसर्ग प्रयोग की बहुलता आई। क्रियापदों में तिङन्त रूपों की जगह कृदन्त रूपों का प्रयोग बढ़ गया। वाक्य विन्यास में शब्दों का स्थान और क्रम भी महत्वपूर्ण हो उठा।

इसी तरह की और भी अनेक बातें हुईं जिनसे अपभ्रंश को भारतीय आर्यभाषा के विकास में विशेष स्थान प्राप्त हुआ।

उकार बहुला भाषा

अपभ्रंश की इन्हीं विशेषताओं में से उकारान्त प्रवृत्ति की बहुलता भी एक है। भरत मुनि ने सबसे पहले एक उकार-बहुला भाषा की सूचना दी। उनके अनुसार हिमवत् सिंधु और सौवीर में उकार बहुला भाषा का प्रयोग होता था।[१] विद्वानों ने इस भाषा के विषय में अनुमान किया है कि यह आभीरोक्ति अथवा अपभ्रंश भाषा रही होगी।

लेकिन डा० परशुराम ल० वैद्य ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि अपभ्रंश के अतिरिक्त 'प्राकृत धम्मपद' 'ललित विस्तर' और 'सद्धर्म पुण्डरीक' जैसे बौद्ध ग्रन्थों में भी उकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति की बहुलता इन ग्रन्थों में भले ही न हो परन्तु डा० वैद्य के अनुसार यह अपभ्रंश की एकदम अपनी विशेषता नहीं है।

धम्मपद के प्राकृत रूपान्तर में से, जिसका रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी पूर्व अथवा अधिक से अधिक पहली शताब्दी बतलाया जाता है, कहीं से छंद लेकर इस उकारान्त प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। यहाँ नमूने के लिए प्रथम दो श्लोक दिए जा रहे हैं।

---

१ हिमवत्सिंधुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिता।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥
(नाट्यशास्त्रम्)

उजवो नाम सो मगु भ्रमय नमु स विश ।
रघो अकुमनो नमु घमवर्हि सहनो ॥
हिरि तसु अवरमु स्मति स परिवर न ।
धमहु सरघि मोमि समेविडिपुरेनवु ॥[1]

उपर्युक्त श्लोकों में 'मगु' औ 'नमु' क्रमश: पालि शब्द 'मग्गो' और 'नाम' के रूपान्तर हैं तथा 'अवरमु', 'धमहु' और 'पुरेनवु' क्रमश: 'अपानग्यो', 'धम्मह' और 'पुरेनव' के ।

प्राकृत धम्मपद का दूसरी शती ईस्वी में लिखित प्रति पश्यावर के आवनाथ स्थान के निकट गोशृंग अथवा गोशीर्ष विहार में प्राप्त हुई थी। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस रूपान्तर की भाषा पर उस प्रदेश की बोली का प्रभाव निश्चित रूप से होगा और यह उकारान्त की प्रवृत्ति उन्हीं प्रभावों में से एक है। इस अनुमान का समर्थन भरत के नाट्यशास्त्र से भी हो जाता है क्योंकि उन्होंने हिमवत्, सिंधु, सौवीर की ही भाषा को उकार-बहुला कहा है जो प्रदेश प्राय प्राकृत धम्मपद के रचना स्थान से बहुत-कुछ मिलते जुलते हैं।

इसी प्रकार ललित-विस्तर की संस्कृत में भी स्थान-स्थान पर इस उकारान्त प्रवृत्ति की झलक मिल जाती है। यहाँ ललित विस्तर के सचोदनापरिवर्त से तीन छंद उद्धृत किए जा रहे हैं—

पुरि तुम नरवर सुनु नृपु यम्भू
　　　　मत तव अभिमुख इम गिरमवची ।
दद मम इम महि सनगरनिगमां
　　　　स्पविश तव प्रमुदितु न च मनु क्षुभितो ॥
पुरि तुम नरपति त्यक्तु द्विज यदभू
　　　　गुरुजनि परिचरि न च इहि परता ।
स्यपयितु द्विजवर बहुजन कुगते
　　　　च्युतु ततु भगवतु मरुपुरविलय ॥
पुरि तुम नरवर त्यजिसुनु यदभू
　　　　मणि तव प्रपनितु अलयरि विपुले ।
क्ष्ययपितु स्थपयितु तव महुजर्वाय
　　　　समितव धनमति इदबल वृषभी ॥[2]

---

१ प्राकृत धम्मपद—सम्पादक बरुआ और मित्रा
　　(कलकत्ता विश्वविद्यालय १९२१ ई०)
२ ललित-विस्तर प० १६४ १६६ (सम्पादक डा० एस लेफ्मान हाल १९०२ ई०)

ललित-विस्तर में कहीं कहीं क्षेपक भी अवश्य हुआ है और सचोदना परिवर्त में ता क्षेपक का संभावना सबसे अधिक है फिर भी विद्वानों का अनुमान है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से पहले ही ललित विस्तर का अंतिम रूप स्थिर हो चुका होगा। तात्पर्य यह कि इन उदाहरणों से उस समय तक उकार-बहुला भाषा का व्यापक प्रभाव प्रकट होता है। चूँकि अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बहुत मिलती है, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि उक्त प्रवृत्ति का दाय भाग मुख्यत अपभ्रंश को ही प्राप्त हुआ होगा।

अपभ्रंश की ये तथा इनके अतिरिक्त दूसरी विशेषताएँ धीरे धीरे ऐतिहासिक विकास के परिणाम-स्वरूप आती गई। अपभ्रंश भाषा किस प्रकार एक छोटे से क्षेत्र की छोटी सी जाति की बोली से विकसित होती हुई समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई—इसका इतिहास बड़ा मनोरंजक है।

अपभ्रंश का जो साहित्य इस समय प्राप्त है उससे भाषा की आरंभिक अवस्था का पता लगाना बड़ा मुश्किल है क्योंकि ये सभी रचनायें बड़ी ही प्रौढ़ भाषा में लिखी हुई हैं। इसलिए अपभ्रंश की आरंभिक अवस्था का पता लगाने के लिए संस्कृत अथवा प्राकृत ग्रन्थों में प्राप्त उन उदाहरणों की छान-बीन करनी होती जिनकी भाषा में अपभ्रंश के बीज दिखाई पड़ते हैं। नाट्यशास्त्र के ३२ वें अध्याय में छन्दों के उदाहरण देते हुए भरत मुनि ने कुछ ऐसी कवितायें उद्धृत की हैं जिनमें अपभ्रंश की कतिपय विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।[१]

अपभ्रंश भाषा की आरम्भिक अवस्था

१ मोरल्लउ नच्चन्तउ। महागमे संभन्तउ॥

२ मेहउ हर्तुं तोई जोएहउ। लिच्च णिप्पहे एहु चंदहु॥

३ एसा हसयहुहि इच्छाकामलउ।
गंतुं णु उसुइया कस संगइया॥

४ पिय वाइ वायतुं उसुदसत कासउ।
पियकामुको पिय मरण अर्णतउ॥

५ यामदि वाडो एहु पवाहि दसिर इव॥

उपर्युक्त छन्दों में उकार' प्रवृत्ति तो स्पष्ट है ही, मेह, जोएह आदि संज्ञा शब्द तथा एहु, एह जैसे सर्वनाम रूप और मोरल्लउ में उल्ल स्वार्थिक प्रत्यय आदि विशेषताएँ एसी हैं जो अपभ्रंश की आरंभिक अवस्था की सूचना देती हैं। किन्तु इनका पाठ ठीक नहीं है, इसलिए निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है

१ भविसयत्त कहा की भूमिका पृ ५१ पर का गुणे द्वारा उद्धृत।

फिर भी यदि यह अंश परवर्ती नहीं है तो इन छन्दों को अपभ्रंश के बीज रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

आरंभिक अपभ्रंश का दूसरा नमूना कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है। उन छन्दों की प्रमाणिकता को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। अधिकांश पंडितों का कहना है कि वे अपभ्रंश छन्द कालिदास-रचित नहीं हैं। जो हो, कालिदास के नाटक में उन ललित छन्दों का स्थान पाना कम महत्वपूर्ण बात नहीं है, और दीर्घ परंपरा से उन्हें विक्रमोर्वशीय का एक अंग समझा जा रहा है। ईसा की पांचवीं शताब्दी में वैसी भाषा में काव्य का पाया जाना कोई असंभव बात नहीं है। संभव है यह कोई लोकगीत रहा हो जिसके माधुर्य से प्रभावित होकर कवि ने अपने नाटक में उसका उपयोग कर लिया हो। विक्रमोर्वशीय के वे छंद इस प्रकार हैं—

मइँ जाणिअ मिअ-लोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ ।
जाव ण णव-तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ ॥१

गन्धुम्माइअ महुअर गीएहिँ ।
वज्जन्तेहिँ परहुअ रव-तूरेहिँ ॥
पसरिअ पवणुव्वेल्लिर पल्लव णिअरु ।
सुललिअ,विविह-पआरे णच्चइ कप्प अरु ॥२

बर्हिण पइ इअ अब्भत्थमि आअक्खहि म ता ।
एत्थु रण्णे भमन्ते जइ पइँ दिट्ठी सा महु कंता ॥
णिसम्महि मिअंक सरिसें वअणें हंस-गइ ।
ए चिण्हेँ जाणिहसि आअक्खिउ तुज्झ मइ ॥ ३

परहुअ महुर-पलाविणि कन्ति ।
णन्दण-वण सच्छन्द भमन्ति ॥
जइ पइँ पिअअम सा महु दिट्ठी ।
ता आअक्खहि महु पर पुट्ठि ॥ ४

रे रे हंसा किं गोविज्जइ ।
गइ अणुसारें मइ लक्खिज्जइ ॥
कइ पइ सिक्खिउ ए गइ-लालस ।
सा पइँ दिट्ठी जहण भरालस ॥ ५

हउ पइँ पुच्छिमि आअक्खहि गअ-वरु ।
ललिअ-पहारें णासिअ-तरु-वरु ॥

ललित विग्रह में कहीं कहीं प्राकृत भी अपभ्रंश हुआ है और गवाइना परिवर्त में तो प्राकृत का अपभ्रंशपन सबसे अधिक है फिर भी विद्वानों का अनुमान है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से पहले ही ललित विग्रह का वर्तमान रूप स्थिर हो चुका होगा। तात्पर्य यह कि इन उदाहरणों से उस समय तक उकार-बहुला भाषा का व्यापक प्रभाव प्रकट होता है। चूँकि अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बहुत मिलती है, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रवृत्ति का प्रचार भाग मुख्यतः अपभ्रंश का ही प्रभाव हुआ होगा।

अपभ्रंश की ये तथा इनके अतिरिक्त दूसरी विशेषताएँ धीरे धीरे ऐतिहासिक विकास के परिणाम-स्वरूप आती गईं। अपभ्रंश भाषा किस प्रकार एक छोटे से घर की छोटी सी जाति की बोली से विकसित होती हुई समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई—इसका इतिहास बड़ा मनोरंजक है।

अपभ्रंश का जो साहित्य इस समय प्राप्त है उससे भाषा की प्रारंभिक अवस्था का पता लगाना बड़ा मुश्किल है क्योंकि वे सब रचनायें बहुत ही प्रौढ़ भाषा में लिखी हुई हैं। इसलिए अपभ्रंश की प्रारम्भिक अवस्था का पता लगाने के लिए संस्कृत अथवा प्राकृत ग्रन्थों में प्राप्त उन उद्धरणों की छान-बीन करनी होगी जिनकी भाषा में अपभ्रंश के रूप दिखाई पड़ते हैं। नाट्यशास्त्र के ३२ वें अध्याय में छन्दों के उदाहरण देते हुए भरत मुनि ने कुछ ऐसी कवितायें उद्धृत की हैं जिनमें अपभ्रंश की कतिपय विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।[1]

अपभ्रंश भाषा की प्रारम्भिक अवस्था

१ मोरुल्लउ नच्चन्तउ। महागमे संभन्तउ॥

२ मेहउ हउँ सोहै ओरन्तउ। लिम्पइ लिम्पहे एहु चंदहु॥

३ एसा हंसवहूहि इच्छाचालएउ।

गंतुं ण उस्सुइया कंत सगइया॥

४ पिय पाइ पायसु उस्ससत वासउ।

पिययमुखो प्प्य बरए जणेतउ॥

५ धावदि धारा एह पवाहि दलिद इव॥

उपर्युक्त छन्दों में उकार प्रवृत्ति तो स्पष्ट है ही, मह, जोएह आदि संज्ञा शब्द तथा एहु, एह जैसे सर्वनाम रूप और मोरुल्लउ में उल्ल स्वार्थिक प्रत्यय आदि विशेषताएँ ऐसी हैं जो अपभ्रंश की प्रारंभिक अवस्था की सूचना देती हैं। किंतु इनका पाठ ठीक नहीं है, इसलिए निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है

१ भविसयत्त कहा की भूमिका पृ० ५१ पर डा० गुणे द्वारा उद्धृत।

फिर मा यदि यह अंश परवर्ती नहीं है तो इन छन्दों को अपभ्रंश के बीज रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

आरंभिक अपभ्रंश का दूसरा नमूना कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है। उन छन्दों की प्रमाणिकता को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। अधिकांश पंडितों का कहना है कि वे अपभ्रंश छन्द कालिदास-रचित नहीं है। जो हो, कालिदास के नाटक में उन ललित छन्दों का स्थान पाना कम महत्वपूर्ण बात नहीं है, और दीर्घ परंपरा से उन्हें विक्रमोर्वशीय का एक अंग समझा जा रहा है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वैसी भाषा में काव्य का पाया जाना कोई असंभव बात नहीं है। संभव है यह कोई लोकगीत रहा हो जिसके माधुर्य से प्रभावित होकर कवि ने अपने नाटक में उसका उपयोग कर लिया हो। विक्रमोर्वशीय के वे छन्द इस प्रकार हैं—

मइ जाणिअं मिअ-लोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णव-तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ ॥१

गन्धुम्माइय महुअर गीएहिं।
वज्जन्तेहिं परहुअ रव-तूरेहिं ॥
पसरिय पवणुव्वेल्लिर पल्लव णिअरु।
सुललिअ विविह-पआरे णच्चइ कप्प-यरु ॥२

बर्हिण पइं इअ अब्भत्थमि आअक्खहि म ता।
एत्थु रण्णे भमन्ते जइ पइं दिट्ठी सा महु कंता ॥
णिसम्महि मिअंक-सरिसें वअणें हंस-गइ।
एं चिण्हें जाणिहसि आअक्खिउ तुज्झ मइ ॥३

परहुअ महुर-पलाविणि कन्ति।
णन्दण-वण सच्छन्द भमन्ति ॥
जइ पइं पिअअम सा महु दिट्ठी।
ता आअक्खहि महु पर पुट्ठि ॥४

रे रे हंसा किं गोविज्जइ।
गइ अणुसारें मइं लक्खिज्जइ ॥
कइ पइ सिक्खिउ ए गइ-लालस।
सा पइ दिट्ठी जहण-भरालस ॥५

हउ पइं पुच्छिमि आअक्खहि गअ-वरु।
ललिअ-पहारें णासिअ-तरु-वरु ॥

पुर विलिसिअय   सागर-कंती।
दिट्ठी सिय वई तंमए अणी॥ ६

सुर-कुमरहि बहल-भरालय पीयलु मय-रयणि।
थिर कोमल भमु-सरीरहि इय लइ॥
ग्गयणंगण-वासणो मियलोयणि भमंत दिट्ठ मई।
तह विरह-समुद्दमरें उत्तारहि मई॥ ७

मई वेल्लिजिउ हिययं मावमि।
जइ विहि आए पुण तहि पावमि॥
ता रयले विरल वर्दिमि लियमत्तो।
पुणु तह मेरलमि बाहु पयत्तो॥ ८

मोत्त पसूय हल विट्ठय।
अति गय चक्कय सरिय तुरंगय॥
तुम्ह कारणे रयणो भमन्ते।
को ण हु पुच्छिउ मई रोयन्ते॥ ९

इन पंक्तियों में प्रयुक्त छन्द अपभ्रंश के एकदम अपने छन्द हैं, प्राकृत में इस प्रकार के तुकांत छन्दों का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ था। ध्वनि और व्याकरण दोनों ही दृष्टियों से इनकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश के बहुत निकट है, फिर भी इसके कुछ पदों पर प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट है।

आरंभिक अपभ्रंश के बिखरे हुए उदाहरणों में उद्योतनसूरि-कृत 'कुवलयमाला कहा' के कुछ अंशों को उद्धृत किया जा सकता है। स्वयं कवि ने अपना ग्रन्थ रचना का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो देसी भाषा के लक्षण और धातु जानता है वह विविध वचनों की गाथाओं से संपन्न 'कुवलयमाला' पढ़े—

जो जाणइ देसीओ भासाओ लक्खणाइं धाऊ य।
वयणय गाहा छेयं कुवलयमालं पि सो पढउ।

देसी भाषाओं में भी निश्चय ही कवि ने अपभ्रंश को विशेष रूप से अपने सामने रखा है जिसका लक्षण बतलाते हुए उसने कहा है कि अपभ्रंश बोलचाल की ऐसी भाषा है जो संस्कृत और प्राकृत के शुद्ध अशुद्ध पदों की तरङ्गों से तरंगायित रहती है।

सक्कय-पाय-उभय-सुद्धासुद्ध-पय-समतरङ्ग-रङ्गन्त-वग्गिरं।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में जहाँ अपभ्रंश पद्य के नमूने आए हैं, वे तो परिनिष्ठित अपभ्रंश के एकदम निकट हैं जैसे—

जो जसु माणुसु वल्लहउ त जइ मरणु रमेइ।
जणइ सो जाणइ जीवइव, तो तहु प्राण लएइ॥

अथवा

जो णवि विहुरे विसमएणउ धवलउ कड्ढइ भारु।
सो गोट्ठ गणमएइणउ सेस उव्व ज सारु॥

इनमें से पहला दोहा एक ग्राम-नटी द्वारा गाया गया है और दूसरा एक गुर्जर-पथिक द्वारा। प्रसंग से दोनों की भाषा का अन्वेषण पुष्ट हो जाता है।

इन पद्यों के अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ में अपभ्रंश गद्य के भी नमूने मिलते हैं जो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि अपभ्रंश का जितना भी साहित्य प्राप्त हुआ है, उसमें गद्य के नमूने नहीं के बराबर हैं।

मणियं मायाइच्चेण 'अहो गाममहत्तरा! महाभावं मए कय मित्तदोज्झ याम ता अह जलिओ कुआसणा पविस्सामि। देह मज्झ पत्थिग्गह कहाइ जलणा व' ति। तउ मणिय एक्केण गाम-महत्तरेण—

(१) एहु एहउ दुम्मयस्साहु। सज्ज ने थुजा आरिट्ठ। तु ज्झायउ वव थलितउ। पारद्धउ। एतु अइ सुगइ, आतुव्वर, भ्राति सप्रतु।
तउ अण्णेण भणिय—

(२) थुज विरइतु घण लवाय सुह-लपडे, एतु अइ दुत्थइ-मण-मोह सुइउ तुं सपनि ग्रालतउ। एतु एतु मारदु मल्लउ। तउ अण्णेण भणिअं चिर जराजुण्णदहुण—

(३) एय मुज्झति किर सुवएण ए वइसाणर-मुह गतउ कउ पाउ मित्तल वचण। कामाभिन्न न्नन धरणो एतु पाउ तुज्झ प्पणु हिय।'
तउ मयल-ग्गाम-सामिणा भणिअं जेट्ठ महा मयहरेण—

(४) धवल-वाहण धवलदेहस्स सिरि भमति जा विमल जल धवलुज्जल मा मदारी-यत्नि-गम ग्रात्रेणि तुहुँ मित्र द्राज्झु वा याम सु ज्झति।'

मायादित्य और ग्राममहत्तरों के इस कथोपकथन में जितना अंश कथोपकथन का है वह तो अपभ्रंश भाषा में है और शेष विवरण प्राकृत भाषा में। जहाँ तक त द आदि दन्त्य ध्वनियों के परिवर्तन का सम्बन्ध है, अनियमित ट्ट और सौरसेन ध्वनि-समूह से प्रभावित प्रतीत होता है। 'वैश्वानर' से 'वइसाणर' होने में जो 'ऐ' का 'अइ' हो गया है यह ध्यान देने योग्य ठेठ अपभ्रंश का लक्षण है। इसके अतिरिक्त एहउ, दुम्मयस्साहु आदि प्रयोग अपभ्रंश के अपने हैं।

'कुवलयमाला' का दूसरा उदाहरण इससे भी अधिक मनोरञ्जक तथा भाषा के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कथा का नायक राजकुमार मयुर

के एक अनाथ मण्डप में पहुँचकर वहाँ के दीन हीन कोढ़ी, लूले आदि रोगग्रस्त गँवार लोगों से किस प्रकार बातचीत कराई है इसका [illegible] निश्चय उद्योतन सूरि ने किया है।

(१) एत्थ पुरवरम्मि परिब्भमंतो संपत्तो महुराउरीए। तत्थ एक्कम्मि अणाहमंडवे पविट्ठो। अवि य तत्थ ताव मिलियालए कोढ़िय, वलवग्ग गहयए, दीण, दुग्गय, अंधलय, पंगुलय, मंटुलय, मडहय, वामणय, छिण्णणासय, तोडिय-कण्णय, छिण्णोट्ठय, थम्भिय, कप्पडिय देसिय, तित्थयत्तिय, लेहारय धम्मिय, गुग्गुलिय भोया कि च बहुणा जो माउ पिउ रहिएल्लउ, सो सो सव्वो वि तत्थ मिलिएल्लउ त्ति। ताहं च एक्कु मिलिएल्लय सहं समाएण पयत्ता महा आलावा पयत्ता। "भो, भो, ! कयरहिं तित्थ दे [स] था गयाइं कयरा पावहिं पाव वा फिट्टइ" त्ति।

(२) एक्केण भणिअं— 'अमुकवा वाणारसी कासिपुरि। तेणु वाणार सीगयाण काउ फिट्टइ" त्ति।

(३) अण्णेण भणिअ—'हुं हुं! कहिउ पुत्तेउ तणु जंपिएल्लउ। कहिं कासी, कहिं वाणारसि! मूलत्थाणु भडारउ कोढ़ई जं देइ उद्दालइ लोयहु।"

(४) अण्णेण भणिअ—"रे रे! जइ मूलत्थाणु देइ उद्दालइ कोढ़इ ता पुणु काई कम्मु अप्पाणु कासि अच्छइ!"

(५) अण्णेण भणिअ—'जा ण कासिएल्लउ अच्छइ [illegible] ण काइ कम्मु! महाकालु भडारउ दुम्माग-रुयाए दुग्गइ तेण मूलदाण फिट्टइ।"

(६) अण्णेण भणिअ—'काइं इमेण आय निरत्थु पाउ फिट्टइ, तुम्भे उद्दिसइ तित्थ।'

(७) अण्णेण भणिअं— प्रयाग वडपडिअह चिरपरूढ पावयि हत्थ वि फिट्टंति।"

(८) अण्णेण भणिअं—"अरे! पाव पुच्छिय पाव खाइहि?"

(९) अण्णेण भणिअ—'रहु मल्लाइं जइ परमाइ गिरिवडकयइ पि महापावइ गरगरगम गहायइं भैरवभट्टारय-पडिअइ पाअइ त्ति।"

शूरसेन प्रदेश के केन्द्र मथुरा में स्थित अनाथालय के लोगों द्वारा शौरसेनी प्राकृत न बोलवाकर अपभ्रंश में बातचीत कराना ध्यान देने योग्य है। निःसंदेह भाषा पर प्राकृत का यत्र तत्र प्रभाव दृष्टिगोचर होता है किन्तु ध्वनि में उकार प्रवृत्ति और पदों में प्राकृत विभक्तियों के घिसरे हुए रूप भाषा की गति को अपभ्रंश की ओर उन्मुख बतलाते हैं। इन बातों के अतिरिक्त उपयुक्त उद्धरण के शब्द

नूद में ठठ देशी शब्दों का बाहुल्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है।[1]

आरम्भिक अपभ्रंश के ये सभी बिखरे हुए उद्धरण मोटे तौर से ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक के हैं। इनसे स्पष्ट है कि उस समय तक अपभ्रंश की ध्वनियों और वर्णों का रूप स्थिर नहीं हो सका था कहीं तो उनमें प्राकृत के रूपों की परिपाटी का पालन दिखाई पड़ता है और कहीं सरलीकरण की नई दिशा की ओर प्रयत्न। स्पष्ट रूप से इसका आधार मुख्यतः शौरसेनी प्राकृत है। इसका कारण शायद यह हो कि इनमें से लगभग सभी उद्धरण शूरसेन देश तथा उसके आसपास के क्षेत्र के हैं। संभव है, दूसरे स्थानों से अन्य सामग्री प्राप्त होने पर किसी और आधार का पता चले।

अब विचारणीय बात यह है कि यह कौन सी बोली थी, जिसका आश्रय लेकर शौरसेनी अथवा महाराष्ट्री प्राकृत अपभ्रंश भाषा के रूप में विकसित हुई।

भरत मुनि ने किसी उकार-बहुला भाषा का क्षेत्र हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि प्रदेश अर्थात् पश्चिमोत्तर भारत बतलाया है। विद्वानों ने इसे आरम्भिक अपभ्रंश बोली का क्षेत्र प्रमाणित किया है। यदि इसे सच मानें तो कहना पड़ेगा कि तीसरी शताब्दी में जो पश्चिमोत्तर भारत की बोली थी वही क्रमशः विकसित होती हुई एक दिन पश्चिमी भारत तथा मध्य देश की साहित्यिक भाषा बन गई। लेकिन उतनी दूर की बोली का प्रसार इन प्रदेशों तक किस प्रकार हुआ और यही नहीं बल्कि यह बोली अपने उन मूल प्रान्तों से सरककर दूसरे क्षेत्रों में किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकी, इन प्रश्नों का समाधान आवश्यक है।

पश्चिमोत्तर भारत की बोली और अपभ्रंश

पण्डितों ने इसका समाधान करते हुए दण्डी के प्रमाण पर कहा है कि अपभ्रंश मूलतः आभीरी बोली थी और महाभारत के अनुसार ईस्वी-पूर्व दूसरी शताब्दी तक पश्चिमोत्तर भारत में आभीर जाति के पाये जाने का उल्लेख मिलता है। नकुल के प्रतीची-विजय प्रसंग में आभीरों को सिन्धु के किनारे रहने वाला कहा गया है।[2] शल्यपर्व में बलदेव की तीर्थयात्रा के संदर्भ में आता है कि राधा ने

---

1 विशेष अध्ययन के लिये देखिये प्रो० अल्सडोर्फ़ मास्टर द्वारा लिखित निबंध 'ग्लोनिंग्स फ्रॉम कुवलयमाला कहा' (बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज़ जिल्द १३ खंड २ और ४। १९५०—५१ ई०)

2 पर्व २ अध्याय ३२ श्लोक १०

उस विनशन में प्रवेश किया जहाँ शूद्र आभीरों के कारण सरस्वती नष्ट हो गई।[1]

आभीरी बोली और अपभ्रंश

पश्चात् जब अर्जुन वृष्णियों की स्त्रियों को लेकर द्वारका से जाते हुए पंचनद में प्रवेश करते हैं तो दस्यु लोभी और पापकर्मी आभीर इन पर वृष्णि महिलाओं को छीन ले जाते हैं।[2] इन प्रसंगों के अतिरिक्त द्रोणपर्व के सुपर्ण व्यूह में भी उनके दर्शन होते हैं।[3]

स्वाभाविक है कि सरस्वती के नाश, विनशन और पंचनद में आक्रमण वाली इन घटनाओं से आभीर जाति ने अपनी बोली का भी प्रसार प्रकट किया हो। किन्तु यह बात कल्पना से परे प्रतीत होती है कि बाहर से आई हुई आभीर जाति ने उस प्रदेश की पूर्ववर्ती भाषा को मिटाकर अपनी कोई नई भाषा चला दी हो। विजेता जाति की भाषा पराजित जाति की भाषा का स्थान ले ही ले, ऐसा अनिवार्य नहीं है, और उस दशा में तो इसकी संभावना और भी संदिग्ध हो उठती है जब पराजित जाति विजेता की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत हो तथा उसकी भाषा भी अधिक समृद्ध हो। आभीरों की तुलना में पंचनद की पूर्ववर्ती जाति और भाषा की श्रेष्ठता स्वयंसिद्ध है।

इसलिए जैसा कि भारत में बाहर से आने वाली सभी जातियों के विषय में सच है, आभीर जाति भी यहाँ आकर वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर आ गई और इस तरह उसने यहाँ की स्थानीय बोली भी ग्रहण कर ली।[4] इतना जरूर है कि आभीरों ने उस क्षेत्र की बोली में अपने कुछ निजी शब्दों का मिश्रण कर दिया और कुछ दूर तक उसकी ध्वनियों को भी प्रभावित किया। परंतु इससे आगे बढ़ना गलत है। दो जातियों की भाषाओं के मिश्रण से सर्वथा किसी नई तीसरी भाषा का जन्म नहीं होता बल्कि उन दोनों में से किसी एक भाषा का ही व्याकरण आधार भूमि का काम करता है, दूसरी भाषा उसमें विलीन हो जाती है। तात्पर्य यह कि यदि आभीरों की अपनी कोई बोली रही भी होगी तो पंजाब क्षेत्र की भाषा में विलीन हो गई होगी।

फिर भी यह प्रश्न तो रह ही गया कि पश्चिमोत्तर भारत की बोली मध्यदेश और पश्चिमी भारत की साहित्यिक भाषा किस प्रकार बनी? इसके समाधान स्वरूप विद्वानों ने आभीर जाति के प्रसार के ऐतिहासिक आँकड़े दिए हैं। इसी

---

१ पर्व ६, अध्याय ३७ श्लोक १

२ पर्व १६ अध्याय ७ श्लोक ४४-४७

३ पर्व ७ अध्याय २० श्लोक ६

४ डा० गुणे—भविसयत्त कहा की भूमिका पृ० ५२

सन् की दूसरी शताब्दी में काठियावाड़ में आभीरों के रहने की बात कही जाती है। इसका आधार यह है कि काठियावाड़ के 'गुंद' नामक स्थान में प्राप्त महाक्षत्रप रुद्रदमन के एक अभिलेख में उसके एक आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का उल्लेख है।[१] विद्वानों के अनुसार उक्त अभिलेख का समय १८१ ई० है।

महाक्षत्रप की सेना में एक आभीर सरदार का होना काठियावाड़ में समूचे आभीरों के निवास का कोई ठोस प्रमाण नहीं है। इससे अधिक से अधिक यह अनुमान लग सकता है कि शायद शकों से आभीरों का कुछ संबंध स्थापित हो गया हो और इस तरह आभीरों ने शक्ति संचित करके अपना प्रसार किया हो। इसे आभीर जाति के भावी विस्तार का भूमिका मात्र माना जा सकता है।

एन्थोवेन ने ईसा की तीसरी शताब्दी के अंत में काठियावाड़ में आभीरों के आधिपत्य को प्रमाणित करते हुए नासिक अभिलेख (३०० ई०) के आभीर राजा ईश्वर सेन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[२] समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले लौह स्तम्भलेख (३६० ई०) के अनुसार आभीर जाति उस समय गुप्त साम्राज्य की सीमा पर राजस्थान, मालवा, दक्षिण पश्चिम तथा पश्चिमी प्रदेशों में डँटी हुई थी। पुराणों के अनुसार आन्ध्रभृत्यों के बाद दकन आभीर जाति के ही हाथ आया और छठीं शती के बाद से निकल गया। उस समय ताप्ती से देवगढ़ तक का प्रदेश इन्हीं के नाम पर विख्यात था। जान इलियट के अनुसार ८वीं शताब्दी में जब काठी जाति ने गुजरात में प्रवेश किया तो उसने देखा कि उसका अधिकांश भाग आभीरों के हाथ है।[३] एन्थोवेन ने सिद्ध किया है कि खानदेश में आभीरों का स्थायी निवास महत्त्वपूर्ण तथ्य है। १५वीं शताब्दी में असीरगढ़ का किला आशा अहीर द्वारा स्थापित बताया जाता है। इधर मध्यदेश में मिर्ज़ापुर ज़िले का अहिरौरा आभीरों के ही नाम से प्रसिद्ध माना जाता है।

इन ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि एक समय इस दुर्धर्ष जाति ने बड़ी तेज़ी से समूचे उत्तर भारत में छा जाने का उद्योग किया था। यदि इस प्रवाह के साथ अपभ्रंश का भी प्रसार हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। संभव है दण्डी जैसे आचार्य ने इस जाति के आतंक और प्रभाव को देखकर ही समस्त ग्रामीण बोली के लिए आभीरादि गिरा संज्ञा का प्रयोग कर दिया हो क्योंकि भाषायें या तो प्रभावशाली जाति के नाम से जानी जाती हैं अथवा उस

१ डी० आर० भण्डारकर इण्डियन ऐंटिक्वरी, १९११ ई० पृ० १६

२ आर० ई० एन्थोवन ट्राइब्स एंड कास्टस ऑव बाम्बे भाग १ पृ० २१ (गुणे द्वारा भवि० की भूमिका में उद्धृत)

३ सप्लिमेंटरी ग्लॉसरी एम बी० अहीर।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

१ [illegible] अध्याय [illegible] श्लोक [illegible]
[illegible] अध्याय [illegible] श्लोक [illegible]
[illegible] अध्याय [illegible] श्लोक [illegible]
[illegible]

संभव है, आभीरों और गुजरों के अतिरिक्त ऐसी ही अन्य गोपालक जातियों ने अपभ्रंश के प्रसार में भाग लिया हो।

इस तरह यदि अपभ्रंश मूलतः पश्चिमोत्तर भारत की बोली न भी रही हो, तो भी पश्चिमी भारत की बोली से उसका संबंध होने की कल्पना की जा सकती है। यहाँ राजशेखर के कथन को ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपभ्रंश सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक देशों में प्रयुक्त होती है।[1] भाषावैज्ञानिकों ने प्रायः अपभ्रंश से राजस्थानी और गुजराती का घनिष्ठ संबंध दिखलाया है। यद्यपि साथ अपभ्रंश से पंजाबी का साम्य दिखाने की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम गया है, तथापि राजस्थानी और पंजाबी की निकटता के उदाहरण प्रायः दिए जाते हैं। यदि यह सच है तो इन क्षेत्रों में बहुतायत से रचे हुए अपभ्रंश साहित्य की भाषा का यहाँ की बोली से शक्ति ग्रहण करना स्वाभाविक है। अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य इसी क्षेत्र के प्रमुख नगरों और जैन भंडारों में प्राप्त हुआ है जैसे अहमदाबाद जैसलमर, पाटण आदि। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि अपभ्रंश के अधिकांश कवि इसी क्षेत्र के रहने वाले थे अथवा उन्होंने इसी क्षेत्र में अपने साहित्य की रचना की है। धनपाल, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, हरिभद्र, जिनदत्त आदि ने गुजरात में, देवसेन ने मालवा में, रामसिंह ने राजपुताना तथा अब्दुल रहमान ने मुल्तान में, अपने ग्रन्थ रचे।

क्या अपभ्रंश मूलतः पंजाब, राजस्थान और गुजरात की बोली थी?

फिर भी डा० सुनीति कुमार चटर्जी जैसे भाषावैज्ञानिक का विचार है कि पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश शूरसेन या मध्यदेश की चालू बोली के आधार पर मुख्यतया बनी थी। उनके अनुसार इधर राजस्थान गुजरात तथा पंजाब की और उधर कोशल की अपभ्रंश या अंतिम युग की प्राकृत का उस पर प्रभाव भर पड़ा था।[2]

लेकिन डा० चटर्जी ने उसी पुस्तक में अपने उक्त मत के विपरीत विचार प्रकट करते हुए कहा है कि शौरसेनी अपभ्रंश की भाषा प्रारम्भ ही से किसी खास प्रान्त की अविकृत लौकिक कथ्य या चालू भाषा नहीं थी—यह भाषा मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, अन्तर्वेद तथा पंजाब में प्रचलित अपभ्रंश बोलियों के आधार पर स्थापित एक मिश्रित साहित्यिक भाषा या शैली ही थी।[3]

---

१ सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।

२ राजस्थानी भाषा पृ० ६०

३ राजस्थानी भाषा पृ० ३५

[illegible]

[illegible]

[illegible]

---

१ [illegible] १२ (ए० एल० एन० [illegible] [illegible] १९११)

२ डॉ० आर० भंडारकर [illegible] (जे० बी० बी० आर० ए० एस०) [illegible] पृ० ४११ १९०२ ई

३ एम० डी० [illegible] जिल्द १ भाग १ पृ० [illegible] (एम० डी० [illegible] द्वारा गुजराती [illegible] जिल्द १ पृ० १६ पर उद्धृत)

संभव है, आभीरों और गुर्जरों के अतिरिक्त ऐसी ही अन्य गोपालक जातियों ने अपभ्रंश के प्रसार में योग दिया हो।

इस तरह यदि अपभ्रंश मूलतः पश्चिमोत्तर भारत की बोली न भी रहा हो, तो भी पश्चिमी भारत की बोली से उसका संबंध होने की कल्पना की जा सकती है। यहाँ राजशेखर के कथन को ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपभ्रंश सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक देशों में प्रयुक्त होता है।[1] भाषावैज्ञानिकों ने प्राय अपभ्रंश से राजस्थानी और गुजराती का घनिष्ठ संबंध दिखलाया है। यद्यपि सीधे अपभ्रंश से पंजाबी का साम्य दिखाने की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम गया है, तथापि राजस्थानी और पंजाबी की निकटता के उदाहरण प्रायः दिए जाते हैं। यदि यह सच है तो इन क्षेत्रों में बहुतायत से रचे हुए अपभ्रंश साहित्य की भाषा का यहाँ की बोली से शक्ति ग्रहण करना स्वाभाविक है। अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य इसी क्षेत्र के प्रमुख नगरों और जैन भंडारों में प्राप्त हुआ है जैसे अहमदाबाद, जैसलमेर, पाटण आदि। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि अपभ्रंश के अधिकांश कवि इसी क्षेत्र के रहने वाले थे अथवा उन्होंने इसी क्षेत्र में अपने साहित्य की रचना की है। धनपाल, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, हरिभद्र, जिनदत्त आदि ने गुजरात में, देवसेन ने मालवा में, रामसिंह ने राजपुताना तथा अब्दुल रहमान ने मुल्तान में, अपने ग्रन्थ रचे।

क्या अपभ्रंश न मूलतः पंजाब, राजस्थान और गुजरात की बोली थी ?

फिर भी डा० सुनीति कुमार चटर्जी जैसे भाषावैज्ञानिक का विचार है कि पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश शूरसेन या मध्यदेश की चालू बोली के आधार पर मुख्यतया बना थी। उनके अनुसार इधर राजस्थान, गुजरात तथा पञ्जाब की ओर उधर कोशल का अपभ्रंश या अंतिम युग की प्राकृत का उस पर प्रभाव भर पड़ा था।[2]

लेकिन डा० चटर्जी ने उसी पुस्तक में अपने उक्त मत के विपरीत विचार प्रकट करते हुए कहा है कि शौरसेनी अपभ्रंश का भाषा प्रारम्भ ही से किसी खास प्रान्त की अविकृत लौकिक कथ्य या चालू भाषा नहीं थी—यह भाषा मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, अन्तर्वेद तथा पञ्जाब में प्रचलित अपभ्रंश बोलियों के आधार पर स्थापित एक मिश्रित साहित्यिक भाषा या शैली ही थी।[3]

---

१ सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।

२ राजस्थानी भाषा पृ० ६०

३ राजस्थानी भाषा, पृ० ३५

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] रचना का और [illegible] [illegible] हृदय का हार बनाया, [illegible] कनकाभर [illegible] महाकवि [illegible] रामायण की रचना के लिए [illegible] का [illegible] ।

---

१ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया जिल्द १, भाग १ पृ० १३६ की पादटिप्पणी

विचारणीय बात है कि पश्चिमी भारत की बोली को संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा होने का गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ? वह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उत्तर भारत की समस्त बोलियाँ मिल जुल कर नवीं दसवीं शताब्दी के आस पास एक विशाल राष्ट्रीय अथवा जातीय भाषा के रूप में केन्द्रीभूत हो उठीं?

अपभ्रंश के उत्थान का ऐतिहासिक कारण

यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि राजनीतिक और आर्थिक केन्द्रोन्मुखता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक विशाल राष्ट्र भाषा के रूप में ढल जाती हैं। नवीं शताब्दी में उत्तर भारत के राजनीतिक मानचित्र पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बंगाल में पाल, कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा मान्यखेट में राष्ट्रकूट राजाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया था और इनमें कान्यकुब्ज के लिए आपसी संघर्ष बराबर चल रहा था। भौगोलिक दृष्टि से कान्यकुब्ज का राज्य उत्तर भारत का केन्द्र था और राजनीतिक दृष्टि से भी प्रतिहारों ने उस केन्द्र की सार्थकता प्रमाणित कर दी थी। उनके छत्र के नीचे आकर शासित थे राजपूताना, गुजरात तथा मध्यभारत से कान्यकुब्ज तक सारा उत्तर भारत बहुत कुछ एक सूत्र में बँधा हुआ था।

दोनों होते हुए भी कान्यकुब्ज के दरबार में यहाँ की देशभाषा को वैसा राजाश्रय प्राप्त न था जैसा संस्कृत को प्राप्त था। इनकी अपेक्षा पाल और राष्ट्रकूट राजा देशभाषा के कहीं अधिक संरक्षक थे। सरह कण्ह आदि चौरासी सिद्ध कवि पालों के ही शासन काल में हुए। उधर पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे महान अपभ्रंश कवियों की शक्ति का प्रस्फुटन राष्ट्रकूटों की ही छत्र छाया में हुआ। इसलिए आरंभ में तत्कालीन बोलियों को अपभ्रंश के रूप में केन्द्रित करने और इस तरह उसे विकसित करने का श्रेय मुख्यतः राष्ट्रकूटों को है।

राष्ट्रकूट राजा लाट, सौराष्ट्र से लेकर कान्यकुब्ज तक धावा मारते रहते थे यहाँ तक कि लाट और सौराष्ट्र तो बहुत दिनों तक उनकी एक शाखा के अधिकार में भी था। राहुल जी के अनुसार दिल्ली के पास से पुष्पदंत को तथा कन्नौज से स्वयंभू को अपने यहाँ ले जाने का श्रेय इन्हीं के आक्रमणों को है। स्वयंभू राष्ट्रकूट ध्रुव (७८०-९४) के किसी अमात्य रड्डा धनंजय के साथ दक्षिण गए और पुष्पदंत कृष्ण तृतीय के मंत्री भरत के साथ।[1] राष्ट्रकूटों के अपने राज्यक्षेत्र की भाषा जो भी रही हो परन्तु आरंभ में उनका संबंध पश्चिमी भारत (राजस्थान और सौराष्ट्र) से था इसलिए उनकी अपनी भाषा पश्चिमी अपभ्रंश से प्रभावित होती है।

---

१ हिन्दी काव्य धारा अवतरणिका पृ० २५-२७।

यही नहीं, डा० चटर्जी ने उसी प्रसंग में शौरसेनी प्राकृत काल में मारवाड़ और गुजरात की बोली में अन्तर दिखलाने की चेष्टा की है और अपभ्रंश काल में इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न एक अनुमानित 'गौर्जर अपभ्रंश' की कल्पना कर डाली है। यदि यह सच है तो अपभ्रंश की कई बोलियों का अस्तित्व मानना चाहिए। लेकिन ऐसा है नहीं।

वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश काल में पश्चिमी राजस्थान, गुजरात, मालवा तथा उत्तरी महाराष्ट्र की भाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। बाद में उच्चारणगत स्थानिक भेदों तथा कतिपय व्याकरणात्मक विशेषताओं को लेकर भाषा का थोड़ा-बहुत रूप कुछ पृथक हो गया था। यह तथ्य प्राकृत वैयाकरणों द्वारा निर्धारित विभिन्न प्राकृतों के स्वरूपों से पुष्ट होता है जहाँ एक ही भाषा में स्थानिक विशेषताओं के आधार पर शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि को अलग आकार देकर नामकरण किया गया है। इसलिए कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन वैयाकरणों द्वारा निर्धारित महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि भेद वास्तविक नहीं हैं।

आशय यह है कि अपभ्रंश भाषा के भिन्न भागों में नागर, गुर्जर आदि नाम भिन्न जातियों के आधार पर रहे, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह प्रायः परिनिष्ठित रूप की भाषा थी। नागर अपभ्रंश अर्थात् परिनिष्ठित अपभ्रंश इसी भाषा का साहित्यिक रूप था। प्रायः अपभ्रंश कहने से भाषाओं का परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही बोध होता है। कुछ लोग उसे शौरसेनी अपभ्रंश भी कहते हैं। परन्तु शौरसेनी अपभ्रंश कहते समय भी मन में यह स्पष्ट रहना चाहिए कि यह अकेली शौरसेनी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी नहीं थी। डा० ग्रियर्सन का भी यही मत है।[1]

साहित्यिक अपभ्रंश मूलतः और मुख्यतः पश्चिमी भारत की बोली होते हुए भी छठी से ११वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी। एक ओर इसमें बंगाल के सरह और कण्ह जैसे सिद्ध कवियों ने दोहा कोषों की रचना की और मिथिला में ज्योतिरीश्वर तथा विद्यापति ने स्थानीय बोली का पुट देकर साहित्यिक अपभ्रंश में ग्रंथ लिखे तो दूसरी ओर मुलतान में अब्दुल रहमान का भी कंठ इसी में फूटा। दक्षिण में मान्यखेट के पुष्पदंत ने इसी वाणी को अपने हृदय का हार बनाया, असमय के कनकामर मुनि ने इसी में चरित गाथा और महाकवि स्वयम्भू ने रामायण की रचना के लिए इसी भाषा को चुना।

---

१ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया जिल्द १, भाग १ पृ० १२५ की पादटिप्पणी

विचारणीय बात है कि पश्चिमी भारत की बोली को संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा होने का गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ ? वह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उत्तर भारत की समस्त बोलियाँ मिल जुल कर नवीं दसवीं शताब्दी के आस पास एक विशाल राष्ट्रीय अथवा जातीय भाषा के रूप में केन्द्रीभूत हो उठीं ?

यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि राजनीतिक और आर्थिक केन्द्रोन्मुखता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक विशाल राष्ट्रीय भाषा के रूप में ढल जाती हैं। नवीं शताब्दी में उत्तर भारत के राजनीतिक मानचित्र पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बंगाल में पाल, कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा मान्यखेट में राष्ट्रकूट राजाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया था और इनमें कान्यकुब्ज के लिए आपसी संघर्ष बराबर चल रहा था। भौगोलिक दृष्टि से कान्यकुब्ज का राज्य उत्तर भारत का केन्द्र था और राजनीतिक दृष्टि से भी प्रतिहारों ने उस केन्द्र की सार्थकता प्रमाणित कर दी थी। उनके छत्र के नीचे अनेक सामंत थे राजपूताना, गुजरात तथा मध्यभारत से कान्यकुब्ज तक सारा उत्तर भारत बहुत कुछ एक सूत्र में बँधा हुआ था।

अपभ्रंश के उत्थान का ऐतिहासिक कारण

इतना होते हुए भी कान्यकुब्ज के दरबार में यहाँ की देशभाषा को वैसा राज्याश्रय प्राप्त न था जैसा संस्कृत को प्राप्त था। इनकी अपेक्षा पाल और राष्ट्रकूट राजा देशभाषा के कहीं अधिक संरक्षक थे। सरह कण्ह आदि चौरासी सिद्ध कवि पालों के ही शासन काल में हुए। उधर पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे महान अपभ्रंश कवियों की शक्ति का प्रस्फुटन राष्ट्रकूटों की ही छत्र छाया में हुआ। इसलिए आरंभ में तत्कालीन बोलियों को अपभ्रंश के रूप में केंद्रित करने और इस तरह उसे विकसित करने का श्रेय मुख्यतः राष्ट्रकूटों को है।

राष्ट्रकूट राजा लाट, सौराष्ट्र से लेकर कान्यकुब्ज तक धावा बोलते रहते थे यहाँ तक कि लाट और सौराष्ट्र तो बहुत दिनों तक उनकी एक शाखा के अधिकार में भी था। राहुल जी के अनुसार दिल्ली के पास से पुष्पदंत को तथा कोसल से स्वयंभू को अपने यहाँ ले जाने का श्रेय इन्हीं के आक्रमण को है।[1] स्वयंभू राष्ट्रकूट ध्रुव (७८० ९४) के किसी अमात्य रयडा धनंजय के साथ दक्षिण गए और पुष्पदंत कृष्ण तृतीय के मंत्री भरत के साथ।[1] राष्ट्रकूटों के अपने राज्यक्षेत्र की भाषा जो भी रही हो, परंतु आरंभ में उनका संबंध पश्चिमी भारत (राजस्थान और सौराष्ट्र) से था इसलिए उनकी अपनी भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही प्रतीत होती है।

1 हिन्दी काव्य धारा अवतरणिका पृ० २५ २७।

यही नहीं, डा० चटर्जी ने उसी प्रसंग में अत्यंत प्राचीन काल से सौराष्ट्र और शूरसेन की बोली में अंतर दिखलाने की चेष्टा की है और अपभ्रंश-काल में इस अंतर को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न एक अनुमानित 'सौराष्ट्र अपभ्रंश' का अस्तित्व बतलाया है। यदि यह सच है तो अपभ्रंश को दो बोलियों का मिश्रण मानना चाहिये। लेकिन ऐसा होता नहीं।

वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश काल में पंजाब, राजस्थान, गुजरात, शूरसेन तथा उत्तरी महाराष्ट्र की भाषा में कोई मौलिक व्याकरणिक भेद न था। थोड़े से उच्चारणगत ध्वनिपरक भेदों तथा कतिपय व्याकरणिक विशेषताओं को छोड़कर भाषा का ढाँचा सबका बहुत कुछ एक ही सा था। यह तथ्य प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा निरूपित विभिन्न प्रान्तों के लक्षणों से पुष्ट होता है जहाँ केवल थोड़े से ध्वनि विकारों की विशेषताएँ अंकित करके शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि को 'शेष प्राकृतवत्' कहकर चलता किया गया है। इसलिये कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन वैयाकरणों द्वारा निरूपित महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि भेद भौगोलिक नहीं हैं।

सारांश यह है कि अपभ्रंश बोलने वाले लोगों में आभीर, गुर्जर आदि चाहे जिस जाति की प्रधानता रही हो, परन्तु भौगोलिक दृष्टि से यह प्रायः पश्चिमी भारत की बोली थी। नागर अपभ्रंश अर्थात् परिनिष्ठित अपभ्रंश इसी बोली का साहित्यिक रूप था। आज अपभ्रंश शब्द से लोगों को पश्चिमी अपभ्रंश का ही बोध होता है। कुछ लोग उसे शौरसेनी अपभ्रंश भी कहते हैं। परन्तु शौरसेनी अपभ्रंश कहते समय मन में यह स्पष्ट रहना चाहिये कि वह अकेली शौरसेनी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी नहीं थी। डा० ग्रियर्सन का भी यही मत है।[1]

साहित्यिक अपभ्रंश मूलतः और मुख्यतः पश्चिमी भारत की बोली होती हुई भी ८वीं से १३वीं शताब्दी तक समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी। एक ओर इसमें बङ्गाल के सरह और काण्ह जैसे सिद्ध कवियों ने दोहा कोषों की रचना की और मिथिला में ज्योतिरीश्वर तथा विद्यापति ने स्थानीय बोली का पुट देकर साहित्यिक अपभ्रंश में ग्रंथ लिखे तो दूसरी ओर मुल्तान में अब्दुल रहमान का भी कंठ इसी में फूटा। दक्षिण में मान्यखेट के पुष्पदंत ने इसी वाणी को अपने हृदय का हार बनाया, असाये के कनकामर मुनि ने इसी में चरित गाया और महाकवि स्वयंभू ने रामायण की रचना के लिए इसी भाषा को चुना।

---

१ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया जिल्द १ भाग १ पृ० १२५ की पादटिप्पणी

विचारणीय बात है कि पश्चिमी भारत की बोली को संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा होने का गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ ? वह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उत्तर भारत की समस्त बोलियाँ मिल जुल कर नवीं दसवीं शताब्दी के आस पास एक विशाल राष्ट्रीय अथवा जातीय भाषा के रूप में केन्द्रीभूत हो उठीं ?

यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि राजनीतिक और आर्थिक केन्द्रोन्मुखता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक विशाल राष्ट्रीय भाषा के रूप में ढल जाती हैं। नवीं शताब्दी में उत्तर भारत के राजनीतिक मानचित्र पर

अपभ्रंश के उत्थान का ऐतिहासिक कारण

दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बंगाल में पाल, कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा मान्यखेट में राष्ट्रकूट राजाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया था और इनमें कान्यकुब्ज के लिए आपसी संघर्ष बराबर चल रहा था। भौगोलिक दृष्टि से कान्यकुब्ज का राज्य उत्तर भारत का केन्द्र था और राजनीतिक दृष्टि से भी प्रतिहारों ने उस केन्द्र की सार्थकता प्रमाणित कर दी थी। उनके छत्र के नीचे अनेक सामंत थे राजपूताना, गुजरात तथा मध्यभारत से कान्यकुब्ज तक सारा उत्तर भारत बहुत कुछ एक सूत्र में बँधा हुआ था।

इतना होते हुए भी कान्यकुब्ज के दरबार में यहाँ की देशभाषा को वैसा राजाश्रय प्राप्त न था जैसा संस्कृत को प्राप्त था। इनकी अपेक्षा पाल और राष्ट्रकूट राजा देशभाषा के कहीं अधिक संरक्षक थे। सरह कण्ह आदि चौरासी सिद्ध कवि पालों के ही शासन काल में हुए। उधर पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे महान अपभ्रंश कवियों की शक्ति का प्रस्फुटन राष्ट्रकूटों की ही छत्र छाया में हुआ। इसलिए आरंभ में तत्कालीन बोलियों को अपभ्रंश के रूप में केन्द्रित करने और इस तरह उसे विकसित करने का श्रेय मुख्यतः राष्ट्रकूटों को है।

राष्ट्रकूट राजा लाट, सौराष्ट्र से लेकर कान्यकुब्ज तक धावा बोलते रहते थे यहाँ तक कि लाट और सौराष्ट्र तो बहुत दिनों तक उनकी एक शाखा के अधिकार में भी था। राहुल जी के अनुसार दिल्ली के पास से पुष्पदंत को तथा कोसल से स्वयंभू को अपने यहाँ ले जाने का श्रेय इन्हीं के आक्रमण को है। स्वयंभू राष्ट्रकूट ध्रुव (७८० - ९४) के किसी अमात्य रयडा धनंजय के साथ दक्षिण गए और पुष्पदंत कृष्ण तृतीय के मंत्री भरत के साथ।[१] राष्ट्रकूटों के अपने राज्यक्षेत्र की भाषा जो भी रही हो परन्तु आरंभ में उनका संबंध पश्चिमी भारत (राजस्थान और सौराष्ट्र) से था इसलिए उनकी अपनी भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही प्रतीत होती है।

---

१ हिन्दी काव्य धारा अवतरणिका पृ० २५, २७।

प्रतिहारों के विपरीत, राष्ट्रकूट राजा जैन थे और उनकी प्रजा का अधिकांश सम्पन्न समाज जैन वैश्य था इसलिए उन्होंने स्वभावतः ही जैनों द्वारा बोली और लिखी जाने वाली भाषा अपभ्रंश का संरक्षण किया। उस समय पश्चिम भारत का अधिकांश वाणिज्य जैन वैश्यों के हाथ में था। धीरे धीरे गुजरात इस वाणिज्य का केन्द्र हो चला था इसलिए इस क्षेत्र की भाषा का राष्ट्रीय भाषा के रूप में उत्थान स्वाभाविक ही था।

आगे चलकर जब १०वीं शताब्दी का अंत होते होते मान्यखेट के राष्ट्रकूट गतश्री होने लगे तो गुजरात में सोलंकी चालुक्यों की शक्ति प्रबल हो उठी जिसमें सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल जैसे जैन मत के पोषक और अपभ्रंश साहित्य के उन्नायक उत्पन्न हुए। सिद्धराज स्वयं तो जैन न था, फिर भी उस पर जैन मन्त्रियों का पर्याप्त प्रभाव था। अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन मत के आचार्य कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरि को संरक्षण देने का श्रेय सिद्धराज को ही है। साहित्य सृजन के लिए हेमचन्द्र को धन और जन की कितनी सुविधाएँ राज्य की ओर से दी गई थीं वह उस युग में किसी के लिए भी ईर्ष्या का विषय हो सकता था।

और कुमारपाल तो प्रायः हेमचन्द्र द्वारा जैन मत में दीक्षित ही हो गया था। उसकी 'अमारिघोषणा' इतिहास में प्रसिद्ध है। कुमारपाल ने भी अपभ्रंश को यथेष्ट संरक्षण किया।

इस तरह मान्यखेट के राष्ट्रकूटों के बाद पाटण के सोलंकी दूसरे राजा हुए जिन्होंने अपभ्रंश भाषा और साहित्य के उत्थान में बहुत बड़ा कार्य किया। सोलंकियों के शासन काल में गुजरात का वैभव पराकाष्ठा पर था। वाणिज्य और संस्कृति दोनों में वह भारत का सिरमौर हो रहा था। स्वाभाविक था कि इस राज्य की साहित्यिक भाषा उस समय की राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो।

यद्यपि उसी समय कान्यकुब्ज में प्रतिहारों का हराकर महाप्रतापी गाहड़वाल सिंहासनासीन हुए थे जिसमें गोविंद चन्द्र (१०६१-११५४ ई०) और उसके पौत्र जयचन्द्र (११७०-९३ ई०) जैसे चक्रवर्ती राजा हुए, तथापि उनके द्वारा लोक भाषा को कोई प्रश्रय नहीं मिला। उनके दरबार में संस्कृत का ही सम्मान था। श्रीहर्ष जैसे संस्कृत के पंडित कवि से गाहड़वालों का दरबार सुशोभित था। ऐसे सुसंस्कृत दरबार में भला लोक भाषा के कवि की कहाँ पूछ !

गाहड़वाल राजाओं ने निःसंदेह महान सांस्कृतिक कार्य किये, लेकिन उन्होंने अपने समय की जाग्रत लोक भाषा को छोड़कर साहित्य-रूढ़, परम परिनिष्ठित और विकास-रुद्ध संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन दिया, या यों कहें कि उसे अपने अलङ्करण का

साधन बनाया। शायद ब्राह्मण धर्म के प्रबल समर्थक होने के कारण गाहड़वालों ने जैनों के द्वारा प्रवर्द्धित अपभ्रंश का प्रश्रय देना उचित नहीं समझा।

कथा-कहानियों और किंवदंतियों से मालूम होता है कि अंतिम दिनों में परवर्ती गाहड़वालों ने लोक-भाषा की ओर ध्यान देना आरम्भ किया था। जयचन्द्र का महामन्त्री विद्याधर लोक-भाषा का अच्छा कवि था।[१] इधर दामोदर पण्डित द्वारा लिखी हुई 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिसे इस पण्डित ने गाहड़वाल राजाओं को लोक भाषा में संस्कृत पढ़ाने के लिए लिखी थी।[२] परवर्ती गाहड़वालों के लोक भाषा प्रेम के ये प्रमाण हैं। लेकिन यह प्रेम तो तब पैदा हुआ जब अपभ्रंश अपना कार्य पूरा कर रही थी और आधुनिक देश भाषायें अंकुरित हो चली थीं। मतलब यह कि गाहड़वालों ने अन्त तक अपभ्रंश का राज्याश्रय नहीं दिया। इसलिए उस समय सांस्कृतिक केन्द्र कान्यकुब्ज न होकर पाटण रहा क्योंकि वह उभरती हुई नई संस्कृति—लोक-संस्कृति और लोक भाषा अपभ्रंश का केन्द्र था। तत्कालीन राष्ट्रभाषा अथवा साहित्यिक भाषा पर पछाहीं प्रभाव का मुख्य कारण यही है।

उपर्युक्त राजनीतिक घटनाओं के वर्णन से यह न समझना चाहिए कि अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा बनाने का श्रेय केवल कुछ राजाओं को है। किसी भाषा को बड़ी छोटी करना किसी राजा के बूते की बात नहीं है। भाषा का मूल स्रोत तो लोक समाज ही है और उसे यथेष्ट रूप देने की शक्ति भी उसी लोक के हाथ में है। फिर भी उस युग में राजकीय अथवा साम्प्रदायिक संरक्षण के अभाव में लोक द्वारा रची हुई अनेक रचनायें सुरक्षित न रह सकीं। इसलिए अपभ्रंश के उन्नयन में राजकीय और साम्प्रदायिक संरक्षण की चर्चा करना उसे अनुचित महत्व देना नहीं है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन राजाओं ने राजनीतिक और व्यवसायिक केन्द्रों के निर्माण में भी बहुत बड़ा कार्य किया, जिनसे बिखरी हुई लोक-बोलियों में केन्द्राभिमुख प्रवृत्ति आयी। इसे भूलना ठीक नहीं है। यद्यपि अपभ्रंश इतने विस्तृत भूभाग की व्यापक साहित्यिक भाषा रही फिर भी उसमें स्थान-भेद से कुछ विविधता आ ही गयी।

इस तथ्य की ओर पुराने पण्डितों का भी ध्यान गया है। उन्होंने अपभ्रंश के विविध भेदों की चर्चा की है। विष्णुधर्मोत्तर ने देश-भेद से अपभ्रंश के अनन्त भेद माने हैं।[३] एक तरह से यह उचित है क्योंकि हर दस कोस

१ प्राकृत-पैंगलम्, प्रबन्ध चिन्तामणि पुरातन प्रबन्ध संग्रह

२ डा० मोतीचन्द (सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ)

३ देशभाषाविशेषेण तस्यान्तो नव विद्यते। (विष्णु० ३।३)

काशित की है।

डा० तगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश के अन्तर्गत पुष्पदंत के महापुराण जसहर चरिउ और णायकुमार-चरिउ तथा कनकामर के करकंड-चरिउ काव्यों की गणना की है। कारण स्पष्ट है। इनकी रचना क्रमशः मान्यखेट और आसाये (बरार) में हुई, इसलिए अनुमान के लिए सहज छूट मिल जाती है कि इन काव्यों की भाषा पर स्थानीय बोलियों की छाप अवश्य पड़ी होगी। इन काव्यों की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं को अलग करने के लिए डा० तगारे ने कुछ ऐसे संज्ञा-पद और क्रिया-पद दिखलाए हैं जो परिनिष्ठित अपभ्रंश अथवा पश्चिमी अपभ्रंश के रूपों से अतिरिक्त हैं। जैसे,

दक्षिणी अपभ्रंश

१ दक्षिणी अपभ्रंश की ध्वनि संबन्धी विशेषता यह है कि संस्कृत-न्य का विकास ण्ण होता है जब कि अन्य अपभ्रंशों में ञ्ञ या-न्न होता है।
२ अकारान्त पुल्लिंग शब्द का तृतीया एक वचन में अधिकांशतः-एण वाला रूप मिलता है जब कि परिनिष्ठित रूप-एँकारान्त है।
३ उत्तम पुरुष एक वचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया—मि परक होती है जैसे, करमि जब कि परिनिष्ठित रूप—उँ परक होता है जैसे करउँ।
४ अन्य पुरुष बहुवचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया न्ति परक होती है, जैसे करन्ति, जब कि परिनिष्ठित रूप-हिं परक होता है जैसे, करहिं।
५. सामान्य भविष्यत् काल के क्रियापद अधिकांशतः —स—परक होते हैं जैसे, करिसइ जब कि परिनिष्ठित रूप प्रायः —ह—परक होते हैं जैसे करिहइ।
६ पूर्वकालिक क्रिया के लिए—इ प्रत्यय का प्रयोग नहीं के बराबर अथवा बहुत कम जब कि यह प्रत्यय परिनिष्ठित अपभ्रंश में सर्वाधिक प्रयुक्त होता था, जैसे, सुनि, चलि आदि।

उपर्युक्त विशेषताओं की छानबीन करने से पता चलता है कि ये स्थानगत उतनी नहीं हैं जितनी शैलीगत। डा० तगारे ने पुष्पदंत और कनकामर की भाषा में जिन्हें दक्षिणी अपभ्रंश की अपनी विशेषताएँ कहा है वस्तुतः वे बहुत कुछ प्राकृत-प्रभाव हैं। विविध वैकल्पिक रूपों में से प्राचीन और नवीन रूपों का अलगाव करके किसी निर्णय पर पहुँचना अधिक लाभदायक होता लेकिन डा० तगारे ने यहाँ इस विवेक का परिचय नहीं दिया है। पुष्पदंत की भाषा को मराठी की जननी प्रमाणित करने के आवेश में डा० तगारे की दृष्टि से यह तथ्य ओझल हो गया कि पश्चिमी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'भविसयत्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'महापुराण' की भाषा में कोई मौलिक अंतर

नहीं है। दोनों ही की रचना परिनिष्ठित अपभ्रंश में हुई है थोड़ा बहुत जो अंतर है मा वह केवल शैली सम्बन्धी है और रचयिता भेद से इतना-सा भेद आ जाना स्वाभाविक है।

निष्कर्ष यह निकला कि दक्षिणी अपभ्रंश नामक एक अलग भाषा की कल्पना निराधार और अवैज्ञानिक है।

पूर्वी अपभ्रंश[१] के सबसे बड़े समर्थक याकोबी हैं। 'सनत्कुमार चरित' की भूमिका में 'प्राकृत पैंगलम्' की भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने जहाँ उसकी भाषा को 'अवहट्ट' कहा है, वहीं उस अवहट्ट की आधारभूत पूर्ववर्ती भाषा को 'पूर्वी अपभ्रंश' माना है, जो याकोबी के अनुसार बिहार में प्रचलित थी।

याकोबी की इस धारणा के दो आधार थे। एक तो म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा सद्य प्रकाशित (१६१७) 'बौद्ध गान ओ दूहा' और दूसरा, ग्रियर्सन की यह स्थापना कि प्राकृत वैयाकरणों को पूर्वी तथा पश्चिमी दो वर्गों में रखा जा सकता है। यथा वररुचि, लंकेश्वर, क्रमदीश्वर, रामशर्मा, मार्कण्डेय आदि पूर्वी वर्ग से संबद्ध हैं तो वाल्मीकि सूत्रों पर आधारित, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज आदि पश्चिमी वर्ग से। इस प्रकार याकोबी के सम्मुख पूर्वी अपभ्रंश के लिए साहित्य तथा व्याकरण दोनों ही क्षेत्रों के प्रमाण उपस्थित थे।

यदि प्राकृत वैयाकरणों के आपसी मतभेद को ध्यान में रखा जाय तो अपभ्रंश-संबंधी दो भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। रामशर्मा और मार्कण्डेय ने जहाँ 'प्राच्या' को अपभ्रंश का एक भेद माना है वहाँ पश्चिमी वर्ग के पुरुषोत्तम के यहाँ उसका अस्तित्व नहीं है।

यदि याकोबी 'पूर्वी अपभ्रंश' के प्रबल समर्थक हैं तो उसके कट्टर विरोधी हैं मा ज्यूल ब्लाख। डा० शहीदुल्ला की थीसिस 'सरह और काण्ह के रहस्य गीत' का आमुख लिखते हुए प्रो० ज्यूल ब्लाख ने याकोबी के तत्संबंधी मत का खंडन किया है। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि क्या इन दोहाकोशों की भाषा को याकोबी की तरह पूर्वी अपभ्रंश कहना जरूरी है। और इस प्रश्न का समाधान उपस्थित करते हुए वे आगे कहते हैं कि हाँ, यदि इसका अर्थ वह अपभ्रंश है जो पूर्वी ग्रंथों में प्राप्त होती है तथा जिसमें कुछ पूर्वी प्रभाव हैं और नहीं, यदि कोई उसमें वास्तविक पूर्वी भाषाओं का आधार ढूँढ़ने की कामना करता है। ज्यूल ब्लाख अपभ्रंश संज्ञा को एक 'साहित्यिक भाषा' के ही अर्थ तक सीमित रखना चाहते हैं और उनके विचार से सहज बोलचाल की भाषा के लिए अपभ्रंश

---

१ एस० एन० घोषाल एन एनक्वायरी इन्टू ईस्टर्न अपभ्रंश (एशियाटिक सोसायटी जनल जिल्द २२ संख्या १, १६५६ ई०)

संज्ञा का प्रयोग अवांछित है—खास तौर से उस भाषा के लिए जिसने मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय बोलियों के बीच समन्वय का कार्य सम्पन्न किया था। अन्त में उन्होंने डा० शहीदुल्ला की इस समझदारी की ताईद की है कि उन्होंने सरह और काण्ह की अपभ्रंश को केवल 'बौद्ध' संज्ञा से अभिहित किया है।

पूर्वी अपभ्रंश संबंधी इन विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए श्री एस० एन० घोषाल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि नागर या पश्चिमी अपभ्रंश से एकदम भिन्न एक 'पूर्वी साहित्यिक अपभ्रंश' के अस्तित्व को स्वीकार करना संभव नहीं है। पूर्वी अपभ्रंश नामधारी भाषा के सही रूप एवं स्थान के बारे में घोषाल ने ग्रियर्सन का मत उद्धृत किया है। ग्रियर्सन ने स्पष्ट कहा है कि मार्कण्डेय तथा रामशर्मा द्वारा उल्लिखित ओड्री, माच्या और गौड़ी अपभ्रंश वस्तु उन प्रदेशों में प्रचलित शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश ही हैं। इस प्रकार याकोबी की पूर्वी अपभ्रंश भी पूर्वी क्षेत्रों में प्रचलित पश्चिमी अपभ्रंश के ऐसे भेदों से संबद्ध अथवा तद्रूप ही है।

वस्तुतः याकोबी को भी अपने मत का अनौचित्य स्पष्ट था। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने पूर्वी अपभ्रंश को एक 'साहित्यिक भाषा' ही माना है जो पश्चिमी प्रदेशों से पूर्व में आई थी और पूर्वी क्षेत्र के लिए बहुत कुछ विदेशी थी। गौड़ देश में मागधी प्राकृत प्रचलित थी, जिससे पूर्वी अपभ्रंश अथवा बौद्ध अपभ्रंश का कोई संबंध नहीं है।

पूर्वी अपभ्रंश के संबंध में घोषाल की अपनी धारणा यह है कि पूर्वी प्रदेशों की बोलचाल की भाषा मागधी अपभ्रंश थी जो मागधी प्राकृत की वास्तविक वंशज थी और यह मागधी अपभ्रंश पूर्वी साहित्य में व्यवहृत पश्चिमी अपभ्रंश से एकदम भिन्न थी। जैसा कि ग्रियर्सन, चटर्जी तथा अन्य भाषाविदों ने दिखलाया है, मागधी अपभ्रंश ही बँगला, उड़िया, मगही, मैथिली और भोजपुरिया प्रभृति आधुनिक भाषाओं का मूल स्रोत है। इस प्रकार यदि पूर्वी अपभ्रंश का अर्थ पूर्वी ग्रंथों की साहित्यिक भाषा है तो निश्चय ही पूर्वी अपभ्रंश नाम की कोई चीज नहीं है। लेकिन यदि पूर्वी अपभ्रंश का तात्पर्य मागधी अपभ्रंश से है, जो कि आधुनिक पूर्वी बोलियों का मूल स्रोत है, तो निश्चय ही उसका अस्तित्व था और वह एक जीवित सत्य की भाँति वास्तविक थी।

पूर्वी अपभ्रंश

डा० तगारे के 'पूर्वी अपभ्रंश' की मान्यता सरह और काण्ह के दोहाकोषों पर आधारित है। इन दोहाकोषों की भाषा में परिनिष्ठित अपभ्रंश के अतिरिक्त जो स्थानीय विशेषताएँ हैं उन्हें अलगाते हुए डा० तगारे ने जिन तथ्यों की तालिका दी है, उनमें से

निम्नलिखित मुख्य हैं—

१ पूर्वी अपभ्रंश में कुछ संस्कृत ध्वनियों का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

(i) क्ष>ख—,—क्ख— जैसे क्षण>खण
अक्षर>अक्खर

(ii) त्व>तु—,—त्त— जैसे त्वम्> तुहुं तत्व>तत्त

(iii) द्व>दु— जैसे द्वार>दुआर

(iv) व>ब जैसे वज्र>बज्ज, वेद>बेअ

(v) ष, स }>श

२ संस्कृत श सुरक्षित रहता है।

३ आद्य महाप्राणत्व नहीं होता।

४ लिंग की अतन्त्रता बहुत अधिक है।

५ निर्विभक्तिक संज्ञा पद बहुत मिलते हैं अविकारी सामान्य कारक बनाने की प्रवृत्ति सभी अपभ्रंशों से अधिक दिखाई पड़ती है।

६ अन्य अपभ्रंशों की तरह यहाँ पूर्वकालिक और क्रियार्थक संज्ञा के प्रत्ययों में मिश्रण नहीं हुआ। पूर्वकालिक प्रत्यय—इअ का प्रयोग पूर्वी अपभ्रंश में क्रियार्थक संज्ञा के लिए भी हुआ है, जैसे करइ=(i) करि (ii करना

७ क्रियार्थक संज्ञा के लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश की—अण प्रत्यय का यहाँ प्राय अभाव है। प्राय —इब∠तव्यत् प्रत्यय से क्रियार्थक संज्ञा भी बनाई जाती है।

डा० तगारे ने पूर्वी अपभ्रंश की जो उपयुक्त विशेषताएँ लक्षित की हैं वे प्राय ठीक हैं लेकिन यदि वे दोहाकोषों की सीमा से आगे बढ़कर सरह और कारह की गीतियों अथवा चर्यापदों की भाषा का विश्लेषण करते तो उपयुक्त स्थापनाओं की पुष्टि के लिए पुष्कल प्रमाण मिलते साथ ही कुछ और भी नई विशेषताएँ दृष्टिगोचर हो जातीं। जैसा कि प्रो० पी० सी बागची बहुत पहले ही लिख चुके हैं, वस्तुत दोहाकोषों की रचना बहुत कुछ परिनिष्ठित अपभ्रंश में हुई है, जो पछाँही भाषा थी उनमें केवल कहीं कहीं कुछ स्थानीय प्रभाव तथा लिपि शैली के कारण पूर्वी प्रदेश की बोली के लक्षण दिखाई पड़ जाते हैं।

चर्यापदों की भाषा में दोहाकोषों की अपेक्षा पूर्वीपन अधिक है। किसी एक दोहा और चर्यापद की तुलना से यह बात स्पष्ट हो सकती है। नीचे तुलना के लिए कारह का ही एक दोहा तथा एक गीत उद्धृत किया जा रहा है।

१ पी० सी० बागची ए नोट ऑन द लैंग्वेज ऑफ द बुद्धिस्ट दोहाज ओरिएंटल जर्नल, कलकत्ता जिल्द १

(१) जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरणी सइ चित्त।
समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त ॥१२॥

(२) नगर बाहिरे डोम्बि तोहोरि कुड़िया।
छोइ छोइ जाई सो बाम्हण नाड़िया।
आलो डोम्बि तोए सम करिब म साग।
निघिण काण्ह कपालि जोई लाग ॥ १० (चर्या)

दोहों की भाषा में डा० तगारे का जो भूत कृदन्त प्रत्यय—ल अथवा इल के दर्शन नहीं हुए, चर्यापदों में इसके दर्जनों उदाहरण उन्हें सहज ही मिल जाते।

(१) हउ सूतेलि महासुह लीलें ॥१८॥ (काण्ह)
(२) सुअने मइ देखिल तिहुँअण सुण्ण ॥३६॥ (काण्ह)
(३) चीआ राअ सहावे मूकल ॥३२॥ (सरह)
(४) सरह भणइ वप उजु बट भइला ॥३२॥ (सरह)

गीतों की भाषा में पूर्वीपन का होना स्वाभाविक था क्योंकि वे साधारण लोगों के गाने के लिए लिखे गये थे। इनके विपरीत दोहों की भाषा का पछाँह की परिनिष्ठित अपभ्रंश में होना अनिवार्य था क्योंकि उनमें ज्ञान की सूक्ष्म बातें कही गई थीं। साखी (दोहा) को पछाँह की परिनिष्ठित भाषा में कहने तथा सबदी (पद) को स्थानीय पूर्वी बोली में गाने की परम्परा सिद्धों के बाद भी कबीर आदि तक चलती रही।

साहित्य की भाषा में पछाँह और पूरब का क्षेत्रीय भेद प्राकृत-काल से ही चला आ रहा है और अपभ्रंश-युग में उस भेद के मिट जाने का कोई तर्कसंगत ऐतिहासिक कारण नहीं दिखाई पड़ता।

इसलिए डा० तगारे के वर्गीकरण में जहाँ दक्षिणी अपभ्रंश नामक भेद केवल कल्पना है, वहाँ पूर्वी अपभ्रंश का भेद वास्तविक है, इस शर्त के साथ कि पूर्वी अपभ्रंश की अधिकांश विशेषताएँ चर्यापदों में सुरक्षित हैं। चर्यापदों के आधार पर पूर्वी अपभ्रंश की स्थापना की जाती तो डा० तगारे से प्रो० अल्फ्रेड मास्टर को यह शिकायत न रहती कि पूर्वी अपभ्रंश के वर्गीकरण का आधार बहुत स्वल्प है।[१]

किन्तु इसके साथ ही अल्फ्रेड मास्टर की यह सम्मति युक्तिसंगत प्रमाणित नहीं होती कि डा० तगारे का क्षेत्रीय विभाजन उचित है। मास्टर को आपत्ति है

---

१ बुलेटिन ऑव द स्कूल अव ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज खंड १३ भाग २

अपभ्रंश के पूर्वी भेद पर जब कि आपत्ति होना चाहिए उसके दक्षिणी भेद पर।

वस्तुतः भारतीय आर्यभाषा की पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार अपभ्रंश के भी केवल दो क्षेत्रीय भेद थे—पश्चिमी और पूर्वी जिनमें पश्चिमी अपभ्रंश परिनिष्ठित था तथा पूर्वी अपभ्रंश उसका विभाषा-मात्र था।

अपभ्रंश के इससे अधिक भेदों की सत्ता मनाने के लिए इस समय कोई गुंजाइश नहीं है।

परिनिष्ठित अपभ्रंश और उसकी मुख्य विशेषताएँ

वैभाषिक और क्षेत्रीय दोनों भेदों के बावजूद अपभ्रंश भाषा का एक परिनिष्ठित रूप भी था। इस परिनिष्ठित अपभ्रंश का मूल आधार पश्चिमी प्रदेशों की बोली थी और ऐतिहासिक दृष्टि से यह शौरसेनी प्राकृत की परम्परा में थी। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे पश्चिमी अपभ्रंश और कुछ शौरसेनी अपभ्रंश कहते हैं। हेमचन्द्र ने भी अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश का व्याकरण लिख चुकने के बाद अन्त में 'शेषं शौरसेनीवत्' लिख कर इस तथ्य की ओर संकेत किया है। इसका अर्थ इतना ही है कि शौरसेनी अथवा पश्चिमी अपभ्रंश ने शौरसेनी प्राकृत की कुछ विशेषताओं का निर्वाह करते हुए बहुत-सी नई विशेषताएँ भी प्राप्त कर ली थीं। अपभ्रंश के इस परिनिष्ठित रूप को ठीक ठीक जानने के लिए उसमें प्रचलित प्राकृत के दाय भाग और स्वयं अपभ्रंश द्वारा अर्जित अपनी विशेषताओं का पृथक् पृथक् बोध आवश्यक है।

लिपि शैली की कठिनाइयाँ

लेकिन प्राचीन भाषाओं का वास्तविक रूप जानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि वे जीवित भाषाओं की तरह बोलचाल के रूप में प्राप्त न होकर लिपि के माध्यम से ही सुलभ हो पाती हैं। इसलिए उनकी ध्वनि संबंधी सूक्ष्मताओं की ठीक-ठीक जानकारी तो हो ही नहीं पाती, कभी-कभी लिपिकारों के प्रमाद से रूप-सम्बन्धी विशेषताओं में भी गड़बड़ी हो जाती है। यह बात अपभ्रंश भाषा के भी विषय में लागू होती है। अपभ्रंश की अधिकांश ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ तथा कुछ रूप-संबंधी विशेषताएँ उसके ग्रन्थों की लिपि शैली (अर्थोग्राफी) पर निर्भर हैं।

यद्यपि अपभ्रंश काव्यों के विद्वान सम्पादकों ने बहुत सावधानी से सम्पादन करके अनेक काव्यों का वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत किया है फिर भी ध्वनि-विचार और रूप विचार को प्रभावित करने वाली कुछ लिपि शैली सम्बन्धी समस्याएँ रह जाती हैं।

है। इस संबंध में विद्वानों ने लक्षित किया है[1] कि—

१ आदि और अनादि सघोष व्यंजनों का महाप्राण रूप हो जाता है।

२ स् अथवा र के समीपवर्ती दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य हो जाते हैं।

३ आदि य—प्रायः ज—हो जाता है, इस तरह अपभ्रंश में य—का कोई ध्वनि-मूल्य नहीं था।

४ ऊष्म व्यंजनों में से अपभ्रंश में केवल 'स' अवशिष्ट था।

५. यद्यपि प्राकृत-व्याकरणों ने अपभ्रंश में मध्यग—क —,—त —प —, तथा —ख —, —थ —, —फ —, जैसी अघोष ध्वनियों के घोष (ग, द, ब, घ, ध और भ) हो जाने की व्यवस्था दी है फिर भी अपभ्रंश साहित्य में इस व्यवस्था का पालन नहीं मिलता। अपभ्रंश साहित्य में प्राकृत के ही अनुसार—क, —ग —, —च —, —ज —, —त —, —द —(और —प —भी) लुप्त हो जाते हैं। इसी तरह—ख —, —घ —, —थ —, —ध —, —फ —, —भ —प्रायः —ह —हो जाते हैं।

६ यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश में संयुक्त 'र' को सुरक्षित लक्षित किया है और प्रगण, प्रयावदी, प्राउ प्राइव, प्रिय जैसे प्रयोग भी मिल जाते हैं तथापि सामान्यतः अपभ्रंश में संयुक्त 'र' के समीकरण की ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

७ प्राकृत वैयाकरणों के कथन के बावजूद अपभ्रंश में 'र' का आगम बहुत कम दृष्टिगोचर होता है।

८. यद्यपि —म —अपभ्रंश में यथावत् सुरक्षित था किन्तु —म> —वँ —परिवर्तन की प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। इस परिवर्तन का आरंभ प्राकृत काल से ही हो गया था लेकिन इसकी अधिकता को अपभ्रंश की अपनी विशेषता कहा जा सकता है।

अपभ्रंश जिस विषय में प्राकृत से पृथक् अस्तित्व तथा उससे ऐतिहासिक विकास घोषित करती है वह है उसकी रूप निर्माण संबंधी विशेषता। राहुल जी के शब्दों में 'उसने नये सुबन्तों और तिङन्तों की सृष्टि की है।'

रूप निर्माण की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य में प्राकृत काल के प्राचीन रूप बहुत दिनों तक प्रचलित रहे और बड़े-बड़े अपभ्रंश कवियों की भाषा भी प्राकृत-प्रभाव से सर्वथा मुक्त न थी, फिर भी अपभ्रंश रूप निर्माण की निजी प्रवृत्तियाँ क्रमशः अपनी प्रधानता स्थापित करती चली गईं। ऐतिहासिक दृष्टि से यही नये रूप विशेष महत्वपूर्ण हैं।

---

१ वही §४३ ६८

विद्वानों ने अपभ्रंश रूप निर्माण की प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

१ रूप निर्माण की दृष्टि से प्रातिपादिकों की विविधता अपभ्रंश में नहीं रही विभिन्न स्वरान्त के प्रातिपादिक अकारान्त पुल्लिंग शब्द के कारक रूपों से प्रभावित थे। इस तरह रूपनिर्माण की दृष्टि से अपभ्रंश में केवल अकारान्त पुल्लिंग प्रातिपदिक की सत्ता थी।

२ व्याकरणिक लिंग भेद क्रमशः समाप्त हो चला था और नपुंसक लिंग तो व्यवहारतः लगभग लुप्त हो गया।

३ कारक विभक्तियाँ अपभ्रंश में आते आते सिमट कर केवल तीन समूहों में एकत्र हो गई थीं। पहला समूह प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधन का दूसरा तृतीया और सप्तमी का तथा तीसरा चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी का। इन तीनों समूहों में से अन्तिम दोनों में प्रायः मिश्रण और विपर्यय हुआ करता था जिससे कभी-कभी रूप निर्माण की दृष्टि से सामान्य कारक (डाइरेक्ट केस) और विकारी कारक (ऑब्लीक केस) दो ही का अस्तित्व रहता था। इस तरह जहाँ संस्कृत में कारकों के लिए एक शब्द के २१ रूप होते थे और प्राकृत में १२, वहाँ अपभ्रंश में लगभग ६ रूप रह गये।

अपभ्रंश की घिसी हुई कारक विभक्तियाँ भी प्राकृत से ज्यादा दूर थीं जैसे तृतीया एकवचन में – एण की जगह – एँ और षष्ठी एकवचन में – स्स की जगह – ह आदि।

४ अधिकांशतः प्रथमा और द्वितीया में तथा कभी-कभी अन्य विभक्तियों में भी केवल निर्विभक्तिक शब्द का प्रयोग किया जाता था।

५ निर्विभक्तिक पदों तथा घिसे हुए सविभक्तिक रूपों से उत्पन्न अव्यवस्था और गड़बड़ी को दूर करने के लिए अपभ्रंश में अनेक स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग परसर्ग की तरह किया जाने लगा जैसे तृतीया के लिए, 'सहुँ', 'तण' चतुर्थी के लिए केहि, रेसि पंचमी के लिए होन्तउ, होन्त, थिउ षष्ठी के लिए केरअ, केर, कर, का, की और सप्तमी के लिए मज्झ, मह आदि।

६ काल-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश धातुओं के तिङन्त रूप मुख्यतः लट्, लोट् और लृट् लकारों में ही होते थे शेष लकारों के रूप प्रायः कृदन्तज होने लगे।

७ प्राकृत तक लट् (सामान्य वर्तमान काल) के रूप प्रायः संस्कृत से मिलते जुलते होते थे, जैसे

परवर्ती अपभ्रंश और उसमें हिन्दी के बीज

परिनिष्ठित अपभ्रंश में आधुनिक देसी बोलियों के मिश्रण का आभास हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के रचना काल (११४२ ई०) से ही मिलने लगता है। उनकी 'देशीनाममाला' में भी ऐसे अनेक देशी शब्दों का संग्रह है जो प्राकृत ही नहीं बल्कि अपभ्रंश साहित्य में भी अप्रयुक्त हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग बोलचाल में ही होता रहा होगा, यह बात सहज ही सोची जा सकती है। इसके अतिरिक्त 'काव्यानुशासन' में हेमचन्द्र ने स्वयं ही शिष्ट अपभ्रंश से भिन्न 'ग्राम्य अपभ्रंश' का अस्तित्व स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश सामान्य लोकजीवन में व्यवहृत होने वाली परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही कोई न कोई रूप थी जिसमें समस्त स्थानीय बोलियों का मिश्रण हो गया होगा।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में देसी बोलियों का मिश्रण

इस तथ्य की पुष्टि में विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा वह उस समय बोलचाल से उठ चुकी थी।[१] इस कथन के समर्थन में युक्ति दी गई कि यदि यह भाषा उस समय जीवित रही होती तो उसका इतना सोदाहरण और विस्तृत व्याकरण लिखने की कोई जरूरत न होती। लेकिन सचाई यह है कि किसी भाषा के व्याकरण की सांकेतिक और संक्षिप्त रूपरेखा से ही उसका जीवित रहना सिद्ध नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता तो हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश की तुलना में प्राकृत का संक्षिप्त व्याकरण देखकर प्राकृत को ही उनके युग की जीवित भाषा मानना पड़ता, जो अनैतिहासिक होगा।

ऐसे निराधार अनुमान की अपेक्षा गुलेरी जी का यह कथन अधिक तथ्य पूर्ण प्रतीत होता है कि 'यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत व्याकरण-ग्रन्थों तक तो पहुँच थी किन्तु जो 'भाषा' साहित्य से

१ तेस्सीतोरी इंडियन ऐंटिक्वरी १९१४ पुरानी पश्चिमी राजस्थानी। एन० के० दिवतिया गुजराती लग्वज पृ० २५

स्वभावतः नाक चढ़ाते थे उसके नियमों को न समझने।[1] वस्तुत हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण पण्डितों के लिए लिखा था, जन-साधारण के लिए नहीं

फिर भी यह निश्चित है कि हेमचन्द्र के समय तक साहित्य म अपभ्रंश का एक रूप स्थिर और परिनिष्ठित हो चुका था। यदि उसकी स्थिरता में कुछ कमी रह भी गई थी तो हेमचन्द्र ने व्याकरण लिखकर वह कमी पूरी कर दी। अपभ्रंश के परवर्ती कवियों में से पण्डितों ने प्रायः साहित्यिक अपभ्रंश को सामने रखकर किताबी भाषा म रचना की। ऐसे प्रयत्न हेमचन्द्र के तीन सौ वर्ष बाद तक होते रहे। परवर्ती अपभ्रंश के वास्तविक स्वरूप का पता पाने के लिये पण्डितों के ये काव्य विशेष काम के नहीं हैं।

लेकिन हेमचन्द्र के बाद अपभ्रंश काव्य की एक और भी धारा प्रवाहित रही जिसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश के नियमों का कड़ाई से पालन करने की अपेक्षा लोक प्रचलित भाषा का उपयोग होता था। इस मिश्रित भाषा में रचे हुए ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से तो उत्कृष्ट हैं ही, आधुनिक देशी भाषाओं के आरम्भिक रूप के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। भारतीय आर्य भाषा के इतिहास अथवा विकास की दृष्टि से परवर्ती अपभ्रंश का यह देश्य मिश्रित साहित्य विशेष महत्व का है और सच्चे अर्थों में 'परवर्ती अपभ्रंश' यही है।

भाषा में प्रसार के साथ स्थान भेद का आना स्वाभाविक है और यही घटना अपभ्रंश में भी घटी। जब अपभ्रंश सिंध के मुल्तान से लेकर बङ्गाल के सम तट तक और कन्नौज से लेकर मान्यखेट तक फैल गया तो इसमें स्थानीय विशेषताओं का उभार आवश्यक था। पूर्वी और पश्चिमी का भेद तो अपभ्रंश में हेमचन्द्र से पहले भी था, लेकिन परवर्ती अपभ्रंश में यह भेद और भी गहरा हुआ। यह देश भेद धीरे धीरे इतना बढ़ा कि तेरहवीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी बोलियों का स्वतन्त्र रूप प्रकट कर दिया। परवर्ती अपभ्रंश की यह सब से बड़ी विशेषता है।

परवर्ती अपभ्रंश में देश भेद

देश भेद के अनुसार देखने से पश्चिमी प्रदेशों के परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य की सामग्री थोड़े-बहुत अन्तर के साथ कालक्रम से इस प्रकार है—

परवर्ती अपभ्रंश का पश्चिमी साहित्य

१ संदेश रासक (१२ वीं सदी ईस्वी का पूर्वार्द्ध) —अब्दुल रहमान, मुल्तान।

२ बाहुबलि रास[2]—(११-४ ई०)—शालिभद्र सूरि, गुजरात

[1] पुरानी हिंदी पृ० १३०

[2] भारतीय-विद्या, वर्ष २ अंक १ में प्रकाशित।

थूलिभद्द-फागु—(१२००ई०)—जिन पद्म सूरि गुजरात
४ नेमिनाथ चापइ—(१२०० ई०)—विनयचन्द्र सूरि गुजरात
५ समर रास (१३१४ ई०)—अंबदेव सूरि गुजरात
६ नेमिनाथ फागु—(१३१४ ई०)—राजशेखर सूरि गुजरात
७ शालिभद्र कक्का (१३००)—अज्ञात[१] गुजरात
८ प्राकृत-पैङ्गलम्—(१२ वीं से १५ वीं सदी) में उद्धृत बब्बर, जज्जल, विद्याधर, हरिब्रह्म तथा कुछ अज्ञात कवियों की रचनायें जिनका रचना स्थान मुख्यतः मध्यदेश है।
९ षडावश्यक बालावबोध[२] (१३५४ ई०)—तरुणप्रभसूरि, गुजरात
इनके अतिरिक्त और भी अनेक पद्य तथा गद्य-खण्ड बिखरे हुए हैं।

पश्चिमी प्रदेशों के परवर्ती अपभ्रंश साहित्य की इन बिखरी हुई सामग्रियों का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण अपेक्षित है। इस सामग्री में भी देश-काल भेद का आभास मिलता है। सदेश रासक की भाषा से प्राकृत पैङ्गलम् में उद्धृत पद्यों की भाषा निश्चित रूप से विकास की सूचना देती है, इसके साथ ही उसमें स्थानीय विशिष्टता भी है। प्राकृत-पैङ्गलम् के पूर्वोक्त पद्यों की भाषा में पुरानी ब्रजभाषा के बीज अधिक हैं जब कि 'संदेश रासक' की भाषा में ये बीज अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। तुलना के लिए यहाँ दोनों काव्यों से क्रमशः एक एक छन्द लिये जा सकते हैं—

पश्चिमी प्रदेश के परवर्ती अपभ्रंश की विशेषता

(१) किं तहि देसि णहु फुरइ जुण्ह णिसि णिम्मल चंदह,
अह कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविंदह।
अह पायउ णहु पढइ कोइ सुललिय पुण राउण,
अह पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससित्त घण कुसुमभरु।
अह मुणिउ पहिउ ! अणरसिउ पिउ, सरइ समइ जु न सरइ घरु ॥
—संदेश रासक ॥१८३॥

---

१ तीसरी से सातवीं तक की पुस्तकें प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित संगृहीत हैं।

२ जर्नल अव दि यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसायटी वर्ष २२ खण्ड १-२ १९४९ ई० में प्रकाशित श्री अगरचंद नाहटा का निबन्ध 'आचार्य प्रवर तरुण प्रभ सूरि'।

(२) पिधउ दिढ सण्णाह, बाह उप्पर पक्खर दइ,
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ ।
उड्डल णहपह भमउ खग्ग रिउ-सीसहि डारउ,
पक्खर-पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउ ।
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ, कोहाणल मुह मह जलउ ।
सुलताण-सीस करवाल दइ, तेज्जि कलेवर दिअ चलउ ॥
—प्राकृत पैंगलम ॥१८०॥

इसी तरह यदि १४वीं सदी ईस्वी के 'षडावश्यक बालावबोध' की इनकी तुलना में रखा जाय तो भाषा के विकास का एक और सोपान प्रकट होगा।

"अनन्त गुण भगवन्त पूजापुण्य परिमितइ जितिश करिणि एह अर्थ विषइ काइ एक कहियइ ।

दशार्ण पुर इसइ नामि नगर । तिहाँ दशार्ण भद्र नामि राजा तिहाँ दशार्णु इसइ नाम गिरि । अनेरइ दिनि । श्री महावीरु तिहाँ समोसरिउ । उद्यानपालकि श्री महावीर समागमनि करी दशार्ण भद्र राउ वधाविउ । अति हर्ष प्रकर्ष रउइ तउ राउ सिंहासन हूँतउ ऊठिउ श्री महावीर सामहु सप्त आठ पग जाइ उत्तरासंगु करी तिहाइ जि धिकउ विधि सउ वांदइ । सिंहासनि बइसी उद्यान पालक रहइ पारितोषिकु दानु दे करी चित्त माहि चीतवइ । प्रभातितिम किमइ श्री महावीर वादिसुजिम अनेरइ किणिहि न वादिउ । इसउ ध्यायतइ हूँतइ नगर शोभाकराना प्रभाव समइ स्नान शृंगार करी । अतिसार अलङ्कार पहिरी सब समृद्धि सहितु सामन्त मंत्रि मंडलेश्वर परिवरितु शाव पुत्र हस्तिस्कंध समारूढु चउरंग कटक समेतु आपणइ लक्ष्मी मदिकरी त्रिभुवनु तृणजिम मानतउ हूँतउ श्री महावीर देव वांदिवा चालिउ पदि-पदि गीत नृत्य नाटक कौतुक करवतउ कनकदान रूप्यदान वस्त्रादि दान दियतउ हूतउ दशार्णभूधर कन्हइ आविउ गय सिंदूर हूतउ उतरि करी समवसरण माहि तिहि प्रदक्षिणा । देकरी श्री महावीर प्रणमी करी यथा स्थानि बइठउ । अहो दशार्ण भद्र रहइ विश्व पूज्य पूजन विषइ वैरउड रागु । अहइ पर सुरागु । ऋद्धि मदद्रूपणु कथिकरी कलुषितु । सब सुरासुर नरनायक नइ आपणी सब समृद्धि विस्तारी करी तीर्थकर रहइ समकालु पूजइ । तथापिहि सब प्रकर्षिकरी पूजितु न होइ । अमान गुणु भगवंतु पूजा सब प्रकार कृतइ परिमिति इति ।... "[१]

उपर्युक्त गद्यांश 'षडावश्यक बालावबोध' में से दशार्णभद्र कथा से उद्धृत किया गया है। इसमें शब्दकोश की दृष्टि से जो सबसे नई बात है, वह है तत्सम

[१] श्री नाहटा के उक्त निबंध से उद्धृत ।

शब्दों का प्रयोग। अपभ्रंश के बाद आधुनिक आर्यभाषाओं के आरम्भ का यह पहला संकेत है। इस गद्यांश की दूसरी नवीनता है परसर्गों का अत्यधिक प्रयोग तथा प्राचीन कारक विभक्तियों का प्रायः अप्रयोग। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वाक्यों में क्रम तथा नैरंतर्य बनाये रखने के लिए उपयुक्त परसर्गों के अभाव में सर्वनामों का प्रयोग किया गया है जैसे पहले ही वाक्य में 'एह अथ गिगई ...' और दूसरे वाक्य में 'दशाया पुरु इसह नाम नगरु'।

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने 'वर्ण-रत्नाकर' के गद्य में भी इसी तरह के 'पेरीफ्रेसिस' का लक्षित किया है।[1] निश्चित रूप से यह परवर्ती अपभ्रंश के वाक्य विन्यास की अपनी विशेषता है जिससे आधुनिक आर्य भाषाओं के आरंभिक रूप का पता चलता है, उदेश-रासक की भाषा का यह अगला सोपान निश्चित रूप से माना जा सकता है।

परवर्ती अपभ्रंश में भी क्रमिक विकास के इस सूत्र का ध्यान में रखते हुये यह विचारणीय है कि ये कौन से मुख्य उपाय थे जिनके द्वारा परवर्ती अपभ्रंश ने अपने को पूर्ववर्ती प्रभाव से मुक्त किया तथा पश्चिमी प्रदेश की आधुनिक बोलियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

परवर्ती काल की पश्चिमी अपभ्रंश ने परम्परा प्राप्त शब्द-समूह को श्रुति-सुख तथा उच्चारण योग्य बनाने के लिए निम्नलिखित मुख्य उपायों से काम लिया।

ध्वनि-संबंधी प्रवृत्तियाँ

१ प्राकृतों के संयुक्त व्यंजनों में सरलता लाने के लिए कभी क्षतिपूरक दीर्घीकरण जैसे नीसासा < निस्सास (= निश्वास), नीसरइ < निस्सरइ (= निःसरति), वीसरइ < विस्सरइ (= विस्मरति), ऊसास < उस्सास (= उच्छ्वास) आदि और कभी बिना-क्षतिपूरक दीर्घीकरण के ही व्यंजन द्वित्व को तोड़ना जैसे कणयार < कण्णियार (= कर्णिकार), वखाणियइ < वक्खाणियइ (= व्याख्यान), कपूर < कप्पूर (= कर्पूर), चूडिलउ < चूडिल्लउ, आलस < आलस्स (= आलस्य) आदि। ये दोनों प्रवृत्तियाँ परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी मौजूद थीं, किन्तु परवर्ती अपभ्रंश में बहुत बढ़ गई।

२ मध्यग क ग च ज त द प य व आदि व्यंजनों के लोप होने से प्रायः एकाधिक स्वर साथ-साथ सुरक्षित रहकर जहाँ विवृत्ति या विच्छेद (हायटस) उत्पन्न कर देते थे वहाँ संधि और समीकरण प्रक्रिया का प्रयोग, जैसे

सहार < सहआर (= सहकार)
सुनार < सुवण्णआर (= स्वर्णकार)

---

१ वर्ण रत्नाकर अंग्रेजी भूमिका §३८

अँधार < अंधआर (= अंधकार)

मार < मऊर (= मयूर)

असंयुक्त स्वरों को संयुक्त करने की इस प्रवृत्ति के साथ ही संकोचन की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठी थी कि अन्त में आने वाले स्वर भी पूर्ववर्ती स्वर के साथ संयुक्त होने लगे। क्रियारूपों में यह प्रवृत्ति विशेष काम कर रही थी। जैसे—

कीजै < किज्जइ, करावै < करिव्वइ, रहै < रहइ, कहावै < कहिज्जइ आदि

३ कुछ विद्वानों ने कारकरूपों में निरनुनासिकता को भी अपभ्रंश का प्रादेशिक विशेषता न मानकर परवर्ती विकास माना है।[1] जैसे सन्देश रासक में तृतीया और सप्तमी में—हिं अन्त वाले रूपों की जगह—हि अन्त का प्रयोग इसी तरह षष्ठी बहुवचन में—हं की जगह—ह और नपुंसकलिंग के प्रथमा-द्वितीया एक वचन में—इं की जगह इ—आदि।

४ अनुनासिक व्यंजन के साथ उसके बाद आने वाले व्यंजन का समीकरण होना भी परवर्ती अपभ्रंश की प्रवृत्ति कही गई है[2] जैसे

सनहय < सन्देशक (न+द)

सामोर < साम्बपुर (म+ब)

५. 'सन्देशरासक' की भाषा पर विचार करते हुये भी भायाणी ने मध्यग—व—क लोप को परवर्ती अपभ्रंश की ऐसी प्रवृत्ति माना है जो ब्रजभाषा की विशेषताओं में से एक है[3] जैसे—

मंनाइ (= मनावि) मनाएवि (= मनावेवि), पाइय (= पाविय), पाउ (= पाव), सहाउ (= सहाउ)।

रूप निर्माण सम्बन्धी विशेषताएं

परवर्ती अपभ्रंश तद्भव शब्दों के ध्वनि-परिवर्तन करने में उतनी सक्रिय नहीं रही, जितनी अपभ्रंश के स्थिर और संश्लिष्ट पदों को और भी विश्लिष्ट करने में। परवर्ती अपभ्रंश में जो आधुनिक भाषाओं के बीज मिलते हैं वे बहुत कुछ इसी रूप निर्माण के क्षेत्र में।

१ लगभग सभी कारकों में बहुत्ले के साथ निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग करना परवर्ती अपभ्रंश की ऐसी प्रवृत्ति है जो पुरानी राजस्थानी, ब्रज और गुजराती सभी भाषाओं में बहुतायत से मिलती है। हेमचन्द्र के समय यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल न थी। उन्होंने प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी केवल तीन

---

[1] सन्देश-रासक व्याकरण §७७

[2] वही § ३५-५ [3] वही § ३३ सी

विभक्तियों में लाप का निर्देश किया था। हेमचन्द्र के उदाहरणों में भी इस तरह के उदाहरण अधिक नहीं हैं। लेकिन संदेश रासक, प्राकृत-पैङ्गलम् तक आते आते ऐसे निर्विभक्तिक पदों की लड़ी लग जाता है।

२ विभक्ति-लोप के साथ ही अधिक से अधिक परसर्गों का प्रयोग भी बढ़ने लगा। हेमचन्द्र-व्याकरण में जहाँ मुश्किल से पहि, तेंणि, तणेण, हान्तओ, केरअ, पेर, मज्झि आदि गिने-चुने परसर्ग मिलते हैं वहाँ 'संदेश रासक' में एक साथ सरिसहिं, सम, सरिसु, हुंतउ, ठ्ठियउ, रसि, लग्गि, तणि, महि, आदि विविध परसर्ग दिखाई पड़ने लगे। पश्चिम के दूसरे ग्रन्थों में भी इन परसर्गों के थोड़े बहुत परिवर्तित रूप तथा कुछ अन्य नये परसर्ग भी मिलते हैं।

३ श्री भायाणी का सुझाव है कि 'संदेश रासक' में संजीवयर और अवइायर आदि शब्दों की यर = *कर प्रत्यय हिन्दी के 'लुटेरा' 'चितेरा' आदि शब्दों की – एरा प्रत्यय की जननी है।[१]

४ पूर्वकालिक क्रिया के लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश में जहाँ – इवि, – अवि, – वि, – इ आदि प्रत्यय आते थे वहाँ परवर्ती अपभ्रंश में संयुक्त-पूर्वकालिक रूपों का प्रचलन हो गया जैसे—वहेवि करि। पूर्ववर्ती अपभ्रंश में केवल 'वहेवि' से ही काम चल जाता। स्पष्ट है कि आगे चले कर हिंदी में ऐसे ही दुहरे पूर्वकालिक रूपों का ही प्रचलन हुआ जिनमें मूल क्रिया में पूर्वकालिक प्रत्यय लुप्त करने के बाद √कर् (= √कृ) का भी वैसा ही पूर्वकालिक रूप जोड़ कर काम चलाया जाता है।[२]

५ क्रियापदों के क्षेत्र में परवर्ती अपभ्रंश ने सबसे बड़ा कार्य किया संयुक्त काल और संयुक्त क्रियाओं का बहुल निर्माण। संयुक्त-काल के निर्माण में प्राय √भू, √अस्, √कृ के सामान्य वर्तमान वाले रूपों के घिसे हुए रूप सहायक क्रिया के रूप में व्यवहृत होते थे तथा उससे पूर्व मूल क्रिया कभी भूतकृदन्त होती और कभी वर्तमान कृदन्त का कुछ घिसा हुआ रूप जैसे करत अच्छि।

संयुक्त क्रिया में प्राय सिद्धावस्थापन्न क्रिया (इनफाइनाइट वर्ब) का समूह का प्रथम अंश होती है मुख्यतः या तो पूर्वकालिक होती है या क्रियार्थक (तुमुन्नन्त) या शतृ कृदन्तज और साध्यावस्थापन्न क्रिया (फाइनाइट वर्ब) प्राय काल निर्माण करती है। जैसे—'संदेश रासक' में—

सिसिरिसु रहइ (१८ ग), सक्खर-सक्खर हरि गउ (६५ घ),

असेस तरुय छांडि करि गय (१६२ घ) आदि में

१ संदेश रासक व्याकरण ४६-५

२ वही ६८

सिद्धावस्थान्त क्रियायें प्राय पूर्वकालिक हैं और
कहि न सक्कउ (१ १ क) में 'कहि' नियामक है।

रूप और अर्थ की दृष्टि से संयुक्त क्रियाओं की विविधता अन्यत्र भी दिखाई पड़ती है।

पश्चिमी प्रदेशों की अपेक्षा पूर्वी प्रदेशों का परवर्ती अपभ्रंश साहित्य मात्रा में अल्प होता हुआ भी आधुनिक देशी भाषाओं के आरम्भ की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। बारहवीं शताब्दी में काशी के दामोदर पंडित द्वारा लिखा हुआ 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जो सम्भवत गाहड़वाल राजकुमारों को स्थानीय देशभाषा के माध्यम से संस्कृत पढ़ाने के उद्देश्य से लिखा गया था। यत्र-तत्र उसकी भाषा के जो फुटकल नमूने सामने हैं, जैसे पढ़ब, लिखब, अभ्यासब जैसी भविष्यत् कृदन्त की क्रियायें, उनसे पता चलता है कि पूरब की बोलियों का प्राचीन रूप उसमें अच्छी-तरह सुरक्षित है।

पूर्वी प्रदेशों का परवर्ती अपभ्रंश साहित्य

इसके अतिरिक्त ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर (१४वीं सदी का पूर्वार्द्ध) तथा विद्यापति ठाकुर की 'कीर्तिलता (१४वीं सदी का उत्तरार्द्ध) दो ऐसी पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश की सुदूर पूर्व की बोली से है। विद्यापति की एक और ऐसी ही पुस्तक 'कीर्तिपताका' का भी विवरण मिलता है।[1]

शास्त्री जी ने 'कीर्तिपताका' से एक अपभ्रंश छन्द भी उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

पविडअमरडलिबद्धपुरो मीयमकीरमुहेन।
बाणीमहुरमहुपूरस पिअउ स्ववनसवनेन॥

'प्राकृत-पैंगलम्' के उदाहरणों में कुछ कथित ऐसे भी हैं जिनपर पूर्वी बोली की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है।[2] जैसे—

१ करुणा पअले मढइ निअले सो देउ पराअण तुम्हवरा।(५७)
२ यहि मथ इथल कहूँ।
३ विदक पूरल मेधरा।
४ मदि चलइ मुअल जिवि उदए।

---

१ म० म० हरप्रसाद शास्त्री—नेपाल दरबार लाइब्रेरी के ताडपत्र तथा अन्य हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र १९०५ ई०।

२ देखिए 'वर्ण चरित की भूमिका, प० ३ १०

५ मारर तोहर सकट सहर।

श्री अगरचंद नाहटा ने 'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' निबन्ध में १४वीं सदी के कुछ गद्यांशों का उद्धरण दिया है जिनमें से एक अंश में पूर्वी प्रदेश की बोली का पुराना रूप सुरक्षित है।[१]

"अथ पूर्वी नायिका यालथा सुणहुगे रे भइया। इधु बुगि जाणि यह धारे, निछुरे मारी यहिना, पुनि पुनि मार देसु कितपु नरति आहि। मार देस की बात न जानसि, जेहि देस ऐसे मानुस कैसे इनकु धीरे धीरे विवेकिए। परम दाय व माउन मरार मल्ल, तुम्ह कतुवे जान कतुवे परान, यवाकी आन! अम्हीं तुम्हीं बड़ा अन्तर आहि! कहसु अन्तर, तुम्हके मानुस तरि मोटे, उपरि मारे त्रिचि छोटे। अत अम्ह के मानुस नाहे यिचि पृनु करसु सार बिट्ठ आहि। अइस दांतु इट, जइसा पूनम का चाँद। अइफोटर क चारर साइयहि। गात गाइयह। तुठि नाक वनिये वसहि कइसे बनिय। अन्विथा!"

खोज से इस तरह के और भी गद्य तथा पद्य मिल सकते हैं।

अपभ्रंश में आधुनिक देशी बोलियों का जितना प्रगाढ़ मिश्रण पूर्वी प्रदेशों में दिखाई पड़ता है, उतना पश्चिम में नहीं। पश्चिमी प्रदेश की साहित्यिक भाषा बहुत दिनों तक परिनिष्ठित अपभ्रंश से प्रभावित रही किन्तु पूरब के लिए वह शुरू से ही मात्र साहित्यिक भाषा होने के कारण स्थानीय बोली से अलग रही। फलतः पूरब में देशी बोलियों का उभार बहुत तेजी से हुआ।

पूर्वी प्रदेश के परवर्ती अपभ्रंश की विशेषता

१ पूरब की परवर्ती अपभ्रंश पश्चिम से जिस विषय में अत्यधिक विशिष्ट थी वह है शब्दकोश। परवर्ती काल की पूर्वी अपभ्रंश में जिस मात्रा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ग्रहण किया गया, पश्चिमी में उसका शतांश भी नहीं हुआ। एक ओर कीर्तिलता और वर्णरत्नाकर तथा दूसरी ओर सन्देश रासक से 'प्राकृत पैंगलम्' तक की रचनाओं से तुलना करने पर यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है। इसी तरह इस्लाम के संपर्क से अरबी और फ़ारसी शब्दों का ग्रहण भी पूर्वी अपभ्रंश में बहुत हुआ। उसकी तुलना में पश्चिमी अपभ्रंश में ये शब्द बहुत कम मिलते हैं। यह अवश्य है कि कीर्तिलता और वर्ण रत्नाकर ने अरबी और फ़ारसी शब्दों को अपनी स्थानीय उच्चारण विधि के अनुकूल मोड़कर ग्रहण किया। जैसे—तुर्क को तुलुक अथवा तुरुक सुल्तान को सुरतान हज़ार को हजार, प्याज को पयाजु बनाकर अपनी बोलचाल में खपा लेने की कोशिश की गयी।

२ संज्ञा शब्दों की रूप-रचना के क्षेत्र में भी परवर्ती युग की पूर्वी अपभ्रंश

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४६, अंक ३ सं० १९९८ वि०

न पश्चिमी अपभ्रंश से विकास के अग्रिम चरण दिखलाए। पश्चिमी अपभ्रंश में विकारी कारकों (आब्लीक केसेज) के निर्माण में उतनी एकरूपता तथा स्थिरता नहीं आ सकी थी जितनी पूर्वी में आई। पश्चिमी अपभ्रंश में एक वचन और बहुवचन के अन्तर को स्पष्ट करने वाले रूपों के का प्रचलन प्राय कम या नहीं था। पूर्वी अपभ्रंश में लगभग सभी कारकों के विकारी रूप बहुवचन में—न्हि, न्ह, अथवा—न अन्त वाले होत थे। जैसे

प्रथमा—मयूरन चरइतें अछ (वर्णरत्नाकर, २१ क)
द्वितीया—दास गोंसाञ्नि गहिअ, (कीर्तिलता, पृ १६)
गो बोलि गमारन्हि छाड (,, पृ० ३६)
तृतीया—वायसन्हि कोलाहल कए, (वर्ण० २६ ख)
जुवतिन्हि जलकेलि आरहु (, ३० क)
तन्हे मन्तिन्ह कियउ प्रस्ताव (कीर्ति० ५६)

षष्ठी और सप्तमी बहुवचन के रूपों की यह विशेषता है कि—न्हि,—न्ह अन्त वाले इन विकारी रूपों के बाद परसग भी प्रयुक्त होते थे। जैसे—

षष्ठी—जुवतिन्हि क उत्कंठा (वर्ण० ३० ख)
वेश्यान्हि करो निवास (कीर्ति ३२)
सप्तमी—युवराजन्हि माँझ पवित्र (कीर्ति १२)

३ निर्विभक्तिक अथवा लुप्तविभक्तिक पदों के बाद परसर्गों का प्रयोग करने में पूर्वी अपभ्रंश ने पश्चिमी की अपेक्षा अधिक साहस का परिचय दिया, यहाँ तक कि कीर्तिलता और वर्णरत्नाकर की भाषा इसी परसर्ग बहुलता के कारण लगभग विश्लिष्ट भाषा की श्रेणी में आ गई। नीचे परसग प्रयोग के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

तृतीया—जुआर-सञो (वर्ण० ३८ क)
मृत्यु सञो कलकल करइतें अछ (वर्ण ४१ क)
मानिनि जीवन मान सञो (कीर्ति० ६)
चतुर्थी—भोजन कारण (वर्ण० ४७ ख)
जुझ देक्खइ कारण (कीर्ति० १०६)
सामि काज सगरे (कीर्ति० ८४)
एही आलिंगए-लागि (वर्ण० १८ क)
तवे मन कर तेसरा-लागि (कीर्ति०)
पञ्चमी—(१) जनि अमृत क सरोवर-सञो पक उद्धारि

काह पाती भेल पैठि (कीर्ति० ३०)
जनि अन्य पर्यन्त विश्वकर्मा एही काय छल। (कीर्ति० ५०)

(घ) कृदन्तज सिद्धावस्थापन्न क्रिया + तिङन्तज साध्यावस्थापन्न क्रिया की विधि से विविध संयुक्त काल बनाने की प्रवृत्ति 'वर्णरत्नाकर' से ही आरम्भ हो गई थी जिसका पर्याप्त विकास आधुनिक बोलियों में हुआ। जैसे—

होइते अछ (वर्ण० १३ क), करइते अछ (३७ ग)
भेल अछ, भेल छथि (५२ ख)
भए गेल छथि चलत भउअह (४६ ख) आदि

(ङ) संयुक्त क्रिया निर्माण की जो प्रक्रिया परिनिष्ठित अपभ्रंश में आरम्भ हुई थी, पूर्वी प्रदेश की परवर्ती अपभ्रंश ने उसमें और भी विविधता तथा व्यापकता दिखाई जैसे

हकारी हलुअह (वर्ण० ४४ ख), सबके पाटा देल (५६ ख)
भए गेलाह (१८ क) आ भउ (३० ख)
भअइ गउ (३३ क)

परवर्ती काल के पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंशों के बीच एक मध्यदेशीय अपभ्रंश का भी अस्तित्व प्रमाणित होता है। बारहवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध में काशी के दामोदर पण्डित द्वारा रचित 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' में पाई जाने वाली देश भाषा यही मध्यदेशीय अपभ्रंश है।

उक्ति व्यक्ति-प्रकरण और मध्यदेशीय अपभ्रंश

'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' की अपभ्रंश 'वर्ण रत्नाकर', 'कीर्तिलता' और चर्यापदों के अपभ्रंश से बहुत कुछ भिन्न है। उसमें मागधी के तत्व उतने नहीं हैं जितने कि अवधी के बीज हैं। यहाँ तक कि डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने 'उक्ति-व्यक्ति' की देश भाषा को 'प्राचीन कोसली' कहा है।[1] इस प्रकार 'उक्ति-व्यक्ति' की भाषा को परवर्ती युग के पूर्वी अपभ्रंश से भिन्न मध्यदेशीय अपभ्रंश के रूप में विचार करना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। 'उक्ति-व्यक्ति' का महत्व विशेष रूप से इसी बात में है कि उसके द्वारा पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंशों के बीच मध्यदेशीय अपभ्रंश के स्वरूप का पता चलता है। अब तक इस क्षेत्र की देश भाषा का प्राचीनतम रूप बतलाने वाला यह पहला ग्रन्थ है।

'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' पाँच प्रकरणों में समाप्त होने वाला एक व्याकरण ग्रन्थ है जिसमें कुल मिलाकर ५० कारिकाएँ हैं और इन कारिकाओं पर स्वयं

---

१ उक्ति व्यक्ति प्रकरण स्टडी पृ० २-
प्रस्तुत प्रसंग में डा० चटर्जी की स्टडी का विशेष उपयोग किया गया है।

ग्रंथकार ने ही विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। प्रकरणों के नाम क्रमशः 'क्रियानि व्यक्ति', 'कारकाक्ति व्यक्ति', 'उक्तिभेद', 'लेखनविधि' और 'व्यावहारिक-लेख पत्र निसम क्रम' है। इनमें से आरंभिक तीन प्रकरण तो सव्याख्या उपलब्ध हैं लेकिन शेष दो प्रकरणों की व्याख्याएँ नहीं मिलतीं। व्याख्यात्मक अंश में एक विशेष बात यह है कि प्रथम प्रकरण की नवीं कारिका की व्याख्या अत्यंत विस्तृत है जिसमें सैकड़ों देशी क्रियाओं के प्रयोग दिए गए हैं। व्याकरण की दृष्टि से आरम्भ के दोनों प्रकरण—क्रियाक्ति और कारकाक्ति विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

ग्रन्थकार ने 'उक्ति-व्यक्ति' नाम की व्याख्या करते हुये पहली कारिका की टीका में लिखा है कि

उक्तेर्भाषितस्य व्यक्तिं प्रकटीकरणं विधास्याम। अपभ्रंशभाषाच्छन्ना संस्कृतभाषा प्रकाशयिष्याम इत्यर्थः। अर्थान्तरमपि यथा—उक्तायाभ्रभाषिते व्यक्तीकृतं संस्कृतं तदेव करिष्याम इत्यर्थः।

तात्पर्य यह कि इसमें तत्कालीन देश भाषा के प्रयोगों को संस्कृत व्याकरण के आधार पर समझाया गया है।

मुनि जिन विजय जी ने इस ग्रंथ के प्रास्ताविक वक्तव्य में सूचित किया है कि उस समय इस प्रकार के 'उक्ति' ग्रंथ बहुत से लिखे गए थे और उनमें से कई अब भी उपलब्ध हैं। ऐसे चार-पाँच उक्ति ग्रंथों का संग्रह 'उक्ति रत्नाकर' नाम से मुनि जी ने प्रकाशित किया है।

जैसा कि उपर्युक्त संस्कृत व्याख्या से स्पष्ट है, ग्रंथकार ने ग्रंथ में प्रयुक्त देश भाषा को सामान्यतः अपभ्रंश कहा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'उक्ति व्यक्ति' की देश भाषा परिनिष्ठित अथवा शौरसेनी अपभ्रंश है। ऐसा प्रतीत होता है कि पंडित मंडली उन दिनों भी संस्कृत और प्राकृत के विपरीत लोक प्रचलित देश भाषा को सामान्य रूप से अपभ्रंश कहा करती थी। 'उक्ति व्यक्ति' की छठीं कारिका की टीका में ग्रंथकार ने अपभ्रंश के विषय में जो कुछ कहा है, उससे तत्कालीन पंडितों के मत का अनुमान लगाया जा सकता है—

'प्रतिदेशभिन्ना येयं सर्वजनसाधारणा भाषा गावी गोणी प्रभृतिका साऽपभ्रंश उच्यते। सा च संस्कृतभाषामुज्झित्वा प्रवृत्ता। तुरुष्कदेशे द्विजाति जाति तुरुष्कजातिरिव। ततो देशे देशे प्रतिविषय लोके पामरजनो यया यया गिराऽपभ्रष्टया यत् किंचिदभिधेयं वस्तु वक्ति व्यवहरति साऽपभ्रंश-भाषा, तदेवार्थं संस्कृतरचिता संस्कृतशब्दवाच्येन स्वरूपेण प्रयुक्ता प्रयोगं नीता, वाच्यत्वमायाति। यां संस्कृतभाषामुज्झित्य याऽपभ्रंशभाषा प्रवृत्ता तस्याः स्थाने यदा सैव संस्कृतभाषा पुनः परिवर्त्य प्रयुज्यते तदाऽपभ्रंशभाषैव विध्वत्वं प्राप्नोति। पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मण्यत्वमिति चेति।'

चूँकि 'उक्ति व्यक्ति' व्याकरण ग्रंथ है इसलिये देशभाषा के नमूने विकार्य वाक्यों, वाक्यांशों अथवा पदों के रूप में ही प्राप्त होते हैं। ग्रंथकार ने प्रायः ऐसे वाक्यों और वाक्यांशों का संस्कृत अनुवाद भी दे दिया है। भाषा पर विचार करने से पूर्व ग्रंथ की पद्धति का कुछ नमूना देख लेना आवश्यक है। उदाहरणार्थ यहाँ नवीं कारिका और उसकी व्याख्या का कुछ अंश दिया जा रहा है।

धाचि' इति कर्तृ निष्ठा 'कीज' इति साध्यमा क्रिया स्मरात्।

अस्ति-करोती धातु अकर्मक सकर्मका एवम्।

अथ 'अकर्मक सकर्मका एवम्' इत्युक्तम्, अतो बालशिक्षाय तदनुगता साकाङ्क्षया अपरा अपि कियन्तो लिख्यन्ते। तथाकर्मकधात्वर्थानुगतास्तावद् यथा—गंग न्हाएं धम हो, पापु जा'—गङ्गायां स्नाते धर्मो भवति, पापं याति।

अथवा—'धमु भा, पापु गा'—धर्मो बभूव, पापं जगाम।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा के नमूने

अथवा—'धर्म होइह, पापु जाइह'—धर्मो भविष्यति, पापं यास्यति।

—एवमन्यदपि पल्लवा पूर्वोक्ता मतिप्रयोग वाक्या बाल शिक्षार्थम्। ग्रन्थविस्तारभयान्न न दर्शिता।

'जस जस धमु वाढ, तस तस पापु घाट'—यादृग् यादृग् धर्म वर्धते तादृग् तादृग् पापं घटति, घट्यति वा। घट चलने भ्वादौ चुरादौ च।

'जब जब धमु बाढ, तब तब पापु ओहट'—यदा यदा धर्मो वधते, तदा तदा पाप अवघटति, अवघट्यति वा। घट बधाते चुरादौ।

'जैसें जैसें धमु जाम, तैसें तैसें पापु खाम'—यथा यथा धर्मो जायते, तथा तथा पापं क्षीयते। जनो प्रादुर्भावे चये, क्षयति वा।

'जइ जेइ धमु पसर, तेइं तेइ हापु ओसर'—येन येन धर्मः प्रसरति, तेन तेन पापमपसरति। सृ गतौ, उपसर्गाद्धात्वन्तरम्।

'येंहा येंहा धमु चड, तेंहा तेंहा पापु खस'—यस्मिन् यस्मिन् धर्मश्चटति चट्यति वा, तस्मिन् तस्मिन् पापं स्खलति हसति वा। चट स्फुट भेदने स्खल संचय, चलने च। हस हस शब्दे।

'जाहा जाहां धमु नांद, ताहां ताहा पापु मान्द'—यत्र यत्र धर्मो नन्दति, तत्र तत्र पापं मन्दते। टुनादि समृद्धौ, मदि स्तुतिमोदादिषु, गतावत्र।

'जा किंह धमु कीज, ता किंह पापु खीज'—यस्मै धर्मः क्रियते तस्मै पापं क्षीयते। डुकृञ् करणे, खीज कूजेत्यादि लिख्यत इवापास्तत्वात्।

'जातो धमु पाविअ, तातो पापु सामिअ'—यतो धर्मः प्राप्यते, तत पापं शाम्यति। आप्लृ व्याप्तौ शमु दमु उपशमे।

'याकर धमु, उसम, ताकर पापु आकस —यस्य धम्म उच्छ् यसति, तस्य पा"मवद्सति। श्वस प्राणने, इस हसने हसति वा।

१ 'उक्ति व्यक्ति' में प्रयुक्त देश भाषा की सब से विशिष्ट ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति यह है कि सामा"य वतमान काल अन्य पुरुष, एक वचन की क्रिया म प्रयुक्त प्रत्यय क उद्वृत्त स्वर-समूह—अइ —एइ का—ए न हाकर प्राय —अ होना है परवर्ती अपभ्रंश और तत्पश्चात् ब्रज, अवधी आदि में प्राय ए होने का हा प्रवृत्ति दिखाइ पड़ती ह, जैसे चलति > चलइ का प्राय 'चलै' और करोति> करेइ या करइ का 'करै' हो जाया करता था। 'उक्ति-व्यक्ति' के बा" की अवधा में—अ के साथ ही—अइ और—ऐ वाले रूप भी समान रूप

ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति

से मिलते हैं। लेकिन 'उक्ति "यक्ति' में—अइ —ऐ वाले रूप बहुत कम मिलते हैं। रहइ, मानइ, मिलइ चलइ आदि कुछ एक रूप कवल अपवाद हैं। अधिकांशत चलइ=चल, करइ=कर, जाइ="ा हाइ=हा पढ़इ=पढ़ आदि रूप हा मिलते हैं।

इस प्रवृत्ति का पुष्टि सतमी एक वचन क प्रत्यय—अ —अ स भा होती है। डा० चटर्जी ने अन्य किसी सतोषप्रद व्युत्पत्ति के अभाव म इसे—अहि, अहि >अंहि से उत्पन्न माना है।[1] इस प्रकार *स्कधहि>स्कधहि>स्कन्धे, स्कधं न हाकर 'उक्ति व्यक्ति' म प्राय कांवें या कांध रूप मिलते हैं। यहाँ भी—अहिं> —अहि =ए न हाकर—अ हा हुआ।

इस प्रकार—अइ>—अ 'उक्ति "यक्ति का भाषा का महत्वपूर्ण ध्वन्या "मक विशेषता है।

२ परवर्ती काल का अन्य अपभ्रंशों तथा आ० भा० आ का तरह 'उक्ति व्यक्ति' की देश भाषा में भा दाघ या सयुक्त व्य"न अथवा अनुनासिक + व्यजन क व्य"न-समूह में सरलीकरण क साथ पूववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दार्घीकरण की व्यापक प्रवृत्ति दिखाइ पड़ता है। जैसे—

भक्त>भत्त>भात, पक्व>पक्क>पाक, ग्रन्थि>गठि, गाँठि। कभा कभा द्वितीय अक्षर पर स्वराघात हान क कारण उक्त पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण की जगह ह्रस्वीकरण हा जाता है जैसे—

सामान्यत भिक्षा>भिक्खा>भिक्ख>भाख हागा लकिन यदि *भिक्षा कारिक हा ता भिक्खा-आरिअ>भाखारा>भिखारी रूप हागा।

इसी प्रकार ग्राम>गाउँ लकिन ग्रामकार>गर्वार।

---

१ उक्ति व्यक्ति स्टडी प० १६ प० स० भाग २ पृ० ७४५ ८२

३ संस्कृत के जो अन्य दीर्घ स्वर अपभ्रंश तक आते आते ह्रस्व हो गए थे वे आ० भा० आ० के उदय होते होते क्रमशः लुप्त हो चले। इस प्रवृत्ति के बीज 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा में भी मिलते हैं जैसे—

सासु = श्वश्रु, बाग = वल्गा, भूख = बुभुक्षा, भीख = भिक्षा, जीभ = जिह्वा, सेज = शय्या, सवति = सपत्नी, लाज = लज्जा, पीर = पीड़ा, हरडइ = हरीतकी

४ किसी शब्द के अन्तर्गत व्यजनों के लोप से उत्पन्न उद्वृत्त स्वर या तो संयुक्त हो जाते हैं, अथवा उनमें संधि हो जाती है, अथवा य वश्रुति का समावेश द्वारा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व सुरक्षित रखा जाता है जैसे—

लकुट>लउड>लउड, लीडी (= लकुटिका), भूतकार>भुअआर>भुआर, पंडित>पंडिअ>पांडे>पाँडे, सुगन्ध>सुअन्ध>सौंध, चतुष्क>चउक्क>चौक, सूपकार>सूअआर>सुआर सुवार

५ अपभ्रंश का अन्त्य उद्वृत्त स्वर—इअ आ० भा० आ० में प्रायः—ई हो जाता है लेकिन 'उक्ति व्यक्ति' में प्रायः—इ ही दिखाई पड़ता है, और—आ प्रत्यय के योग से यह इआ हो जाता है जैसे—

सुखिआ, दुखिआ उपकारिआ आदि।

६ जहाँ तक तद्भव शब्दों में होने वाले व्यंजन विकारों का संबंध है, संयुक्त और दीर्घ व्यंजनों के सरलीकरण की प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश में व्यापक रूप से दिखाई पड़ती है परन्तु राजस्थान और पंजाब प्रदेश की अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति उतनी नहीं मिलती, जितनी मध्यप्रदेशीय अपभ्रंश में। 'उक्ति व्यक्ति' में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं।

७ अन्य संयुक्त और असंयुक्त व्यंजनों के विषय में 'उक्ति व्यक्ति' ने प्रायः पूर्ववर्ती अपभ्रंश के रूपों को भली भाँति सुरक्षित रखा है। उरह, जोरह, बंद, बूद, पदम, सावज आदि शब्द ऐसे ही हैं जो अपभ्रंश में ही यह रूप प्राप्त कर चुके थे।

८ 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा अपभ्रंश में प्रचलित संस्कृत के अर्ध तत्सम और तत्सम शब्दों को ग्रहण करके कभी-कभी अपनी ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति के अनुसार उनमें परिवर्तन भी कर देती है। परिवर्तन करने में 'सावर्ण्य' की अपेक्षा 'स्वर भक्ति' और विप्रकर्ष की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। जैसे—'रत्न' से रत्न न करके 'रतन' रूप बनाना और वर्ष से वस्स न करके वरिस। इस व्यापक विधान के अन्तर्गत 'उक्ति व्यक्ति के कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

मध्यक>मधक, आदर्श>आरिस, सर्षप>सरिसव, वर्ष>वरिस, नित्य>नित, शुक्ल>सुकिल, त्याज>तज, लोक>लोग।

६ इन तद्भव और अर्धतत्सम शब्दों की अपेक्षा 'उक्ति व्यक्ति' मे अनेक देशी शब्द भी मिलते हैं जिनमें काम करने वाली ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति का विचार करना कुछ कठिन है।

१ उक्ति व्यक्ति' की भाषा में कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर के विपरीत अरबी फारसी के विदेशी शब्द नहीं के बराबर मिलते हैं इसलिए कहना कठिन है कि मध्यप्रदेशीय बोली में इन विदेशी शब्दों की ध्वनि में किस प्रकार का परिवर्तन किया जाता था।

रूप रचना

१ अन्य अपभ्रंशों की तरह 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा मे भी संज्ञा शब्दों को रूप-रचना का आधार मुख्यतः अकारान्त पुल्लिंग शब्द के कारक विभक्ति ही रूप प्रस्तुत करते हैं। जिन पर कहीं कहीं सर्वनाम के विकृत रूपों का गहरा रङ्ग दिखाई पड़ता है। शौरसेनी अपभ्रंश के प्रथमा एकवचन की प्रत्यय—उ का प्रभाव प्राचीन कोसली पर इतना व्यापक जान पड़ता है कि प्रथमा के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में भी उकारान्त पदों का प्रयोग हुआ है।

२ सामान्यतः प्रथमा और द्वितीया एक वचन में किसी प्रत्यय का प्रयोग नहीं मिलता, लेकिन द्वितीया में कहीं कहीं अनुनासिक का प्रत्ययवत् प्रयोग हुआ है जैसे—

पापहँ तूँग (४।१५), थालाँ माँज (५७।१५)
थयालिँ रखु उलड (३८।५३)।

इसी प्रकार द्वितीया बहु वचन में भी कहीं कहीं —ए, —ए प्रत्यय का योग मिलता है जैसे—

भाँडे माँज (४२।२१), मलेँ निवाड (४८।११)

द्वितीया बहुवचन में—न्ह प्रत्यय का भी प्रयोग किया गया है जैसे—

गुरु सीसन्ह ताड (३६।१२) गअवाल विधिआतिन्ह जुड (५१।२८)।

३ तृतीया एक वचन में अपभ्रंश काल का —ए, —इ प्रत्यय के अवशेष 'उक्ति व्यक्ति' में भी मिलते हैं। जैसे—

जीभें चाख (६।६), नाकें सूंघ (६।१३) हाथें छूअ (६।१६)
हँसिएँ ब्रीहिं लविति कमार (१३।२२) थआलिँ रखु उपड (३४।१८)

४ सप्तमी में या तो किसी प्रत्यय का प्रयोग नहीं मिलता या केवल अनुनासिक का प्रयोग मिलता है। जैसे—

मुँह चूँव, सेजें ओलर, कोलेंले (६०।२)
सयहि भूतेँ दया करु (६।३०),खेतेँ हँसिए ब्रीहिं लविति कमारेँ (१३।२२)

५ हि,—हि ऐसी व्यापक प्रत्यय है जिसका प्रयोग प्राय द्वितीया और चतुर्थी में तथा कभी कभी तृतीया और सप्तमी में भी एक वचन और बहुवचन दोनों में दिखाई पड़ता है।

भीचहि ताड (४८।७), यायहि डर (४८।२७) देवहि नय (४५।१६)
सयहि उपकारिश्रा हाउ (१०।४)
यिहाणहि आवितु रणा (३४।२३)।

६ इन विभक्तियों और विकारी रूपों के अतिरिक्त विभिन्न कारकों के लिए कुछ परसग भी प्रयुक्त हुये हैं। इनमें से सम्प्रदान कारक के लिये प्राय किह, केह, किह, किहँ परसगों का प्रयोग हुआ है जैसे—

ब्राह्मणु-किह (१४।१०) परकह, आपणु कह (३८।१५)
जुझणा किहँ (३४।८), करण किहँ, पढण किहँ, जाब किह (११।२० ४१) कभी कभी सम्बन्ध कारक का परसर्ग—कर भी सम्प्रदान में प्रयुक्त हुआ है जैसे—यथिए-कर धणु धर (१४।२०)।

७ अपादान में तौ, पास, हुँत (हुत) या हुता परसर्गों का प्रयोग किया गया है जैसे—

याय तौ डरा (१८।१६), आका पास बीदा ले (१४।१६), गाव-हुँत आय (२४।१५), कहाँ हुत प पुरुष आ (२३।१५)

८ सम्बन्ध कारक में 'कर' परसग का प्रयोग हुआ है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जायसी और तुलसी की अवधी में जो 'कर' और 'केरि' परसग बहुतायत से मिलते हैं उक्त व्यक्ति में दृष्टिगोचर नहीं होते। 'कर' युक्त रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

राज कर पुरुषु (१६।११), पड़वसी कर धव (२२।२)।

परवर्ती सम्बद्ध संज्ञा के लिंग वचन के अनुसार इस परसग में भी परिवर्तन होता है जैसे—

मड़ करा डाल (१५।२१) तेहु करि सर्मा (१०।१५)
पूत करें बधाव नाच (३६।२८)

९ करण कारक में तृतीया विभक्ति की कुछ घिसी हुई प्रत्ययों के अतिरिक्त पास, सउ, सेउ परसर्गों का भी प्रयोग किया गया है। जैसे—राकर सागर ओडहु पास सयाअन्त आछ (२२।१४)=राजसागरसुद्रे स्नानयति, दूसरों सउँ सबकाटु तूट (३७।२३) धिए साँकरे सेउ सातु (२१।३१)

१० अधिकरण कारक में 'उक्ति व्यक्ति' अन्य अपभ्रंशों की तरह मझ, माहि आदि परसर्गों के अतिरिक्त 'कृ' धातु के 'क्त्वान्त-तद्भव रूप 'करि' का

प्रयोग किया है जो विलक्षण है। जैसे—

मुन्वहितौ ब्राह्मणु किंह थालि करि ईंधये मातु राध ब्राह्मणु (१५/१)

थालि करि = स्थाल्या कृत्वा + स्थाप्स्याम।

सर्वनाम　　नाम की तरह सर्वनाम के रूपों के विषय में भी 'उक्ति-व्यक्ति' समृद्ध है।

१ पुरुष वाचक सर्वनामों में से उत्तम पुरुष के निम्नलिखित रूप प्राप्त होते हैं—

	एक वचन	बहु वचन
प्रथमा	हउ (२२/५) हौं (१६/२१)	अम्हे (१४/२७)
द्वितीया	मोहिं (२१/२१)	अम्हे (२२/६)
तृतीया	मैं (२२/६)	×
पंचमी	×	अम्ह-तउ (१८/२१) अम्ह-पास (२१/६)
षष्ठी	मोर (१६/१८)	अम्हार (१६/ ०)

२ मध्यम पुरुष के रूप निम्नलिखित हैं—

	एक वचन	बहु वचन
प्र	तु (१६/)	तुम्हे (१४/२८)
द्वि	तेहि (२०/४)	तुम्हे (२१/२०)
तृ०	तै (२०/१)	×
पं०	×	तुम्ह-तउ (१४/२७)
ष०	तोर (१६/२०)	×

३ अन्य पुरुष के रूप सभी लिंगों में निम्नलिखित हैं—

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	सो (१०/७)	ते (१०/६)
द्वि०	ताहि (४७/२०)	×
तृ०	तेहैं, तेह (२३/१४)	×
पं०	ता तउ (१४/२८)	×
ष	ता-कर (१३/२५)	तेन्ह-कर (१ /१५)
स०	तेहा (३३/१६)	तेन्ह-माँझ (१ /१७)

४ निकटवर्ती संकेत वाचक सर्वनाम के रूप सभी लिंगों में निम्नलिखित होते हैं—

	एक वचन	बहु वचन
प्र	ए	ए
सप्त	×	एन्ह माझ (१६/२०)

५ सम्बन्ध वाचक सर्वनाम—

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	जो (यो)	ज (१०।८)
द्वि	,,	×
तृ०	जइ, जेइ (३।१४)	×
च०	जा किह (१४।१)	×
प०	जा-तउ	×
ष०	जा कर (२२।२५)	×
स०	जेहा (३।१६)	×

६ प्रश्न वाचक सर्वनाम—

पुलिंग और स्त्रीलिंग

	एक वचन	बहु वचन
प्र	को (१६।१८)	क (२१।२१)
द्वि	का (२४।५)	×
तृ	केइ, कइँ (४१।३)	×
च०	का किह, काहि (२२।२७), का कर (१५।१)	×
पं	का तउ का-पास, का पासु	×
ष०	कां कर	×

नपुंसक लिंग

प्र०—द्वि०, एक वचन—काह, किछु (१४।२३)

ग काहे (२२।६)

७ अनिश्चय वाचक सर्वनाम—

प्र०	द्वि०	तृ०
काउ (२१।१८	काहु (५६।११)	केहुँ (१८।२३)

८ निज वाचक सर्वनाम—

द्वि —आपाण (४१।२३)

ष०—आपण (३८।१३), बहु० आपणे (४४।२८)

तृ —आपणे (३६।१४)

च —आपण किहि (१८।१५)

स०—आपणी जानि (५२।१६)

१ 'उक्ति-व्यक्ति' की भाषा ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश के माध्यम से संस्कृत की अनेक धातुओं का उत्तराधिकार प्राप्त किया लेकिन जिस विकरण विविधता के कारण

संस्कृत धातु दस गणों में विभाजित होते हैं, वह क्रम टूट गया और संज्ञा शब्दों की तरह क्रियाओं में भी—अ—विकरण वाले रूपों की प्रधानता हो गई। किन्तु 'उक्ति-व्यक्ति' काल में देशभाषाओं पर संस्कृत-प्रभाव इतने व्यापक रूप से पड़ रहा था कि अनेक तत्सम और अर्ध-तत्सम धातु

क्रियापद

'उक्ति-व्यक्ति' में स्वीकृत हो गए। इनमें विभाग, अनुमान, रक्ष, सूत्र, दण्ड, गणन, उत्कीर्तन, [illegible], [illegible] मन्त्र, आलाप, प्रतिबिम्ब, वाम आदि ऐसे ही शब्द हैं जो धातु के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

२. परस्मैपद और आत्मनेपद का भेद तो बहुत पहले ही लुप्त हो चुका था। अब विकरण वाले चुरादि गण के प्रेरणार्थक रूप तथा नाम धातु के रूप भी क्रमशः तो सामान्य—अ—विकरण वाले रह गए थे, उक्ति-व्यक्ति में आकर और भी सरल हो गए जैसे चारयति, कथयति, मार्गयति, छिद्रयति आदि अपभ्रंश में चारइ, कहइ, माँगइ, छेदइ हो गए और फिर 'उक्ति-व्यक्ति' में केवल चार, कह, माँग, छेद रह गए।

३. सामान्य और प्रेरणार्थक क्रियाओं का आरम्भिक अंतर मिट गया और उसके स्थान पर धातु-स्वर के दीर्घीकरण की प्रवृत्ति हो गई, जैसे फट = फाटति, झाड़ = झाटयति (४।२३) टूट = त्रुट्यति, ताड़ = ताडयति (४१।११)। इसी प्रकार मूल धातु और प्रेरणार्थक तथा नाम धातु का आरम्भिक अंतर मिट जाने के अंतर करने के लिए – आव –, अव –, – आ –, – आल – विकरण का सहारा लिया गया। जैसे—

दमयति के लिए नावत (४१।२१), विज्ञापयति के लिए विनव (२१।८), निवट, निवटाव (४८।१४) = निवर्तते निवर्तयति

४. अनेक ऐसी धातुओं को भी 'उक्ति-व्यक्ति' ने संस्कृत उपसर्ग और गुण-वृद्धि के द्वारा सामान्य क्रियाओं के साँचे में ढाल लिया है, यहाँ तक कि उनकी व्युत्पत्ति का पता लगाने में और भी कठिनाई उपस्थित हो गई है।

५. काल-रचना के सूत्र में प्रायः तीन प्रकार के रूप मिलते हैं —तिङन्त-तद्भव, कृदन्त-तद्भव और संयुक्त। संस्कृत के तिङन्त क्रियापद प्राकृत अपभ्रंश से होते हुए 'उक्ति-व्यक्ति' की भाषा को भी उत्तराधिकार-स्वरूप प्राप्त हुए। ये तिङन्त तद्भव रूप केवल चार कालों में ही मिलते हैं—सामान्य वर्तमान काल (कर्तृवाच्य) सामान्य वर्तमान (कर्मवाच्य) सामान्य भविष्यत् और आज्ञार्थ (लोट् और लट्)।

(क) 'उक्ति-व्यक्ति' में सामान्य वर्तमान काल के तिङन्त-तद्भवरूप इस प्रकार हैं—

	एक०	बहु०
प्र० पु०	कर ('करइ' विरल)	करति
म० पु०	करसि	करहु
उ० पु०	करउँ (करा)	करहु

(ख) कर्मवाच्य में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया में –ईअ–,इ–ठ –य–विकरण का प्रयोग मिलता है जैसे—

पढिअ (२०।२६) = पठ्यते जेविअ (२१।३१) = भुज्यते

करायिअ (२१।१७) = कार्यते खेलिअ (२०।५) = क्रीडयते

(ग) –इ–वाले सामान्य भविष्यत् काल के रूप उक्ति-व्यक्ति में निम्नलिखित मिलते हैं —

	एक वचन
प्र० पु०	करिह
म० पु०	करिहसि
उ० पु०	* करिहउँ

तारिह (२१।२०) तजिह (६।२१), जविंह (६।२१),
करिहसि (२०।१३) मागिहउ (२२।५)

(घ) सामान्य आज्ञा के रूप—

प्र० पु०	करउ
म० पु	करु

(ङ) भविष्यत् आज्ञा के रूप—

निवंतेसु (१६।२१) = निमन्त्रिष्यसि

पढेसु (१६।२४) = पठिष्यसि

आगे चलकर तुलसीदास म मा मारेसु, बाँधेसु जैसे रूप मिलते हैं।

७ कृदन्त-तद्भव वाले रूप अधिकांशतः भूतकाल के ही मिलते हैं केवल एक रूप सामान्य भविष्यत् काल का मिलता है।

(क) सामान्य भूतकाल के रूप दुर्भाग्य से 'उक्ति-व्यक्ति' में बहुत कम मिलते हैं। सामान्य भूतकाल के रूपों की यह विशेषता है कि उनमें अकर्मक और सकर्मक के अनुसार अन्तर हो जाता है क्योंकि अकर्मक क्रिया के भूतकालिक रूप कर्तरि होते हैं और सकर्मक के कर्मणि।

अकर्मक क्रियापद

समी पुरुष, पुल्लिग कर्त्ता के अनुसार—

एक	बहु०
गा	गए
भा	भए
बाढ़ा	* बाढ़े
आ	* आए

समी पुरुष, स्त्रीलिंग कर्त्ता के अनुसार—

बाढ़ी	* बाढ़ी
भई	भई

सकर्मक क्रियापद

जब कर्त्ता पुलिंग, एक वचन, अन्य पुरुष हो तथा कर्म दोनों वचनों और लिंगों में हो—

दरशन किएसि, देखेसि (६ । १०), किएसि, लिएसि, पावेसि (२२ । १०)

जब कर्म पुल्लिग एक वचन और कर्त्ता अनुक्त हो—

तई काह किश्र (२०।१०) मईं पढ़ा (२ ।२१)

जब कर्म पुल्लिग, बहु वचन हो—

ए ब्राह्मण थापे (२१।१७)

(ख) हेतु हेतुमद्भूत—

अन्य पुरुष जइ जइ पावत, तब करत (८।१६)

जइ देउ वृष्टि करत, अन्न होत (६।१५)

जइ ईंधन पाएत, त ओदन पाएँत (६।१६)

(ग) सामान्य भविष्यत् काल —-ब<अव<तव्य

वेद पन्त्र, स्मृति अभ्यासवि, पुराण देखब, घर्म करब (१२।१६ १७)

इस पर कर्म के लिंग वचन का प्रभाव पड़ता है। जैसे—

ए बेटी काहि देवि (२२।२७)

■ संयुक्त काल प्राय तिङन्त-तद्भव और कृदन्त-तद्भव के रूपों को मिलाकर निम्नलिखित प्रकार से बनाए जाते हैं—

(क) शतृ कृदन्त+सहायक क्रिया का तिङन्त रूप—

आखि देखत आछ (६ । ६) चाखत आछ (६ । ११)

सूँघत आछ (६।१), बोलत आछ (७।१)

यहा क्रियापद कहीं-कहीं अपूर्ण भूत का अर्थ देता है, जैसे—

काह करत आछे (२०।११) = किं कुर्वता स्थितम् ।
को तहाँ जेवत आछ (२१।७) = कस्तत्र भुञ्जान आसात ।

(ग) क्त्वान्त पूर्वकालिक + सहायक क्रिया का तिङन्त रूप—
धर्मु करि आछ (११।११) = धर्म कृत्वा आस्ते ।

यहाँ आसन्न भूत काल का बोध होता है परंतु इस प्रकार का एक ही उदाहरण 'उक्ति-व्यक्ति' में मिलता है ।

८ 'उक्ति-व्यक्ति' में संयुक्त काल की जितनी बहुलता मिलती है, उतनी संयुक्त क्रिया की नहीं मिलती। संयुक्त क्रियाएँ या तो तत्सम शब्दों के साथ 'कर' धातु के रूपों से बनाई गई हैं या फिर 'करए चाह', 'जयए माँग' और 'लै-ल पला' जैसी सरल संयुक्त क्रियाएँ मिलती हैं ।

९ सहायक क्रियाएँ आछ, हो, अह और रह चार धातुओं से निर्मित प्रयुक्त हुई हैं । इनमें भी 'आछ' वाले रूपों की बहुलता है । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय मध्यदेशीय बोलियों में भी इसका व्यापक प्रसार था । लेकिन आगे चलकर अवधी में केवल 'हो' और 'रह' वाली सहायक क्रियाएँ ही अवशिष्ट रहीं ।

इस प्रकार मुख्यतः सन्देश रासक और प्राकृत पैंगलम्, वर्णरत्नाकर और कीर्तिलता तथा 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' के आधार पर परवर्ती अपभ्रंश के पश्चिमी, पूर्वी और मध्यदेशीय भेदों की विशेषताओं के साथ ही अपभ्रंशोत्तर युग तथा आधुनिक भाषाओं के पूर्वकाल के बीच की भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं । उक्त ग्रन्थों की भाषा पर अलग अलग विचार करते समय स्पष्ट रूप से ध्वनि तथा रूप-रचना संबंधी कुछ ऐसी विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुई हैं जो प्रदेश भेद के बावजूद सबमें सामान्य हैं । परवर्ती अपभ्रंश को सुविधा के लिए कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ट' नाम दिया है यद्यपि अवहट्ट और अपभ्रंश संज्ञा में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, फिर भी प्रयोग की दृष्टि से 'अवहट्ट' संज्ञा परवर्ती अपभ्रंश के ग्रन्थों में ही अधिक मिलती है । इसलिए किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में 'परवर्ती अपभ्रंश' जैसे बड़े शब्द के लिए अवहट्ट शब्द का प्रयोग किया जा सकता है ।

तत्कालीन बोलियों की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालने वाली एक अन्य महत्वपूर्ण सामग्री इधर प्रकाश में आई है । यह एक शिलाङ्कित भाषा काव्य है जिसका नाम शिला लेख में 'राउल वेल' दिया गया है और जिसका रचयिता कोई 'रोडा' नामक कवि है । इसे प्रकाश में सर्वप्रथम लाने का श्रेय डा० हरि वल्लभ भयाणी

रोडा कृत राउल वेल

की है।[1] हिंदी में पहली बार डा० माता प्रसाद गुप्त ने उक्त शिलालेख का पाठ प्रकाशित किया है तथा उसके संबंध में अपना विचार भी व्यक्त किया है।[2] यह शिलालेख इस समय बम्बई के 'प्रिंस आफ वेल्स म्यूज़ियम' में सुरक्षित है। इसका आकार ४५" X २३" है। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार यह मालवा के धार नामक स्थान पर प्राप्त हुआ था। वर्तमान अवस्था में यह भग्न है और कुछ अंश खंडित हो चुका है। प्रस्तुत रूप में भी कुछ अंश अपाठ्य अथवा अपठित है। डा० भायाणी और डा० गुप्त दोनों ही विद्वानों के अनुसार इसका लिपिकाल ईसा की ११वीं सदी होना चाहिए। डा० गुप्त के अनुसार 'राउल वेल' 'राजकुल विलास' है। संपूर्ण शिलालेख एक ललित काव्य है जिसमें छः देशों की नायिकाओं का नखशिख वर्णन किया गया है। इनमें 'टक्किणी', 'गौड़ी' तथा 'मालवीया' नायिकाओं का उल्लेख तो स्पष्ट है, शेष तीन के प्रदेश स्पष्ट नहीं हैं। डा० भायाणी एक को 'कानोज' अर्थात् कन्नौज देशीया मानते हैं किन्तु डा० गुप्त के अनुसार वह स्पष्टतः 'कानोड्ड' है और 'कानोज' से उसका कोई संबंध नहीं है। अन्य 'टेल्ल' नाम भी आया है जिसे डा० गुप्त त्रिकलिंग अर्थात् दक्षिण कोशल मानते हैं और उनका विश्वास है कि इस शिलालेख की भाषा 'दक्षिणी कोसली' है।

जहाँ डा० भायाणी इस शिलांकित काव्य को विभिन्न प्रादेशिक बोलियों का नमूना मानते हैं, वहाँ डा० गुप्त सम्पूर्ण काव्य को केवल एक भाषा में रचित समझते हैं और वह है दक्षिण कोसली। विवादास्पद पंक्ति है अन्तिम जिसमें कवि और कृति के नाम का उल्लेख है। डा० गुप्त के अनुसार उस पंक्ति का पाठ इस प्रकार है—

रोडें राउलवेल वखाणी।

[पुणु] तहं भासहं जइसी जाणी॥

डा० भायाणी 'पुणु तहं' को 'आठहं' पढ़ने के पक्ष में हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि प्रस्तुत रूप में केवल छह नखशिख प्राप्त हैं और यदि प्रत्येक की भाषा का विश्लेषण किया जाय तो नायिकाओं के वेश भेद के साथ उनके वर्णन की भाषा में भी पर्याप्त देश भेद है इसलिए विवाद का समाधान केवल अंतिम पंक्ति के उक्त 'पुणु तहं' के पाठ पर निर्भर नहीं है। यदि डा० गुप्त का ही पाठ मान लिया जाय तो 'पुणु तहं भासहं जइसी जाणी' का स्पष्ट अर्थ यही है कि 'उन भाषाओं का मैं जैसी जाना'। 'तहं भासहं' स्पष्ट ही बहुवचन है जो

१ भारतीय विद्या बम्बई (भाग १७ अंक ३-४ पृ० १३ ४६ १९५९ ई०)

२ हिन्दी अनुशीलन धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक (वर्ष १३ अंक १-२ १९६० ई०)

विकल्प से सप्तमी बहुवचन का भी अर्थ देता है। कवि के कथन से स्पष्ट है कि उसने 'राउल वेल' में जितने देशों की नायिकाओं का वर्णन किया है, उन देशों की भाषाओं को वह जैसा भी जानता है, उसी के अनुसार वर्णन करने के लिए प्रयत्नशील था। इस कथन की पुष्टि स्वयं शिलालिखित काव्य की भाषा से भी होती है।

सम्पूर्ण शिलालेख का पाठ न देकर यहाँ विभिन्न नायिकाओं के वर्णन के नमूने क्रम से प्रस्तुत हैं।

१) कान्हि काजलु तरलउ वाजइ।
आछउ सुछउ फूल इ॥
अहर तबोलें मणु मणु रातउ।
सोह देइ कवि बन॥
रातऊ कचुआ भति सुहु चांगउ।
गाढउ बाधउ.. आंगउ॥
—डुहौ पहिरणु मालउ भावइ।
तासु सोह कि कछवा पावइ॥
विणु आहरणें जो पायेन्हु सोह।
मानु बनी तहु मोन्डि—नेह॥
अइसी वेटिया जा घर आवइ।
ताहि कि तुलिम्ब कोऊ पाइ॥

२) कसिआहि बाधलि अहि जे चांगिम्ब।
ते बाल तु भी लागिम्ब॥
—अहि आंतु जें विअइल फूलें।
अछउ ताउ कि सेंहु कें बोलें॥
आंवितु काछडा बद गाढा।
मानिकु जोवणु कन्ठ वाढा॥
हाथिहि रौठें ऊजल लाम्हा।
ओपुडि तामे आविल साम्हा॥
पाइहि पाहसिया चिकु चांगा।
सोएण जि आनिक मांडी आंगा
गोल्से मानरिम मुभ्क जि दे
मानिक सेंहु पा सो

कचि अइसी रोउल सोही।
देखत सोही मयणु व मोही॥
३) एहु कानोडउ काइ सउ झांखइ।
वेस अम्हाराएउ ना जउ देखइ।
मा उडउ जो राउलु सोहइ।
यइ नउ सो एयु कोभकु न मोहइ॥
हरउ आंखिहि काजसु दीनउ।
जो जाणइ सो यइ नउ बानउ॥
करडिम्ब मनु काचडि मउ कानहि।
काइ करेवउ सोहहि आनहि॥
हाथहि माठि मउ सुडु सोहहि।
-थु खता जणु सयलइ चाहहि॥
पहिरएु फरहरें पर सोहइ।
राउल दीसतु सउ जणु मोहइ॥
होस गइ जा वरसति यहमो।
सा मावर एहु राउल कहमी॥
जहि घरे अइसो ओलग पइसइ।
त धरु राउल जइसउ दीसइ॥
४) केहा टेल्नि पुतु तुहु आंखहि।
अ.. रा सु वेहु तुहु मासहि॥
वेहु एवडु सो एयु वल्निअइ।
-मयजडह हीमा मिस्म॥
मइूठा कह पाह जो पढा।
सो ध्पर तेहा गोरी लढा॥
घट सवाला दोहा विसूमइ।
जें मुहु एवक एनि अडिअइ॥
कप्पडिअहि सोहहि युइ गध।
मउन सउम जहि परे दम॥
कठा कडि जत्तासो सोहइ।
ऐहा तेहा सउ मण मोहइ॥
गोरइ अपि वेरगा एल्यू।
संभहि जोहहि न समउ हू॥

पहिरणु पाघरेहि जे केरा।
कच्छुद्दा वछुड़ा डहि परा इतरा ॥
एहा येहु सुहावा टेल्ल।
ग्रास सु सदा डहि परइ योल्ल ॥
एहो टकिकणि पइसति सोहइ।
सा निहालि जणु मलमल चाहइ ॥
५) कोस रे वडिरो टाक सहु बोलसि।
राहु मार्गे वान सु भूलसि ॥
सई की कतहू वेस रे दीठे।
जेहर तेहर वाम सि बेठे ॥
गौर सुभाएणु सासइ कत दीठे।
ते बेल्लि वेसि वि भावसि मीठे ॥
सोपहि ऊपरे ग्रग्वे घल कइसे।
रवि जणि राहै घेतल जइसे ॥
भउहों सु रूरों वेलु वव्वर कइसी।
साहि कम्म करों धणु चडणी जइसी ॥
ग्रारे मरे वव्वर देलसि न टीका।
चांदहि ऊपर एह भइ टीका ॥
थणहर मार्फे जो हार सुनेरउ।
सोहन्हु न्हु सोए कुज ठेरउ ॥
परही मातरे थणहरु कइसउ।
सरय अलय विच चांदा जइसउ ॥
मुतेर हार रोमावलि कलिग्रउ।
जणि गागहि जसु जउणहि मिलिग्रउ ॥
पहिग्रल वाही जे चदहाई।
वोजेर चां हि ते चदहाई ॥
वि उवरणु सेंदूरी सनवही कीजइ।
रूउ देखितारउ सय जणु खीजइ ॥
घयस्र र कापड ग्रोढियल कइसे।
मुह ससि जा।ग्ह पसारेल जइसे ॥
जेहर कथइ सेट्र योल।
सा रे बसहि ग्रायि कि मोलु ॥

अइसो रुउहि ज राउलें पइसइ ।
सो अनु लाहि मंडिउ दीसइ ।
६) गोउ तुरु एकु को पनु भउर वर
को तद सहु मद वोषइ ।
ज पुणु मालवाउ वेसुहि आयनु ।
काम्बदेउ आनु अपरणाहू हथियारहु मुलइ ।
इथा अम्हारद वु मणो लोंप करिउ भइ ।
तहि सारिखउ कहाइउ अथि एउ किस... इ ।
खोंपहि ऊपरि सोलइहउ दानउ थानु तें जिसउ भावइ ।
जिसउ मिहूरिमउ रजायसु काम्बदेवहि करउ नावइ ।
भउहु र दुइ सु करोंहि सा होंहि मनाह आखिहि करइ गुणइ
अइसउ काम्ब करउ धणुहु चम्पियउ ।
मोखिर फान तोला ऊजना सरला ते वान नि आम सूझइ ।
तइसउ हथियारु पाविउ काम्बदउ अगहो काई करिसी ।
अइसउ बृहस्पतिही मउ मूझइ ।
दुइ कपोल जिसा किसा ।
तै वखनहु सवहु तरुणा ।
पाविवे करी वरुसइ घन घन पईहि हि आ ।
तेन्हर पईहिया पठिबल किसा मानथि ।
जणु पूनिवहि पूनिवहि करा चांद काढइ तहि करउ सुहावउ ।
तैहि करइ तनिलई उपइलें श्रोठइ स कवि साहु स घी ।
न चौंकी भनहु पवालाह अमोघ पल्लवहु तें तुलिउवि लघी ।
मोतीहु च एकु वि हारु ।
स सोहु देखतहु अइसउ भावइ ।
प्रणमाराउ म उ हुमउ एहु ससारु ।
स पुणु अवहो ते हाथनी थाथहीं पईहिया सोना करा चूडा ।
स देखि-बुन्हारा जे बेम त सब मार्वाहि कूडा ।
एइइ सी सुवेस जहि पाविउ पइसइ ।
राउसु बुचइ ।

उपर्युक्त उदाहरणों में पारस्परिक भाषा भेद उल्लेखनीय है । सर्जन हिन्दी का प्रयोग विशेष रूप से चौथे उदाहरण में है जिसमें 'टकिकरा' नायिका का वर्णन है । अन्यत्र यदि 'एक' या 'एकु' है तो यहां 'एक्कु' है । इसी प्रकार 'भिज्जइ',

मनिज्जइ', 'गन', 'अन', 'बोल्ल' आदि व्यंजन द्वित्व वाले शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'टक्क' प्रायः पंजाब का दक्षिणी पूर्वी भाग माना जाता है और उच्चारणगत उक्त विशेषता इस प्रदेश की बोली में आज भी पाई जाती है। इसलिए 'राउल वेल' में 'टक्किणी नायिका' का वर्णन यदि उस प्रदेश की बोली का प्रतिनिधित्व करता है तो युक्तिसंगत कहा जायगा।

इसी प्रकार गौड़ा नायिका के वर्णन में भूतकालिक—अल प्रत्यय वाला क्रियाएँ मिलती हैं और यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ऐसी क्रियाएँ किसी अन्य नायिका के वर्णन प्रसंग में प्रयुक्त नहीं हुई हैं। जैसे—

पवसर कापड ओढियल कइसे।
मुह ससि जोह पसारेल जइसे॥

यह विशेषता बंगला, मैथिली, मगही, भोजपुरिया आदि गौड़ीय भाषाओं में आज भी मिलती है।

द्वितीय उदाहरण में स्पष्ट रूप से प्रदेश विशेष का उल्लेख नहीं मिलता। 'गाहा' अथवा 'गोल्ल' शब्द किसी प्रदेश के सूचक हैं अथवा नहीं, यह विचारणीय है। किन्तु इस वर्णन में 'ची', 'चें', 'चा' प्रत्यय ऐसे हैं जो किसी अन्य वर्णन-खंड में नहीं आए हैं जैसे—

तेंह चा वेसु।
तेंह चे बोल्लें।
लोकह ची विठि।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस खंड में मराठी भाषा में मराठा नायिका का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है।

तृतीय उदाहरण में 'अम्हाणउँ', 'काइ करेवउ', 'यह नउ' आदि प्रयोग ऐसे हैं जो पुरानी पश्चिमी राजस्थानी की याद दिलाते हैं। प्रसंगात् यह वही खंड है जिसमें 'खता जणु' अर्थात् क्षत्रिय जन का उल्लेख हुआ है। इसलिए बहुत संभव है कि इसमें तत्कालीन राजस्थानी बोली का नमूना प्राप्त हो।

छठाँ अर्थात् अंतिम उदाहरण 'मालवीउ' नायिका का विस्तृत वर्णन उपस्थित करता है जिसमें 'अम्हारइ', 'काइ करिसा', 'न किसा मायथि' 'नाथथि' आदि अनेक प्रकार के विशिष्ट प्रयोग मिलते हैं जिनका सम्बन्ध उस क्षेत्र से सम्भवतः जोड़ा जाय।

सबसे संक्षिप्त तथा सामान्य प्रथम खंड है जिसमें किसी प्रदेश विशेष का उल्लेखनीय वैशिष्ट्य परिलक्षित नहीं होता। अधिक से अधिक 'अइसी वेटिया जा यह आगइ' में 'वेटिया' शब्द ऐसा है जिसे पुरानी कोसली अथवा अवधी से संबद्ध

कहा जा सकता है। हेमचन्द्र के यहाँ भी 'विट्टि' शब्द आया है, 'विटिया' नहीं। इस कोसल प्रदेश का 'विटिया' को निकटवर्ती रूप माना जा सकता है।

इसी प्रकार डा० भायाणी ने इस कान्हड में समस्त अवधी, मराठी पश्चिमी हिन्दी पंजाबी, बँगला और मालवी के पूर्व रूपों का अनुमान लगाया है। यह सामान्यतः उपयुक्त एवं युक्तिसंगत माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त यदि देश-भेद को छोड़कर 'राउल वेल' की भाषा के समग्र रूप पर विचार करें तो कुल मिलाकर यह भाषा आधुनिक भाषाओं के अत्यधिक निकट की प्रतीत होती है। यदि इसका रचना काल ११वीं शती इस्वी सही है तो यह उस समय के प्राप्त अपभ्रंश तथा अवहट्ट के सभी ग्रन्थों से अधिक आधुनिक तथा विकसित भाषा है। इस शिलालेख की भाषा हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण की परिनिष्ठित अपभ्रंश से ही नहीं बल्कि अब्दुल रहमान के 'सन्देश रासक' से भी अधिक आधुनिक है। इसके तद्भव शब्द आज के हिंदी भाषा भाषी के लिए काफी परिचित हैं। व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएं भी अवहट्ट की अन्तिम अवस्था का पता देती हैं।

अब अवहट्ट की इस पृष्ठभूमि पर सामान्यतः आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं और विशेषतः हिन्दी की विविध बोलियों के उदय का ऐतिहासिक विवेचन सम्भव हो सकता है।

अवहट्ट अथवा परवर्ती अपभ्रंश के बाद भारतीय आर्यभाषा में जो निर्णय प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है वह है अतिशय देश भेद की। अवहट्ट की जितनी सामग्री अब तक प्राप्त हुई है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक अवहट्ट के अधिक से अधिक तीन प्रदेश भेद थे—पश्चिमी, पूर्वी और मध्यदेशीय। किन्तु इसके बाद चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही गुजराती, मराठी, बंगला आदि आधुनिक भाषाओं की स्वतंत्र सत्ता दिखाई पड़ने लगती है। यही नहीं, स्वयं मध्यदेश में भी राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, अवधी और मैथिली आदि बोलियों की निजी विशेषताएँ स्पष्ट होने लग जाती हैं। भारतीय आर्यभाषा में घटित होने वाला यह जनपद भेद प्राकृत-काल के जनपद भेद से निश्चय ही भिन्न प्रतीत होता है।

आधुनिक भाषाओं का उदय

वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी पैशाची चूलिका पैशाची आदि प्राकृत भेदों मुख्य भेद में उच्चारण सम्बन्धी हो हैं व्याकरणिक भेद नाम मात्र का है। लेकिन यहाँ वाले गुजराती, मराठी, बँगला और राजस्थानी ब्रजभाषा खड़ीबोली, अवधी तथा मैथिली के विषय में नहीं कही जा सकती।

इस ऐतिहासिक घटना के कारणों का विश्लेषण करने से पता चलता है

कि विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक भाषाओं का उदय जितना आकस्मिक दिखाई पड़ता है, उतना आकस्मिक वस्तुतः है नहीं। भाषा के इतिहास में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। बड़ी से बड़ी ऐतिहासिक क्रान्ति भी भाषा के ढाँचे में सहसा परिवर्तन नहीं ला सकती। अक्सर धीरे धीरे होने वाले छोटे-छोटे परिवर्तन शताब्दियों बाद जब एकत्र हो जाते हैं तो भाषा एकदम बदली हुई मालूम पड़ने लगती है। गुजराती, मराठी, बँगला तथा हिंदी बोलियों के उदय के बारे में भी यही नियम लागू होता है।

क्षेत्रीय भेद का कारण

इन आधुनिक भाषाओं का उदय और विकास अपभ्रंश के ही गर्भ में धीरे धीरे सैकड़ों वर्षों से होता आ रहा था। एक ओर साहित्यिक अपभ्रंश के रूप धीरे धीरे अप्रचलित होते गए और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं के नये रूप प्रचलन में आते रहे। क्रमशः प्राचीन रूपों के ह्रास और नवीन रूपों के विकास की प्रक्रिया से ही आधुनिक भाषाओं का उदय हुआ। आधुनिक भाषाओं के ये नये रूप निश्चय ही उनकी प्रादेशिक बोलियों से आते रहे हैं फिर भी यह बात विचारणीय रह ही जाती है कि चौदहवीं शताब्दी के आस-पास इन प्रादेशिक बोलियों का संगठन भाषा के रूप में क्योंकर हुआ?

जिन जनपदीय बोलियों का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में शीघ्र हुआ, उनमें गुजराती, मराठी और बंगला मुख्य हैं। यदि इन प्रदेशों अथवा जनपदों के इतिहास पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि अनेक छोटे मोटे राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद इनकी भौगोलिक सीमाएँ शताब्दियों पहले से बहुत कुछ अपरिवर्तित रहती आई हैं। अपभ्रंश काल से ही ये प्रदेश आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से स्वतन्त्र इकाई के रूप में संगठित होने लगे थे।

गुजराती, मराठी और बंगला के उदय का कारण

गुजरात के सोलंकी, देवगिरि के यादव और बंगाल के पाल राजाओं ने अपने अपने भूखंडों में स्वतन्त्र शासन सत्ता स्थापित करने के साथ ही, अनेक लोकप्रिय सांस्कृतिक कार्यों द्वारा जातीय इकाइयों को संगठित होने का अवसर प्रदान किया। शासन की दृष्टि से इन जातियों की भौगोलिक सीमाओं में एकसूत्रता स्थापित हुई और राजवंशों में भी परिवर्तन कम हुआ। इसके अतिरिक्त इन प्रदेशों के राजवंशों ने संस्कृत की अपेक्षा लोकबोलियों को अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार जातीय संगठन ने भाषा का उत्थान किया और भाषा ने जातीय संगठन को। दोनों ही परस्पर वर्धमान हुए। यहाँ तक तो गुजराती, मराठी और बंगला तीनों भाषाओं के उदय के सामान्य कारण हैं। लेकिन इनमें से प्रत्येक के कुछ निजी कारण भी हैं। उदाहरणस्वरूप गुजराती और उसके साथ ही सिंधी के

विकास में वाणिज्य विशेष सहायक हुआ, जब कि मराठी और बँगला के उत्थान में राजकीय और सांस्कृतिक कारण ही मुख्य थे।

उत्तर भारत में तुर्कों के आक्रमण से पश्चिमी वाणिज्य-मार्ग बन्द हो जाने के कारण दसवीं सदी तक वाणिज्य में जो ठहराव आ गया था वह थोड़े दिनों बाद जब दूर हुआ तो उससे लाभ उठाने वालों में सिंध और गुजरात अग्रणी रहे। इस नई वाणिज्य-व्यवस्था ने इन जातियों के स्वतन्त्र संगठन में विशेष योग दिया। इसके विपरीत मराठी भाषा-भाषी जाति के संगठन में राजनीतिक केन्द्र दिल्ली से उसका सतत अलगाव और भक्ति आन्दोलन विशेष रूप से सहायक हुआ। केन्द्र से प्रायः स्वतन्त्र रहना बंगला भाषा-भाषी जाति के उत्थान में भी सहायक हुआ लेकिन इसके साथ ही धार्मिक जागरण और जहाजरानी के जरिए वाणिज्य विस्तार भी निमित्त कारण हो गया।

हिंदी बोलियों का उदय

इसके विपरीत मध्यदेश की भाषा का विकास दूसरे ढंग से हुआ। जिस प्रकार सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में बहुत पहले ही एक साहित्यिक भाषा का उदय हो गया, उसी प्रकार मध्यदेश में एक साहित्यिक भाषा का उदय न हो सका। इस विशाल भू-भाग में अनेक छोटी छोटी साहित्यिक बोलियाँ बन गईं। इन बोलियों में भी सबका विकास एक सा और एक साथ नहीं हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से राजस्थानी और मैथिली बोलियों का उदय पहले हो गया इनके बाद अवधी का उदय हुआ। ब्रजभाषा और खड़ीबोली का उदय लगभग साथ ही साथ हुआ। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा खड़ीबोली से पहले ही लोकप्रिय तथा प्रौढ़ हो गई। खड़ी बोली उठी तो बहुत पहले ही लेकिन एक तो जन्म के साथ इसे मातृभूमि छोड़कर दक्षिण में प्रवासी होना पड़ा, दूसरे यह शुरू शुरू में विदेशी भाषा भाषियों के हाथ पड़ गई, तीसरे विदेशी धर्म प्रचार का साधन बन गई और चौथे संयोग से सामान्य जन समुदाय से दूर नगर तथा राज दरबार में बँध गई इसलिए आरम्भ में इसका उत्थान ब्रजभाषा की अपेक्षा मन्द पड़ गया। क्योंकि खड़ी बोली के ठीक विपरीत ब्रजभाषा का विकास उसकी ठेठ जन्म भूमि में ही हुआ उसे संस्कृत भाषा की विशाल परम्परा का आधार प्राप्त हुआ वैष्णव भक्ति के प्रसार का गौरव मिला और सबसे बढ़कर लोक-हृदय के प्रतिनिधि भक्त कवियों का सम्बल मिला। पंजाबी का उदय भी तभी हुआ जब उसे नानक आदि सन्त कवियों की भावराशि तथा सामान्य जनसमूह के सांस्कृतिक जागरण की प्रेरणा मिली।

यदि हिंदी बोलियों में से एक-एक को लेकर उनके उदय के कारणों पर

विचार किया जाय तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित होंगे जिनसे बहुत-सी भ्रान्त धारणाएं निर्मूल हो सकती हैं। मैथिली का उदय इतना पहले इसीलिए संभव हो सका कि मिथिला शासन की स्वतंत्र इकाई के रूप में एक ही राजवंश के अन्तर्गत कई शताब्दियों तक स्थापित रहा। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति उसी राज्यकाल की उपज हैं। सांस्कृतिक इकाई के रूप में इस जाति का संगठन दीर्घ परंपरा से होता आया है। भौगोलिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से उन दिनों मिथिला मध्यदेश से अलग और स्वतंत्र था। फलतः इस प्रदेश की बोली हिंदी की अन्य बोलियों से बहुत कुछ भिन्न हो गई। यह ध्यान देने की बात है कि मैथिली का उदय और विकास जिस गति से हुआ, वह पीछे प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मंथर हो गया। लेकिन आधुनिक युग में जातीय भावना के अभ्युदय के साथ ही मैथिली फिर बढ़ चली और आज स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि यह बोली परिनिष्ठित हिंदी से अलग स्वतंत्र भाषा के रूप में विकास कर जायगी।

मैथिली और राजस्थानी

राजस्थानी की स्थिति भी बहुत कुछ मैथिली जैसी ही है। पश्चिमी राजस्थान बहुत दिनों तक जातीय और प्रशासकीय रूप में गुजरात से संबद्ध रहा। दोनों जातियों और बोलियों का विकास साथ साथ हुआ। पुरानी गुजराती और पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में बहुत कुछ समानता का होना इस तथ्य का प्रमाण है। दूसरी ओर पूर्वी राजस्थान पृथ्वीराज चौहान के ही समय से (और शायद उससे भी कुछ पहले से) दिल्ली आगरा के शासन सूत्र से संबद्ध रहा। फलतः उसकी भाषा (पूर्वी राजस्थानी) पुरानी ब्रजभाषा से मिलती जुलती है। धीरे धीरे राजस्थान का राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास इस प्रकार हुआ कि राजस्थानी बोली-समूह की मुख्य बोली मारवाड़ी प्रधान हो गई और अब यह परिनिष्ठित हिंदी से स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में गठित होने लगी है।

मैथिली और राजस्थानी के विपरीत मध्यदेश की शेष तीन मुख्य साहित्यिक बोलियाँ अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली अलग अलग होती हुई भी आरंभ से ही एक जातीय भाषा के रूप में विकसित होने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ती हैं। इतिहास साक्षी है कि अवधी ने किस प्रकार तुलसीदास के समय तक आते आते ब्रजभाषा में अपना अस्तित्व मिलाकर एक काव्य भाषा के निर्माण में योग दिया और आगे चल कर अवधी मिश्रित ब्रजभाषा ही मध्यदेश की सर्वमान्य काव्य भाषा हो गई। साहित्यिक दृष्टि से अवधी ने अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा कर दिया। इसी तरह ब्रजभाषा ने भी खड़ी बोली के लिए मार्ग प्रशस्त करके नवीन साहित्यिक भाषा को आगे बढ़ाया। निःसन्देह खड़ी बोली ब्रजभाषा के सामानान्तर

हो उर्दू साहित्य में परमार्जित होता रहा लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से ब्रजभाषा के परिनिष्ठित होने के बाद ही खड़ी बोली का आधुनिक रूप सामने आ सका। सौदा और मीर के ठीक पहले तक खड़ी बोली में ब्रजभाषा का अत्यधिक मिश्रण था और मीर के समय तक भी ब्रजभाषा के प्रभाव से खड़ी बोली सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी थी। इस तरह व्याकरण की दृष्टि से अपभ्रंश के बाद अवधी से लेकर खड़ी बोली तक एक ही भाषा का निरंतर परिमार्जन और परिष्कार प्रतीत होता है।

अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली

सदियों तक घिसते घिसते प्रत्ययों, विभक्तियों, परसर्गों, उपसर्गों आदि ने आधुनिक परिनिष्ठित रूप धारण किया। इस प्रवाह में कुछ प्रत्यय-परसर्ग प्रवाह-पतित अथवा अप्रचलित हो गए और कुछ नए आ मिले। फिर भी व्याकरण का ढाँचा बहुत कुछ वही रहा। उच्चारण और ध्वनि विकार सर्वथा छोटे मोटे स्थानीय भेदों के बावजूद अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली एक ही हिंदी के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

लेकिन यह न भूलना चाहिए कि इन तीनों बोलियों को एक जातीय भाषा के रूप में संगठित होने का कार्य अभी अच्छी तरह पूरा नहीं हुआ है। कारण स्पष्ट है। गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल की तरह मध्य देश का जातीय विकास नहीं हुआ, इसीलिए इस क्षेत्र में एक जातीय भाषा का विकास भी यथोचित नहीं हो सका। जिस समय आधुनिक भाषाओं का उदय हो रहा था, उस समय मध्य देश अत्यंत अव्यवस्थित और अशान्त था। विदेशी आक्रमणकारियों के कारण राजनीतिक स्थिति बराबर अस्थिर रही। राजवंशों का परिवर्तन जितना जल्दी-जल्दी इस क्षेत्र में हुआ, उतना गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में नहीं हुआ। छोटे छोटे राजवंशों के शासन-क्षेत्रों में विभाजित रहने के कारण समस्त प्रदेश विभिन्न जातीय इकाइयों और बोलियों में बटा रहा। सोलहवीं सदी के आस-पास इस अव्यवस्था में थोड़ा परिवर्तन हुआ। मुगल बादशाह अकबर महान के शासन काल में सुदृढ़ केन्द्र स्थापित हुआ। विकेन्द्रित मध्यदेश केन्द्रोन्मुख हुआ। नये ढंग की भूमि-व्यवस्था ने बिखरे हुए गाँवों में कुछ एकसूत्रता स्थापित करने की पृष्ठभूमि तैयार की। सामरिक उपयोग के लिए बड़ी-बड़ी छावनियों के रूप में नगर स्थापित हुए। इन छावनियों में परस्पर यातायात की सुविधा होने से वाणिज्य की प्रगति हुई। इस तरह उस मध्ययुग में भी जातीय भावना के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई। एक ओर ये आर्थिक और राजनीतिक आधार निर्मित हो रहे थे और दूसरी ओर भक्ति आन्दोलन के द्वारा संपूर्ण मध्यदेश में सांस्कृतिक एकता की लहर फैल रही थी। इन दूसरे प्रयत्नों ने जातीय भाषा के विकास में महत्वपूर्ण योग

दिया। फलत अवधी और ब्रजभाषा के मिश्रण से एक सामान्य काव्य भाषा का प्रादुर्भाव हुआ और साथ ही नगरों में खड़ी बोली का भी अभ्युदय दिखाई पड़ा। आगे चलकर अंग्रेजों के शासन के साथ रेल, तार, डाक के द्वारा नव जातीय भावना के विकास के लिए और भी सुविधा प्राप्त हुई तो ब्रजभाषा और खड़ी बोली की सम्मिलित भाषा से आधुनिक खड़ी हिंदी का रूप सामने आया। जातीय एकता का यह कार्य नगरों में तो सम्पन्न हुआ, किन्तु उस सतह से नीचे गाँवों में दुराव बहुत कुछ बना ही रहा। फलत जो आधुनिक जातीय भाषा मध्यदेश में बनी वह ऊपर ही ऊपर नगर निवासी पढ़े लिखे मध्यवर्ग तक ही सीमित रह गई, उसकी जड़ें गाँवों की मिट्टी में न जा सकीं। इसी आधारभूत कमजोरी के कारण आज भी इस क्षेत्र की भाषा समस्या उलझी हुई है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर हिंदी बोलियों के उदय की की भाषा विषयक अवस्थाओं पर विचार किया जाना चाहिये।

जब से अपभ्रंश का प्रचुर साहित्य प्राप्त हुआ है, अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का सम्बन्ध जोड़ने और उनका आविर्भाव दिखाने का फैशन-सा चल पड़ा है। जहाँ तक इस दिशा में शोध भावना से प्रयत्न करने की बात है, वहाँ तक तो ठीक है लेकिन पहले से ही एक निश्चित धारणा के अनुसार अपर्याप्त तथ्यों को जब अनुमान के साँचे में ढालने की चेष्टा की जाती है अथवा कुछ अनुमानित अपभ्रंशों की कल्पना की जाती है तो यह कार्य वैज्ञानिक विचार की सीमा से बाहर जा पड़ता है। जब तक 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण', 'वर्णरत्नाकर' आदि परवर्ती अपभ्रंश के ग्रंथ प्राप्त नहीं हुए थे तब तक पश्चिमी अपभ्रंश के साहित्य के आधार पर हिंदी बोलियों के उदय की चर्चा करना बहुत कुछ अनुमानित ही था। वस्तुत

हिंदी बोलियों के उदय पर प्रकाश डालने वाली सामग्री

अपभ्रंश का जो अधिकांश साहित्य प्रकाशित हुआ है, उनमें प्राय गुजराती और कुछ-कुछ राजस्थानी के ही आरम्भिक चीज अधिक हैं। पश्चिमी अपभ्रंश की कुछ सामग्री विशेषत परवर्ती काल की—ऐसी अवश्य है जिससे ब्रजभाषा के आविर्भाव का आभास मिल सकता है जैसे संदेश रासक प्राकृत पैंगलम आदि। लेकिन सारी सामग्री इतनी परिपाटी विहित और साहित्यिक है कि उससे उस समय की लोक-बोलियों का पता लगाना कठिन प्रतीत होता है।

इसकी अपेक्षा 'उक्ति-व्यक्ति' की भाषा में लोक-बोली के अधिकतर तत्त्व कहीं अधिक हैं। अवधी की उत्पत्ति मालूम करने में यह सामग्री जितनी अधिक उपादेय है, उतनी विश्वसनीय और समृद्ध सामग्री ब्रजभाषा के लिए अभी तक

सुलभ नहीं हो सकी है।

लेकिन खड़ी बोली के प्राचीनतम रूप पर प्रकाश डालने वाली सामग्री तो सबसे कम है। आम तौर से शौरसेनी अपभ्रंश तथा अवहट्ट में ऐसा कुछ नहीं मिल सका है, जिससे खड़ी बोली का सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जा सके।

खड़ी बोली की प्राचीनतम सामग्री

'दक्खिनी हिंदी' नाम से अवश्य ही बहुत सा साहित्य प्राप्त हुआ है जो काफी पुराना है (यहां तक कि उसमें से कुछ रचनाएँ तेरहवीं चौदहवीं सदी ईस्वी की हैं) और जिससे खड़ी बोली के प्राचीनतम रूप पर प्रकाश पड़ता है। तेरहवीं-चौदहवीं सदी में दक्खिन में जाकर उत्तर की जिस बोली में साहित्य रचा गया, उस बोली को परवर्ती युग की अपभ्रंश अथवा अवहट्ट ही समझना चाहिये। रचना करने वालों ने उस बोली को चाहे जो बोली या भाषा ही कहा हो, लेकिन उसे परवर्ती अपभ्रंश समझने में कठिनाई नहीं होना चाहिए। फ़ारसी के पंडितों से यहाँ की लोक बोली के लिए अपभ्रंश संज्ञा की उम्मीद नहीं की जा सकती है क्योंकि उनके लिए यह अपभ्रंश न था, 'अपभ्रंश' तो था वह संस्कृत के पंडितों के लिए। जो हो, यदि अरबी-फारसी शब्दों से मिश्रित 'कीर्तिलता' जैसी पुस्तकों की भाषा व्याकरण के कारण अवहट्ट कही जा सकती हैं, तो तथाकथित 'दक्खिनी हिंदी' को भी अवहट्ट क्यों न कहा जाय। डा० मौलवी अब्दुलहक ने उर्दू की इब्तिदाई नशो व नुमा में सूफ़ियाय कराम का काम' नामक पुस्तक में खड़ी बोली के आरम्भ का विस्तृत वर्णन किया है। उसमें उन्होंने शेख फरीदुद्दीन शकरगंज (११७३-१२६५ ई०) का कुछ कलाम उद्धृत किया है। उनमें से एक यह है—

तन धोने से जो दिल होता पाक।
पेशरू असफ़िया के होते गूक॥
रीश सबलत से गर बड़े होते।
बोकड़ियाँ से न कोई बड़े होते॥
खाक लाने से गर खुदा पाए।
गाय बैलाँ भी वासलाँ हो जाए॥
गोशे गीरी में गर खुदा मिलता।
गोश चोर्यां कोई न वासिल था॥
इश्क का रमूज न्यारा है।
मुज मरद पीर के न्यारा है॥[१]

---

१ डा० बाबूराम सक्सेना दक्खिनी हिंदी पृ० ३१ पर उद्धृत १९५२ ई०

इस तरह की और भी पंक्तियाँ उर्दू भाषा और साहित्य के इतिहासकारों ने इतिहास के आदि काल में उद्धृत की हैं। उन विवरणों से पता चलता है कि दक्खिनी के पहले ग्रंथकार ख्वाजा बंदानवाज़ गेसूदराज मुहम्मद हुसैनी (१३१८-१४२२ ई०) हैं और उनकी रचनाओं में भाषा की दृष्टि से 'मीराजुल आशकीन, काफी महत्वपूर्ण है। यह उन्नीस पन्नों का अरबी फारसी मिश्रित हिंदी गद्य है। इसकी जो प्राचीनतम प्रति प्राप्त हुई है वह भी १५०० ई० लिखी हुई है इसलिए इसे १५ वीं सदी की बोली की प्रामाणिक सामग्री माना जा सकता है। इसके कुछ नमूने निम्नलिखित हैं —

१ इंसान के पूजने कूँ पाँच तन, हर एक तन का पाँच दरवाजे हैं, हौर पाँच दरबान हैं, पैला तन वाजिब उल-वजूद मुकाम इसका शैतानी, नफ्स इसका अम्मारह यानी वाजिब उल-वजूद की आँख सों गैर न देखना सो। दिल के कान सों गैर न सुनना सो, इसद तऊ सों बदबाइ न लेना सो, जीभ की जबान सों वद गोई न करना सो पीर तवायत कामुल होना नब्ज़ पहचान दवा लेना।[1]

२ इसमें आपकू देखिया सो खालिक में ते खालिक की इज़हार किया।

३ मुहम्मद हमें जो विसलाए त्यों तुम्हें देखा।

४ ए भाई सुनो जे कोई दूध पीवेगा सो तुम्हारी पैरवी करेगा शरियत पर कायम अछेगा। पानी पावेगा सो विश्वास के कनरया में डूबेगा।

५ जबराइल हजरत कू बोले ऐ मुहम्मद दुरूस्त।

६ ये तीनों झाड हर एक मोमिन के तन में है।

७ हदीस व नवी फ़रमाय है।

८ इसका माना न देख सकेंगे अपने अखियाँ सूँ मगर देखेंगे मेरे अखियाँ सू श्री सूरत साहब की।[2]

इसी तरह अमीर खुसरो (१२५३-१३२५ ई०) की रचनाओं से भी उभरती हुई खड़ी बोली के नमूने लिए जा सकते हैं। जहाँ तक खुसरो की पहेलियों का संबंध है, उनकी भाषा को भाषा लोग आधुनिकता के रंग-रँगी मानते हैं। लेकिन खुसरो का 'खालिक बारी', जो एक पद्यबद्ध शब्द कोश है और फारसी शब्दों को समझाने के लिए लिखा गया है, कुछ विश्वसनीय माना जा सकता है। 'खालिक बारी' की भाषा व्याकरण की दृष्टि से आरंभिक खड़ी बोली ही है। कुछ वाक्यों से इस कथन की सचाई देखी जा सकती है—

---

१ हामिद हसन क़ादरी दास्ताने तारीख़े उर्दू

२ डा० रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास द्वितीय संस्करण पृ० ८७ पर उद्धृत।

१ इस्म अस्वद खुद का नूर।
२ दोश कल्ह रात जो गई। वो शब आज रात जो भई ॥
३ तर अवगफ़तम मैं तुम कह्या। कजा बमा मुज़ो तू कत रह्या ॥
४ अस्प मारान हिंदवी घोड़ा चलाव।
५ खाक धूल जो बाद उड़ानी।
६ दरिया बहर समुन्दर कहिए जाको नाहीं थाह।
७ चाँद घटा रात का ताज़ा अवान॥
८ हुइ जिंदह् जानियो तुम जीवता।
९ बेदार बवों कि जागता है। हम खफ्तह् बवों कि सोवता है।
१० शरम लाज पोशीदन ढाँकना। कार है काज खवास्तन माँगना।
११ है जनूब दखिन का ओर। हम शुमाल उत्तर का छोर ॥
तथाकथित दखिनी हिंदी' के इन नमूनों को देखते हुए उसकी व्याकरण सबंधी विशेषताओं का भी उल्लेख आवश्यक है।[१]

१ सभी कारकों में बहुवचन में प्रायः अकारान्त शब्दों के विकारी रूप आँ—कारान्त होते हैं तथा इकारान्त-ईकारान्त सज्ञाएँ—याँ कारान्त हो जाती हैं जैसे—

बातों के बन्दों, दोस्तों ने बोले हैं औरतों खातिर।

अचनियाँ एनियाँ मुरतियाँ, दँखियाँ सों सीपियाँ सभा।

२ कर्तृवाचक परसग 'ने' का प्रचलन हो गया था लेकिन आधुनिक खड़ी बोली की भाँति निश्चित न था कि भूतकालिक सकर्मक क्रिया के कर्त्ता के साथ 'ने' का प्रयोग होगा और अकर्मक के कर्त्ता के साथ न होगा। जैसे—

'दोस्तों ने बोले हैं' और 'बादशाह शराब पिया'।

इस तरह कर्तरि और कर्मणि दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

३ कर्मवाचक परसग 'को' मिलता अवश्य है, लेकिन अधिकांशत उसका सानुनासिक रूप—कों ही प्रचलित था जैसे किसी कों नै मिले।

४ करण अपादान वाचक परसर्गों में, से, सों, ते, सेती आदि के बीच 'से' के प्रयोग की ओर उन्मुखता तो दिखाई पड़ती है परन्तु 'से' की अपेक्षा 'सों' की अधिकता है जैसे सब सों, जिस सों।

५ सम्प्रदान के लिए तई ८तण का ही प्रयोग प्रायः मिलता है जैसे—'समुन्दर के तई' लेकिन एक नया परसर्ग 'खातिर' भी लोक व्यवहार में आ गया था जैसे—अपना खातिर को।

१ दखिनी हिंदी के व्याकरण की रूपरेखा अधिकांशत डा० सक्सेना की 'दखिनी हिंदी' पर आधारित है।

६ संबंध कारक के परसर्ग 'का' की अपेक्षा अवधी वाले 'केरा', 'केरी', 'केरे' रूप अधिक प्रचलित थे जैसे—

मोहब्बत केरा मय जो पीता अहै।
अजब तेरे कुदरत करे काम हैं।

वैसे 'उनन के मोहया' जैसे रूप भी यत्र तत्र मिलते हैं।

७ अधिकरण का परसर्ग 'में' स्थिर हो चुका था जैसे इन दोनों में।

८ सामान्य वर्तमान काल की क्रिया में शतृ वाले कृदन्त-तद्भव रूप पूर्ण प्रचलित हो गए थे जैसे होता, होती, होते आदि। लेकिन केवल –त वाले प्राचीन अवशेष भी रह गए थे जैसे—देखत, आवत।

९ भूतकालिक क्रिया के रूप अपभ्रंश के निष्ठा वाले रूपों के ही विकासित रूप थे, जैसे—दौड़ाए, पैदा किया, नेकी की, कबूल किए हैं आदि। लेकिन कह्या, सह्या, जान्या, बोल्या जैसे रूप भी मिलते हैं। साथ ही ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्म वाच्य में भूतकालिक क्रिया को कर्म के लिंग-वचन के अनुरूप बदलने की प्रवृत्ति तब तक स्थिर नहीं हुई थी जैसे

इस छिनाल ने मुझे मारी।
जिसे खुदा दिया सफाई उसे थाई।
काम बहुत खाब किया हूँ।

१० भविष्यत् काल की क्रिया के रूप—गा,—गी अन्त वाले होने लगे थे जैसे—दिखलाएगा, आएगा, सकेगा।
यद्यपि—स वाले प्राचीन अवशेष भी रह गए थे जैसे—जासी, आसी (जो मारवाड़ी में अब भी होते हैं)

११ पूर्वकालिक क्रिया के रूप—स्यप् 7 —य + कर वाले अधिक मिलते हैं, जैसे—आय कर, होय कर।
तात्पर्य यह कि आकर, होकर जैसे आधुनिक रूप प्रचलन में नहीं आए थे। इसी तरह कर + कर = कर के जैसे रूप का भी प्रचलन उतना नहीं हुआ था प्रायः 'तसलीम कर-कर' जैसे रूप ही अधिक मिलते हैं।

१२ सहायक क्रियाओं में है, हैं, हो, हूँ, था, थे, थी, होगा, होगे, होंगे, होंगी, होगी रूप प्रचलित तो हो चुके थे लेकिन इनके साथ ही अछ, अह, अय के प्राचीन अवशेष और 'हैंगी', हैंगा जैसे रूप भी मिलते हैं।

१३ प्रेरणार्थक [illegible] में यदि एक ओर 'दिखलाता' जैसे आधुनिक रूप मिलते हैं तो दूसरी ओर 'कहवाता' जैसे प्राचीन रूप भी दिखाई पड़ते हैं।

१४ √स[illegible] धातु के साथ संयुक्त क्रिया बनाते समय जहाँ आज कल पूर्वकालिक

क्रिया का रूप इस्तेमाल किया जाता है, यहाँ उस समय क्रियार्थक संज्ञा के प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जैसे—'कर सके' की जगह 'करने सक'।

इस प्रकार तथाकथित 'दक्खिनी हिंदी' की भाषा संबंधी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उसमें अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली तथा राजस्थानी, पंजाबी आदि दूसरी अनेक बोलियों का मिश्रण है। निःसंदेह उस भाषा की प्रवृत्ति मुख्यतः खड़ी बोली की ओर उन्मुख है लेकिन उससे खड़ी बोली के आरंभिक अस्थिर तथा अव्यवस्थित रूप का ही पता चलता है। हिंदी की यह स्थिति लगभग सोलहवीं सदी ईस्वी के आस पास की है।

इस तरह परवर्ती अपभ्रंश में अलग अलग हिंदी की विविध बोलियों के बीज का दिग्दर्शन कर चुकने के बाद सामान्य रूप से अपभ्रंश और हिंदी के संबंध पर विचार किया जा सकता है।

———

अपभ्रंश से हिंदी का उद्भव और विकास

कारक विभक्ति

• निर्विभक्तिक शब्द मात्र—अपभ्रंश से लेकर आधुनिक हिंदी तक अनेक कारकों में परसर्ग-सहित अथवा परसर्ग-रहित निर्विभक्तिक शब्द मात्र का प्रयोग होता आ रहा है।

कर्ता कारक, एक वचन

> पइउ मग्गणु एहु। (हेम०)
> अहिर गोरू चाग मेलव। (उक्ति०)
> पहुरि राम मायहि सिरु नावा (मानस)
> छात्र पढ़ता है। (ख० बो०)

कर्ता कारक, बहु वचन

> सुपुरिस कंगुहे अणुहरिहिं। (हेम०)
> बहुतु पूत भए। (उक्ति०)
> सुनत निसाचर मारन धाए। (मानस)
> छात्र पढ़ते हैं। (ख० बो०)

कर्म कारक, एक वचन

> लेवि महव्वय सिवु लहहिं। (हेम०)
> केउट नाव चढाव। (उक्ति०)
> अस विचारि गवनहु घर भाई (मानस)
> वह घर जाता है। (ख० बो०)

कर्म कारक, बहु वचन

> जा गुण गावइ अप्पणा। (हेम)
> बाह्मण इ घर निवतेसु। (उक्ति०)
> अस कहि चरन गहे बैदेही। (मानस)
> उसने अनेक नगर देखे। (ख० बो०)

अधिकरण कारक एक वचन

महुजि घर सिढिरया व देइ। (हेम)
दुआर पइसंति निहुड। (उक्ति०)
बड़ भाग उर आवइ जासु (मानस)
बैठ शिला की शीतल छाँह (कामायनी)

इस प्रकार अन्य कारकों में भी निर्विभक्तिक पद मिलते हैं। परन्तु परिनिष्ठित अपभ्रंश में अन्य कारकों में इस ढंग के निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग कम दिखाई पड़ते हैं, विशेषत करण और अपादान कारकों में। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश में अपेक्षाकृत अधिक बढ़ गई थी और आधुनिक बोलियों के उदय के साथ जब सभी कारकों के लिए नये नये परसर्ग आ गए तो निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो उठी। हेम व्याकरण के उदाहरणों की तुलना में 'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' में निर्विभक्तिक पद कहीं अधिक मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में परसर्ग के पूर्व निर्विभक्तिक पद प्रयोग के उदाहरण थोड़े ही मिल सकते हैं जब कि आधुनिक बोलियों में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। अपभ्रंश में तण, हुँत, केर, मज्झि के पूर्व कोई न कोई सविभक्तिक पद ही रहता है जैसे—

वड्डत्तणहो तणेण, तसु केरअ, तुम्हह होन्तउ, जीवहिं मज्झे (हेम०)

इसके विपरीत परवर्ती भाषा में—

गाँव हुँत आव (उक्ति)
ओझा पास वादा ■। (उक्ति)
का किह (उक्ति)
मृत्यु सबो कलकल करइते अछ। (वर्ण०)
जनि अमृत सरोवर सबो पक उढरि आनल (वर्ण०)
जुआर संग (वर्ण०)
सुरुतान के परमाने। (कीर्ति०)
सेना सनु। ,,
मानिनि जीवन मान सञो। ,,
हिसि हिसि दाम मे ,

पश्चात् अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में इसके पुष्कल प्रयोग मिलते हैं। मन महँ, उर माहीं, गुरु सन, सुरन लगि, जल ते, राम का इत्यादि।

२—उ विभक्ति—उकार बहुला भाषा के रूप में अपभ्रंश प्रसिद्ध है। यों तो

अपभ्रंश में कृदन्त-तद्भव क्रियाओं के रूप भी उकारान्त होते हैं लेकिन कारक विभक्ति के रूप में—उ का प्रयोग अपभ्रंश में प्रायः कर्ता और कर्म कारक के एक वचन में ही होता है जैसे—

सायरु उप्परि तणु धरइ। (हेम०)

जइ भग्गा घरु एन्तु। ,,

अन्य कारकों में—उ विभक्ति का प्रयोग अपभ्रंश में नहीं मिलता। हेमचन्द्र के बाद 'उक्ति व्यक्ति' से होती हुई यह प्रवृत्ति अवधी और ब्रज भाषा तक अबाध गति से प्रचलित रही।

धर्मु काज। कूड गाल (उक्ति०)

उग्गा हिय अति हरषु विसेषा। (मानस)

आश्रमु देखि नयन जलु छाए। ,,

स्यामु हरति दुति होइ (विहारी)

पापु (बिहारी, २६६), उराहु (बिहारी, ३१४)

पश्चात् आधुनिक खड़ी बोली में इस विभक्ति का लोप हो गया। सम्भवतः खड़ी बोली की अपभ्रंश में—उ विभक्ति आरम्भ से ही न थी, क्योंकि तथाकथित 'दखिनी हिंदी' की रचनाओं में भी उकारान्त संज्ञाएँ नहीं मिलतीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उकार की यह प्रवृत्ति कोशल में ही अधिक सुरक्षित रही। ब्रजभाषा में भी सूर-सागर में इसके प्रयोग कम मिलते हैं, बिहारी आदि ब्रजभाषा के परवर्ती कवियों में इसका जो प्रयोग दिखाई देता है, उसे अवधी का प्रभाव समझा सकता है। 'वर्णरत्नाकर' में भी यह उकार प्रवृत्ति नहीं मिलती 'कीर्तिलता' में यह प्रवृत्ति मिलती तो है। लेकिन कम और जो उदाहरण मिलते भी हैं उनमें अधिकांश कर्तृवाचक और कर्मवाचक ही हैं जैसे—

तबहु पिआजु पिआजु पइ।

जसु पत्थावे पुण्णु

कीर्तिलता में ही अन्यत्र कहीं कहीं सम्बन्ध कारक में भी—उ विभक्ति का प्रयोग मिलता है जैसे

बुहु भीतर, सेएहु सम्ब, महामासु खहा।

३—हि,—हिं विभक्ति और उसके विविध रूपान्तर—

अपभ्रंश में यह करण और अधिकरण, बहुवचन की विभक्ति है।

अत्थिहिं ठाउ फेडइ। (करण) हेम०

अग्गहि अंगु न मिलिउ ,, ,,

अग्गिहिं गिम्हे (अधि०) ,,

कभी कभी अधिकरण, एक वचन में भी—हिं का प्रयोग हुआ है—

एक्कहि अक्खिहिं सावणु (हेम०)

इसी तरह—हि विभक्ति का प्रयोग सामान्यत इकारान्त शब्दों के अधिकरण एक वचन में होता है—

अद्धा वलया महिहि गय (हेम०)

लेकिन जैसा कि डा चैटर्जी ने लिखा है, आगे चलकर यह विभक्ति विविध कारकों के लिये 'ए मॉट ऑफ मेड ऑफ ऑल-वर्क' हो गई।[१] अपने अधिकल रूप में भी करण और अधिकरण के अतिरिक्त कर्म, सम्प्रदान, अपादान आदि कारकों में इस्तेमाल की जाने लगी।

कर्मकारक —

माचहि ताड। (उक्ति)

सत्रुहि मित्र कए। (कीर्ति)

चाँटहि करै हस्ति सरि जोगू। (पद्मा)

सतरूपहि विलोकि कर जोरे (मानस)

और सबहि कर जोरे। (सूर०)

सम्प्रदान कारक—

वरहि कन्या दे। (उक्ति०)

देस देस के वर मोहिं आवहि। (पद्मा)

तुमहिं देत अति सुगम गोसाई (मानस)

अपादान कारक—

बाघहि डर (उक्ति)

राजा गरबहि बोलै नाहीं (पद्मा०)

सम्बन्ध कारक—

रायचरहि का पत्र लेन। (कीर्ति)

पद्मिनिहि तन सब पाँव (पद्मा)

अपर सुनहिं अरिमर्दन नामा (मानस)

करण कारक—

वेस्हार मुल्लहि वणिक विक्कण (कीर्ति०)

वज्रहि तिनकहि मारि उड़ाइ। (पद्मा०)

लालहि हते कबीर। (मानस)

---

१ उक्ति व्यक्ति स्टडी पृ० ३७

अधिकरण कारक—

जिहाणहि आदितु रणा। (उक्ति०)
साव जिहाहि विवाड। (यग०)
को ससारहि सार। (कीर्ति०)
ज्यों ग्रिम्बहि प्रतिबिंब समाना। (कबीर०)
तेहि चढ़ि हेर कोइ नहि साथा। (पद्मा०)
तेहि आश्रमहि मग्न जय गयऊ (मानस)
तहँहि जाहु जह भाए हो (सूर०)

यद्यपि—हि (हिं) विभक्ति के उदाहरण सभी कारकों में मिलते हैं, तथापि गणना करने से पता चलता है कि अपभ्रंश में इसका प्रयोग जहाँ करण—अधिकरण में अधिक होता था वहाँ अवधी और ब्रजभाषा में कर्म-सम्प्रदान में विशेष होने लगा।

(क)—हि (—हिं) विभक्ति का पहला रूपान्तर—इ और—ए के रूप में मिलता है। ध्वनि-दुर्बलता के कारण—हि के 'ह' का लोप हो जाना स्वाभाविक प्रवृत्ति है। फलतः अपभ्रंश के अनुसार—हि का अवशिष्ट रूप—इ कहीं-कहीं करण कारक में भी कुछ दिनों तक प्रयुक्त होता रहा जैसे—

गुरु मुष्टि बिना न भाजसी ये दूया यह राग। (गोरख)
जाण डसी भुयङ्गि। (ढोला०)
जिहि सरि मारी कालिह। (कबीर)

लेकिन अवधी में इसका प्रयोग प्रायः भूतकालिक सकर्मक क्रिया के करण-वाचक एक वचन के कर्त्ता के रूप में विशेष मिलता है जैसे—

राजें कहा सत्त कहु सुआ। (पद्मा०)
सुऐं कहा हमहू अस भूा। „
राजैं लीन्ह ऊबि कै साथा। „
गहनैं गहा चाँद कै करा „
गोरैं हसि महेस सों कहा ,

इस तरह के प्रयोग तुलसी की अपेक्षा जायसी में अधिक मिलते हैं, यह—ए अथवा—ऐं कहीं निरनुनासिक है और कहीं सानुनासिक। 'पद्मावत' के शुक्ल जी वाले संस्करण में ऐसे प्रयोग प्रायः निरनुनासिक हैं जब कि डा० माता प्रसाद गुप्त वाले संस्करण में सानुनासिक हैं। संज्ञा के इन रूपों ने सर्वनाम के ऐसे प्रयोगों को भी प्रभावित किया है—

कहुँ न जगत नय बेंचा, कहुँ न लान्ह नय माल। (पद्मा०) में कहुँ 'कहि (कहि) का ही रूपान्तर है।

—इ,—ए,—ए विभक्ति का प्रयोग कर्त्ता के अतिरिक्त कर्म-सम्प्रदान में भी मिलता है।

गन्मी एक तेई खेल न जाना। (पद्मा०)
कन मागत बाँभनै लाज नहीं। (सुदामा०)

अनुमानतः कर्म-सम्प्रदान में जो इन्हें, उन्हें रूप चलते हैं वे 'इनहिं' और 'उनहिं' के ही रूपान्तर हैं और इनका—हि विभक्ति घिसकर—अइँ 7 एँ हो गई है।

सम्भवतः आधुनिक खड़ी हिंदी का आकारान्त संज्ञाओं के एकारान्त विकारी रूप इसी—हि के अवशेष हैं।

लड़का का विकारी रूप लड़के, जो सभी कारकों में परसर्ग के पूर्व इस्तेमाल किया जाता है, वह अन्य किसी सन्तोषप्रद व्युत्पत्ति के अभाव में इसी—हि के अवशिष्ट रूप से निर्मित माना जा सकता है।

(ख) अपभ्रंश के बाद 'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर', 'कीर्तिलता तथा पुरानी अवधी और ब्रज में कहीं कहीं अधिकरण कारक में अँ— आँ विभक्ति का प्रयोग मिलता है जिसे डा० चैटर्जी ने इसी—हि विभक्ति से सम्बद्ध मानने का सुझाव दिया है।[१]

सेनैं आलर (उक्ति०)
तेहू करि सभाँ बहुतु गुणिया भए। (उक्ति)
पाजें देखित यमति। (वर्ण०)
सेवाँ यहवल छुधि (वर्ण०)
लाभ जानि आएउँ एहि हाटाँ।
मूर गँवाइ चलेउँ तेहि बाटाँ॥ (पद्मा)
अउ प्रभु हन्यँ अछत अधिकारा। (मानस)

४—हि,—न्ह विभक्ति और उसके विविध रूपान्तर—

अपभ्रंश में—हि,—न्ह जैसी कोई विभक्ति नहीं मिलती। परन्तु अपभ्रंश के बाद 'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर' 'कीर्तिलता तथा अवधी और ब्रज भाषा के ग्रंथों में इसका प्रयोग व्यापक रूप से दिखाई पड़ता है। विद्वानों का अनुमान है कि यह मिश्रित विभक्ति है जो अपभ्रंश की दो भिन्न विभक्तियों (करण कारक, बहुवचन की—हिं ८—भि और सम्बन्ध कारक, बहुवचन का—ण ८ आनाम्)

१ वर्ण रत्नाकर अंग्रेजी भूमिका पृ० ३१

के संयोग से बनी है।[1]

लेकिन अपभ्रंश में सम्बन्ध कारक, बहुवचन की विभक्तियों में—ह —ह वाले रूप अधिक मिलते हैं। इनके अतिरिक्त—आण —आण विभक्ति वाले प्राकृत प्रभावित रूप भी यत्र तत्र दिखाई पड़ जाते हैं लेकिन परिनिष्ठित अपभ्रंश में इनका प्रचलन बहुत कम था। इस तरह न तो अपभ्रंश में और न प्राकृत में ही सम्बन्ध कारक, बहुवचन में—णु जैसी कोई विभक्ति मिलती है। ऐसी दशा में—न्हि,—न्ह की व्युत्पत्ति के लिए प्राकृत—आण और अपभ्रंश—हिं के संयोग का ही सहारा लेना पड़ेगा, जो अन्य किसी उन्नायप्रद व्युत्पत्ति के अभाव में अब तक बहुमान्य है।

—न्हि,—न्ह का प्रयोग सामान्यतः कर्म, सम्प्रदान, करण, अधिकरण और सम्बन्ध कारकों में परसर्ग-सहित और परसर्ग-रहित दोनों स्थितियों में मिलता है अपादान कारक में प्रायः इसका प्रयोग परसर्ग के साथ विकारी रूप में ही दिखाई पड़ता है।

कर्मकारक—

गुरु सीसन्ह ताड़ (उक्ति०)
गो बोल गमारन्हि छाड़। (कीर्ति)
सरारन्हि त्यागि गति पैहहिं सदा (मानस)
एक एकन्ह बनही। ,,

सम्प्रदान—

जैंघ बाम्हणन्ह दानु देइ। (उक्ति)
कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता। (मानस)
नप विप्रन्ह कह दीन्ह। ,,

सम्बन्ध—

एन्ह माँझ कवण तोर माइ (उक्ति)
उल्का मुखन्हि क उद्योत (वर्ण)
अरिराअन्ह लच्छिअ छालि ल (कीर्ति)
अवलन्ह उर भय भएउ विसेखा। (मानस)
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता ,,

अधिकरण—

निकसे सरन्हि बहु कंज। (मानस)

—न्ह—न्हि का प्रयोग जब करण कारक में होता है, तो प्रायः भूतकालिक

---

१ वर्ण० अंग्रेजी भूमिका पृ ४७

कृदन्त-उद्भव सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में होता है।

वायसन्हि कोलाहल करु। (वर्ण०)

भमरन्हि पद्म त्यजल। ,

तासु मन्त्रिन्हु कियउ पच्चार (कीर्ति०)

उन बानन्हु अस को जो न मारा (पद्मा०)

जात पवनसुत देवन्हु देखा (मानस)

बात अस हरिकन्हि कही ,

(क) *आगे चलकर अवधी और ब्रज में—'ह' का महाप्राणत्व लुप्त हो गया और यह केवल—न के रूप में अवशिष्ट रह गया।—न्ह ७ —न की प्रवृत्ति का सूत्रपात वर्ण-रत्नाकर के समय से ही हो गया था लेकिन प्रयोग की स्वल्पता देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक उस प्रवृत्ति का सूत्रपात हो हुआ था।*

पूरे 'वर्ण रत्नाकर' में—न विभक्ति का केवल एक उदाहरण मिलता है। काँचन गिरि-कों शृंग मयूरन चरदते अछ।

अवधी और ब्रज में इस—न के दो रूप और मिलते हैं—नि और—नु।

निज निज मुखनि कही निज हानी (मानस)

सखा, इन नैननि ते घन हारे (सूर०)

पलनि प्रकटि वरुनानु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात। (बिहारी)

अनियारे दीरघ दृगनि। (बिहारी)

(ख) *अंत में—न्ह विभक्ति घिसते घिसते खड़ी बोली में आकर केवल* —ओं के रूप में अवशिष्ट रह गई, जिससे सभी कारकों के बहुवचन में परसर्गों के पूर्व विकारी रूप निर्मित होते हैं जैसे आँखों को देखा, आँखों ने देखा, आँखों से देखा, आँखों देखा, आँखों के लिए देखा, आँखों का देखा, आँखों में देखा और आँखों से गिरा।

५ इनके अतिरिक्त अपभ्रंश की अन्य विभक्तियों का प्रयोग परवर्ती काल में बहुत कम हो गया और धीरे धीरे अवधी ब्रज और खड़ी बोली का उदय होते होते वे सर्वथा अप्रचलित हो गई। 'कारति गइ समुद्दहँ पारा' जैसे प्रयोग जायसी ने भी किए हैं 'घरहँ जमाई लौं घस्यो खरो पूस दिन मान' जैसे प्रयोग बिहारी के समय तक दिखाई पड़ते हैं जिनमें अपभ्रंश के संबंध कारक, बहुवचन की विभक्ति—हँ अवशिष्ट है। इसी तरह पृथ्वीराज रासो में जादु कुलह अभग्ग' जैसे प्रयोग मिलते हैं जिनमें अपभ्रंश के संबंध कारक

एकवचन की विभक्ति—इ सुरक्षित है। कारण स्पष्ट है। भाषा में एक बार जो ध्वनि-संबंधी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, फिर उसका पुनरुद्धार प्रायः नहीं होता, किन्तु व्याकरणिक प्रवृत्तियों के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। प्राचीन विभक्ति, प्रत्यय अथवा परसर्ग बहुत दिनों तक अवशिष्ट और सुरक्षित रहते हैं।

अस्तु, 'घरहँ जमाइ' और 'जादू टुलह' जैसे प्रयोग अपवाद ही मान जायगे।

इन अपवादों के अतिरिक्त अपभ्रंश का—हु,—हुँ,—हो आदि विभक्तियाँ या तो अप्रचलित हो गइ, या लुप्त हो गइ अथवा यह कहा जाय कि वे अवधी, ब्रज भाषा और खड़ी बोली के विकारी प्रत्ययों में समाविष्ट हो गइ।

परसर्ग

६ अपभ्रंश कारकों की विभक्तियों का अध्ययन करते समय कुछ ऐसे स्वतंत्र शब्द मिलते हैं जो शब्दों के साथ प्रत्यय की भाँति जुड़े नहीं होते, फिर भी वे काय करते हैं किसी कारक विभक्ति का ही। अपभ्रंश से पूर्व प्राकृतों में ऐसे विभक्ति वाचक स्वतंत्र शब्दों की संख्या बहुत कम थी। इस प्रवृत्ति का और भी विश्लेषण करने से पता चलता है कि अपभ्रंश में सबसे अधिक जिस कारक में परसर्ग की आवश्यकता अनुभव हुई वह संबंध कारक है। उसमें केरअ केर, कर, का का इत्यादि का प्रयोग संबंध सूचित करने के लिए खूब हुआ है। इसके बाद अधिकरण का स्थान है। उसमें भी मज्झे, मज्झु मज्झ, माँझ का खूब प्रयोग किया गया है। इन दोनों के बाद तीसरा नाम सम्प्रदान कारक लिया जा सकता है, जिसके लिए हेमचन्द्र ने केहि, रसि, तण परसर्ग परिलक्षित किए हैं। इन तीनों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अपादान कारक में होन्तउ परसर्ग का उल्लेख किया है।

सामान्यतः अपभ्रंश में इतने ही परसर्गों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

कुछ और ध्यान से देखने पर पता चलता है कि इन परसर्गों का प्रयोग संज्ञा शब्दों के साथ अधिक हुआ है। यह तथ्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इससे परसर्गों के आविर्भाव का कारण मालूम होता है। संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनामों में ध्वनि-परिवर्तन अत्यधिक दिखाई पड़ता है अनेक सर्वनाम तो इतने घिस गए हैं कि उनके तद्भव रूप से उनका संबंध स्थापित करना कठिन हो गया है। इस घिसाई में सर्वनामों से संलग्न विभक्तियों का भी रूप-परिवर्तन स्वाभाविक है। ऐसी दशा में, बहुत संभव है, क्षति-पूर्ति के लिए लोगों ने नए वाचक शब्दों की आवश्यकता अनुभव की होगी और फिर यथास्थान उनका उपयोग भी किया

होगा। अस्तु, विभक्ति चिह्नों की असमर्थता में ही परसर्गों का आगमन सभव है।

इन परसर्गों में भी ध्वनि-परिवर्तन बहुत हुआ है। इसीलिए अनेक परसर्गों का व्युत्पत्ति सदेहास्पद बनी हुई है। इस विषय में ज्यूल्स ब्लाश का मत है कि परसर्गों में अत्यधिक ध्वनि-परिवर्तन होने का मुख्य कारण यह है कि सहायक शब्द के रूप में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें प्रयत्न लाघव का शिकार अधिक होना पड़ता है। मुख्य शब्द झटके के साथ उच्चारित होता है तो उस स्वरपात का प्रभाव परवर्ती परसर्ग पर भी पड़ता है, फलत यह परसर्ग धीरे धीरे मुख्य शब्द का ही एक अक्षर (सिलेबुल) बन जाता है। मैथिली परसर्ग क इस नियम का ज्वलत उदाहरण है। किस प्रकार अपभ्रंश का राम केर घिसते घिसते राम क हुआ और अत मे रामक हो गया।

इसलिए अधिकाश परसर्ग सर्वनामों के साथ अभिन्न रूप में जुड़ कर उनके अग हो गए लेकिन सज्ञा शब्दों से उनकी वैसी अभिन्नता स्थापित न हो सकी। इसका एक ही कारण सम्भव हो सकता है। सर्वनाम प्राय एकाक्षरिक (मोनो सिलेबिक) होते हैं इसलिए उनके साथ एक और अक्षर के रूप में परसर्ग का जुड़ जाना स्वाभाविक है। लेकिन सज्ञा शब्दों के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। अनेक संज्ञा शब्द एकाधिक अक्षरों के होते हैं, इसलिए उनके स्वरपात के प्रभाव में परसर्ग प्राय नहीं आते। वस्तुत स्वरपात की दृष्टि से परसर्ग बहुत सज्ञा शब्दों से भिन्न ही रहते हैं।

अब एक एक करके अपभ्रंश के इन परसर्गों का विकास देखना चाहिए।

७ केरअ,—कर परसर्ग तथा उसके विविध रूपान्तर —यह लिंग वचन कारक से भी प्रभावित होता है।

जसु केरअ हुंकारडएँ (हम०)
लोचन केरा वल्लहा। (कीर्ति०)
काहू केर बिकाह (पद्मा०)
परहित हानि लाभ जिन्ह केर। (मानस)

यह कर' रामकेर जैसी व्यक्ति-वाचक सज्ञाओं में आज तक सुरक्षित है।

(क) केर का पहला रूपान्तर है कर—हेमचन्द्र के व्याकरण में 'कर' परसर्ग का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

सर्पिएँ कर घणु घर। (उक्ति०)
ताहि करो पुत्र। (कीर्ति०)
पद्म करे आकारे।

१ लाग मराते ६ १६७

फोउ काहू कर नाहिं निश्राना। (पद्मा०)
राम ते अधिक राम कर दासा। (मानस)

(ख) कै∠ कइ∠ करि∠ कर —
आस असवार कइ। (कीर्ति०)
सिर नवइ सब्ब कइ। ,,
परै रकत कै आँसु। (पद्मा०)
पलुही नागमती कै बारी। ,,
जेहि पर कृपा राम कै होई (मानस)

(ग) क∠कर —
कुरतिन्हि क उत्कण्ठा। (वर्ण०)
शक्ति क परीक्षा। (कीर्ति०)
धनपति उहै जेहि क संसारू। (पद्मा०)
पितु आयसु सब धरम क टीका। (मानस)

इस क के लिंग, वचन, कारक के अनुसार का, के, की तीन रूपान्तर होते हैं आधुनिक खड़ी बोली में केर, कर, कै और क रूप अप्रचलित हैं। इन सबके स्थान पर का, के की रूप ही चलते हैं।

व्रजभाषा मे इसीके रूपान्तर को, का रूप अधिक प्रचलित रहे हैं।

८ अधिकरण परसग—मज्झे और उसके रूपान्तर —
जामहिं विसमी कज्ज गइ जीवहिं मज्झे एइ (हेम०)
तेन्हु मांझ का कालिदास माघ किराव प्रभृति केतौ एक ख्याति गए। (उक्ति०)
युवराजन्हि मांझ पवित्र। (कीर्ति)
माँझ मंदिर जनु लाग अकासा। (पद्मा०)
कूदि पड़ा तब सिंधु म झारी। (मानस)

(क) माँह मँह —अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश में इसके प्रयोग प्राय नहीं मिलते। पुरानी अवधी और व्रज में इसके अवशेष बहुत दिनों तक सुरक्षित रहे।
सरग आइ धरती महँ छावा (पद्मा०)
राम प्रताप प्रकट एहि माँही। (मानस)
मन महँ तर्क करै कपि लागा। ,
ज्यों जल माँह तेल की गागरि। (सूर०)

(ख) मैं, में —आगे चलकर व्रजभाषा और खड़ी बोली में 'मँह' का 'ह'

लुप्त हो गया और इस तरह जो उद्वृत स्वर बचा, वह संभवत य या इ श्रुति में बदलकर फिर पूर्ववर्ती 'म' के 'अ' के साथ संयुक्त हो गया। इस प्रकार ब्रजभाषा में 'मैं' और खड़ी बोली में 'में' रूप प्रचलित हो गए।

हमको सपनेहू मैं सोच (सूर०)
झिलमिल पट मैं झिलमिली। (बिहारी)

९ उप्परि, परि, पर —

सायरु उप्परि तणु धरइ। (हेम०)
रह परि चडिअउ। ,,
आपुनि पौढ़ि अधर सेज्या पर (सूर०)
हम पै कोप कृपानिधि (सूर०)

१० सम्प्रदान परसर्ग केहिं और उसके रूपान्तर —

हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ (हेम)
पर केहँ, आपणु केहँ, पदवे किहँ (उक्ति०)

सम्भवत अवधी के कर्म-सम्प्रदान का परसर्ग—कहुँ अथवा कहँ इस केहि और केहँ का रूपान्तर है—

तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू। (मानस)
पहुँचि न सके सरग कहँ गए (पद्मा०)

विद्वानों ने प्राय कहँ का संबंध संस्कृत के कल्पित रूप 'कक्षं' से जोड़ा है लेकिन अभी तक इसका प्रयोग कहीं देखने में नहीं आया। कर्म और सम्प्रदान के परसर्ग प्राय परस्पर विनिमेय हैं, साथ ही अर्थ की दृष्टि से भी दोनों कारक एक दूसरे के अत्यधिक निकट हैं इसलिए अवधी कहँ का सम्बन्ध हेमचन्द्र के केहिँ से जोड़ना अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

(क) कौं, कौं, कू और का —

हम कौं आदावे चदरिया हो चले की बरिया। (कबीर)
नस यह समुद दीन्ह दुख मो कौं। (पद्मा)
देवे कौं कछु नाहिं। (कबीर)
मेरा मन सुमिरै राम कू ,,

११ तण और उसके रूपान्तर —अपभ्रंश में तण का प्रयोग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध तीन कारकों में हुआ है जैसे—

करण केहि तणेण तहि तणेण (हेम०, ४।४२५)
मई तणइ (परमात्म प्रकाश २।१८६)

सम्प्रदान : चउद्दतणाहो तणेण (हेम०, ४।३६६)
सिद्दतणाहा तणेण (पाहुड० ८८)
सम्बन्ध अह भग्गा अम्हहँ तणा (हेम० ४।३६६)
इमु कुल तुह तणउं (हेम० ४।३६१)
तमु तणइँ (सावयधम्म २२०५)
गय विहि तासु तणइ देहि (भवि० कहा ८।४)
अन्तर रागह तणइ (सनत्कुमार चरिउ)

अपभ्रंश के बाद इस परसर्ग के तन, तईं तें, तैं, ते और त्यो रूपान्तर दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से तन और त्यो का प्रयोग ओर के अर्थ में होता है, तथा तईं का प्रयोग सम्प्रदान में लिए के अर्थ में, और तैं, तें, ते का प्रयोग क्रमश करण और अपादान में से के अर्थ में। इन सबके प्रयोग क्रमश निम्नलिखित हैं—

तन पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी। (मानस)
मोहिं तन लाइ दीन्ह जस होरी। (तईं के अर्थ में)—पद्मा०
मोहि तन दीन्हेहि जय और मरता। (लिए के अर्थ में)—,,
त्यो सबही त्यो समुहाति छिनु। (बिहारी)
चितै तुम त्यों हमरो मन मोहै। (कविता०)
तैं, ते
राम ते अधिक रामकर दासा। (मानस)
जल समूह बरसत अखियन तें। (सूर०)

इन रूपान्तरों के अतिरिक्त तणा का ही एक रूपान्तर थैं भी हुआ था जा प्राय गोरख और कबीर की रचनाओं में तैं के अर्थ में मिलता है।

नाद हो थैं पाइए। (गोरख)
पाऊँ थैं पंगुल भया। (कबीर)
कहाँ थैं आया। ,,

१२ सम्प्रदान-परसर्ग लागि और उसके रूपान्तर —लागि का प्रयोग परिनिष्ठित अपभ्रंश में तो नहीं मिलता, लेकिन उसके बाद वर्ण-रत्नाकर और कीर्तिलता में इसका प्रयोग बहुतायत से मिलता है। आगे चलकर अवधी में भी यह प्रचलित दिखाई पड़ता है।

भनि एहि आलिंगए लागि एक कृष्ण चतुर्भुज भए गेलाह।
(वर्ण०)

तेअरा लागि तीनू उपेक्खिअ। (कीर्ति०)
को ओहि लागि हिवचल सामा। (पद्मा)
छुन मुन्य लागि जनम सत कोटी (मानस)

पर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में लागि का प्रयोग नहीं हुआ। इसके स्थान पर खड़ी बोली में प्राय लिए का प्रयोग मिलता है। विद्वानों के अनुसार लिए का संबंध सस्कृत के लग्न से है और यदि यह अनुमान सही है तो लग्न और लिए के बीच की कड़ी निश्चय ही लागि होनी चाहिए।

१३ अपादान परसर्ग होन्तउ और उसके रूपान्तर —यह परसर्ग संभवत √भू के शतृ कृदन्त रूप होन्त+स्वार्थिक प्रत्यय क7 अ7 उ से बना है जिसका मूल अर्थ है 'होते हुए'। अपभ्रंश में इसका प्रयोग अधिक नहीं मिलता। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में इसके तीन उदाहरण दिए हैं—

तहाँ होन्तउ आगदो (हेम० ४। ५५)
तुम्ह होन्तउ आगदो (हेम० ४।३७१)
तुम्हह होन्तउ आगदो (हेम० ४।३७३)

आगे चलकर कीर्तिलता में इसका रूपान्तर हुन्ते के रूप में हो गया।

दूर हुन्ते आआ बड बड राआ। (पृ ४६)

अवधी में यही हुन्ते हुँत हो गया और इसका प्रयोग अपादान के अतिरिक्त करण और सम्प्रदान में भी किया गया।

अपादान जन्म हुँत निनरहि मुवै नहि काहू (पद्मा)
सास ससुर मन मारि हुँति विनय करत कर जारि (मानस)

करण उन्ह हुँत देखे पाएउँ दरस गोसाइँ कर। (पद्मा०)

सम्प्रदान तुम हुँत मडप गयउँ परदेसा। (मानस)

हुँत का संबंध √भू के कृदन्तज रूप से होने के कारण हिंदी बोलियों में इसके और भी रूप प्रचलित हो गए, जिनमें से कुछ तो—हू मूलक हैं और कुछ—भ मूलक जैसे

बैठि तहाँ होइ लका ताका (पद्मा०)
ऊपर भए सो पातुर नाचहिं (पद्मा०)
भरत आइ आगे भए लाई। (मानस)

संभवत ये दोनों रूप √भू के पूर्वकालिक रूप के तद्भव हैं। इनका प्रयोग केवल अवधी में ही दिखाई पड़ता है ब्रजभाषा और खड़ी बोली में ये हैं अप्रयुक्त।

१४ करण परसर्ग सहुँ और उसके रूपान्तर —इसका संबंध संस्कृत सह् से स्पष्ट

है। अपभ्रंश में करण कारक के लिए प्राय विभक्ति प्रत्यय का ही प्रयोग होता था, सम्भवतः उसके लिए किसी परसर्ग की आवश्यकता बहुत बाद में अनुभव की गई। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में करण कारक के लिए सहुँ का प्रयोग एक स्थान पर मिलता है—

जइ पवसन्ते सहुँ न गय (हेम० ४।४१६)

(क) 'उक्ति व्यक्ति' में इसके लिए सउ और सेउँ दो रूप मिलते हैं—

दूजने सउँ सब काहु तूट। (३७।२१)

घिए सकरे सेउ साउ। (२१।११)

(ख) 'वर्ण-रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' में इसके लिए सब्बों रूप मिलता है

मृत्यु सब्बो कलकल करइतें अछ। (वर्ण)

मानिनि जीवन मान सब्बो। (कीर्ति०)

(ग) ब्रज और अवधी में सन्धि की प्रक्रिया से सब्बों का सों।हो गया।

श्री बिनती पंडितन्ह सों भजा। (पद्मा)

कर सों पग पलुटावति। (सूर)

(घ) अवधी में सहुँ 7 सउँ का एक और रूपान्तर सन भी मिलता है।

सो मो सन कहि जात न कैसे। (मानस)

(ङ) जिस प्रकार कहँ के 'को' और 'कूं' दो रूप मिलते हैं, उसी तरह सहुँ का भी 'सों' के अतिरिक्त कहीं-कहीं सूं रूप भी मिलता है।

(च) स्वर-परिवर्तन तथा निरनुनासिकता के द्वारा सा से से रूप भी बन गया जो कीर्तिलता से ही मिलता चला आ रहा है। इसका प्रयोग करण और अपादान दोनों कारकों में होता है—

विपक्ख केन मेन हेरि हिंसि हिंसि दाम से। (कीर्ति)

निसान सद्द भेरि सग लोलि खुन्द तास से। (कीर्ति०)

१५. ब्रज तथा खड़ी बोली में एक कर्तृवाचक परसर्ग ने है जो भूतकालिक सकर्मक क्रिया के कर्त्ता के साथ लगता है जैसे वाने कही उसने कही। विद्वानों ने इस ने को संस्कृत की तृतीया, एकवचन की विभक्ति—एण से सम्बद्ध किया है लेकिन—एण से ने तक के विकास की अन्य अवस्थायें प्राय उपलब्ध नहीं होतीं। परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी ने का कोई प्रारूप प्राप्त नहीं होता। सुभाव के तौर पर कीर्तिलता के जेन्हे, जेन्हे अथवा जेने जैसे सर्वनाम रूपों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है जैसे—

जेअ जाचक जन रंजिअ।
जेहे रिउँ वद्धिम भंजिअ।
जेहे तुलिअओ आखण्डल।
जेहे धवलिअ महिमण्डल।

लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इस तरह के रूप एक तो सभी शब्दों के साथ बिल्कुल नहीं मिलते और सर्वनामों में भी कम ही मिलते हैं।

१६ अपभ्रंश से आधुनिक खड़ी बोली तक के परसर्गों के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली के अधिकांश परसर्गों के मूल आधार अपभ्रंश में ही हैं। इसके अतिरिक्त क्रमशः अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली की तीन अवस्थाओं से गुजरने पर एक ही परसर्ग काफ़ी घिस घिसाकर परिमार्जित हो गया। 'सहुँ' से 'से', 'कहुँ', से 'को', 'मह' से 'में', 'केरअ' से 'का' आदि क्रमशः परिमार्जन के प्रमाण हैं। हर्ष का विषय है कि परसर्गों के इन विविध रूपान्तरों का प्रायः सभी अवस्थाओं के अवशेष हिन्दी की किसी-न किसी बोली में मिल जाते हैं। प्रयोग की दृष्टि से जो तीसरा तथ्य सामने आता है वह यह है कि अपभ्रंश के बाद से कारक विभक्तियों की अपेक्षा परसर्गों का प्रयोग क्रमशः अवधी से परवर्ती ब्रज में और परवर्ती ब्रज से खड़ी बोली में बढ़ता गया।

सर्वनाम

१७ गुरु[1] के अनुसार आधुनिक हिंदी में कुल मिलाकर ११ सर्वनाम हैं—मैं, तू, आप, यह, वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन और क्या। प्रयोग के अनुसार इनके छः भेद किए जाते हैं—पुरुषवाचक, निजवाचक, निश्चयवाचक संबंधवाचक, प्रश्नवाचक और अनिश्चय वाचक। इन ११ सर्वनामों के कई विकारी रूप भी होते हैं। नीचे अपभ्रंश से लेकर आधुनिक हिंदी तक के उपर्युक्त सभी सर्वनामों के अविकारी, विकारी रूपों तथा उनके समकक्ष अन्य रूपों का इतिहास दिया जा रहा है।

१८ हउं और हौं —उत्तम पुरुष, एकवचन, कर्ता कारक में अपभ्रंश में अधिकांशतः इसी का प्रयोग मिलता है। आगे चलकर अवधी और ब्रजभाषा में भी इसका प्रचलन रहा परन्तु खड़ी बोली में इसका प्रयोग मन्द हो गया।

हउँ भिखउ तउ काहि। (हेम०)

---

१ कामता प्रसाद गुरु हिंदी व्याकरण (संशोधित संस्करण २०१६ वि०) पृ० ९०

मिश्रालि को हउँ मागिहउँ। (उक्ति २२।४), हौं (उक्ति० २१)

देखि एक कौतुक हौं रहा। (पद्मा०)

जीवित बियाह न हौं करौं। (मानस)

हौं ले आई हौं। (सूर)

कभी-कभी हौं का प्रयोग कर्मकारक में भी हुआ है—

हौं इन बेची बीच ही। (बिहारी)

१९. **मइँ और मैं** —यह मूलतः करणकारक एकवचन का रूप है और इसे संस्कृत मया का रूपान्तर माना जाता है। अपभ्रंश में इसका प्रयोग कम हुआ है परन्तु अवधी और ब्रज में हौं के बराबर ही इसका प्रचलन दिखाई पड़ता है। आगे चलकर खड़ी बोली में कर्त्ता के रूप में हौं के स्थान पर केवल इसी का प्रयोग होने लगा। यह विकारी और अविकारी दोनों रूपों में इस्तेमाल किया जाता है—

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया। (हेम०)

को मैं भाजन मागब। (उक्ति०)

भाषाबद्ध करब मैं सोई। (मानस)

औरनि जानि मैं दीन्ह। (सूर)

मैं खाया मैंने अपना रखा। (ख० बो०)

अपभ्रंश में मइँ के साथ कोई परसर्ग नहीं लगता था, लेकिन खड़ी बोली में भूतकालिक सकर्मक क्रिया के सभी कर्त्ताओं की भाँति मैं में भी ने परसर्ग लगने लगा।

२०. **हम और उसके अन्य रूप** —अपभ्रंश में मूल अथवा विकारी किसी रूप में हम दृष्टिगोचर नहीं होता है। हौं का बहुवचन अपभ्रंश में अम्हे है। 'उक्ति व्यक्ति' में भी उत्तम पुरुष कर्त्ताकारक, बहुवचन में अम्हे ही मिलता है। फलतः विद्वानों ने अवधी, ब्रज और खड़ी बोली के 'हम' का सम्बन्ध प्राकृत के हमु से जोड़ा है। लेकिन हम के लिए अपभ्रंश के अम्हे की उपेक्षा करके एक डग पीछे प्राकृत की ओर जाना वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता। अम्हे से हम बनना कठिन नहीं है। इसके पीछे या तो वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति है अथवा आदि में 'ह' का आगम हो गया है। इस तरह अम्ह>हम्ह>हम हो सकता है।

अम्हे थोवा रिउ बहुअ। (हेम०)

हम जो कहा यह कपि नहिं होई। (मानस)

हम वे पास बसत यक नगरी। (सूर०)

इसके अतिरिक्त हम से हमें, हमको, हमहिं, हमारे आदि रूप बनते हैं जिनमें विभिन्न कारकों की विभक्तियाँ लगी हुई हैं।

२१ **मो और मोहि** —परिनिष्ठित अपभ्रंश में इनमें से कोई रूप नहीं मिलता, लेकिन अवहट्ट में मिलता है।

मोहि तोहि केवदाजिशति। (उक्ति)
घरणि सुण रणि वल नाहि मो। (कीर्ति०)
ते मोम्ये मलजा निरूढ़ि गए। (")
सो मो सन कहि जात न कैसे। (मानस)
सुनि मैया याके गुन मो सों। (सूर)
भूम्हिं मोहि लगावत धगरी। (")

खड़ी बोली में मो और मोहि में से किसी का प्रचलन न हो सका। मो में को, सों, मैं, पै, पर तथा कर आदि परसर्ग जोड़कर विभिन्न कारकों के अनुसार मोको, मोसों, मोपै, मोमैं, मोर (=मोअर<मोकर) आदि रूप बनाए गए हैं। इनमें मोर का प्रयोग केवल अवधी तथा अन्य पूर्वी बोलियों तक ही सीमित है, यद्यपि 'सूरसागर' में भी कहीं कहीं इसका प्रयोग मिलता है।

मोर खेम का करिह। (उक्ति०)
मोर वअन आकण्णे करहु। (कीर्ति०)
होइ दोसु नहि मोर। (मानस)
जीवन धन मोर। (सूर०)

२२ **मुज्झ>मुझ** यह मूलतः सम्प्रदान, एकवचन का रूप है जिसमें विविध कारकों की विभक्तियाँ जुड़कर मुझे, मुझको, मुझसे, मुझमें, मुझपर आदि रूप बनाता है।

सो प्रिय होइ न मुज्झ। (हेम)
मग्न कहन्ता मुज्झु जइ। (कीर्ति०)
मुझ में रही न हूँ। (कबीर)

२३ उत्तम पुरुष, सब नाम के रूपों की तरह मध्यम पुरुष के भी रूप होते हैं। हउँ, मइँ, हम, मो, मज्झु की ही तरह इसमें भी तुहुँ, तेइँ, तुम या तुम्ह, तो और तुज्झ आधारभूत रूप होते हैं। इनमें से प्रत्येक के प्रयोग का इतिहास निम्नलिखित है—

(क) तुहुँ>तुउँ>तूँ>तू

मइँ मणिय तुहुँ। (हेम)
तु करसि। (उक्ति०)

की तूँ मीत मन चित्त बसेह । (पद्मा०)

तू माय के मूड़ चढ़े किन मोही (रसखान०)

तू रुलाई काको

तू क्या कर रहा है ? (सूर०)

खड़ी बोली में तू रूप ही प्रचलित है । (ख० बो०)

(ख) तइँ>तैँ —

मुह हिअउँ तइँ ताए । (हेम)

अर एति बार तैं काह किअ तांहा । (उक्ति०)

अतिहि कृपण तैं है री । (सूर०)

बोल चाल की खड़ी बोली में कभी कभी 'तैंने क्या किया' जैसे प्रयोग सुनाई पड़ते हैं, अन्यथा साहित्यिक हिंदी में अब यह लुप्त है ।

(ग) तुम्ह, तुम —

अपभ्रंश में तुम नहीं मिलता प्रायः तुम्ह वाले ही रूप मिलते हैं ।

तुम्हेहिं अम्हेहिं जं किअउ । (हेम०)

अहो पितरहो को तुम्ह तारिह (उक्ति)

तुम्हे सेवइ सबराए ।

को तुम्ह हरि दासन मह कोई । (कीर्ति०)

तुम ही बीच भुलाने । (मानस)

(सूर)

खड़ी बोली में प्राय तुम का प्रयोग बहुवचन के अतिरिक्त एकवचन में भी होता है । जब तुम के बाद ने, को, से पर परसर्गों का प्रयोग होता है तो इसका रूप यथावत् रहता है, लेकिन कर्म, सम्प्रदान और संबंध कारक में यह तुम्ह हो जाता है और तुम्हें, तुम्हारे तुम्हारे लिए आदि रूप बनते हैं ।

(घ) तउ >तो और तोहि —

तउ मूलतः संस्कृत सम्बन्धकारक के तव का रूपान्तर है—

तउ गुण सम्पइ (हेम०)

आगे चलकर तउ तो हो गया और इसमें अन्य कारकों की विभक्तियाँ लगा कर तोहि (कम०), तोर (संदेश) आदि रूप बनाए जाने लगे ।

तोहि (उक्ति० २२।४)

अरु तोहि मारह स धुनु कायर । (कीर्ति०)

ताहि बड़ी कृपण मैं पाई । (सूर०)

को ताहि लागहिं राम प्रिय (दादू०)

एहु गांभ करब तोर मार । (उक्ति०)

पुन्यसिलोक तात तर तोर। (मानस०)

(८) तुम्ह7तुम्ह

तुम्ह मग्गि। (हेम०)

तुम्हु विग्गउ सिवदान। (कीर्ति०)

खड़ी बोली में तुम्हें और तुम्हको का प्रयोग कर्म—सम्प्रदान में होता है।

२४ अन्य पुरुष सर्व नाम के लिए अपभ्रंश में संस्कृत स (तत्) वाले रूपों के अवशेष ही अधिक चलते हैं। लेकिन आगे चलकर अवधी ब्रज और खड़ी बोली में दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्व नाम वह के रूप अन्य पुरुष के लिए भी प्रचलित हो गए। अपभ्रंश में टाकसाली वह का प्रयोग तो नहीं मिलता, लेकिन उसका प्राचीन ओइ दृष्टिगोचर होता है। हेमचन्द्र ने इसे अदस् का आदेश बतलाया है

जैसे—

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ। (हेम० ४।३६४),

कीर्तिलता में भी—

ओ परमेसर हर सिर सोहइ (पृ० ४)

ओ जिणगु ओ सघम्म, पुहवीरति सुरतान ओ (पृ० ६)

इबराहिम शाह पधान ओ (पृ० ६८)

कीर्तिलता में ओ के साथ ही ओहु का भी प्रयोग मिलता है—

ओहु पाव दरबार सएल महिमंडल उप्परि। (पृ० ५०)

ओहु राआ विअक्खण। (पृ० ६४)

ओहु उदए (पृ० ६४)

इस ओहु से वह का बनना कठिन नहीं है।

वह का प्रयोग कर्ता कारक, एकवचन में होता है इसके अन्य रूप वे, उस और उन संस्कृत तद्, यद् किम् के अपभ्रंश अवशेषों से प्रभावित होकर बनते हैं। अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में इनके उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं।

वह मथुरा कान्चन की नगरि (सूर०)

ऊधा हम न होहिं वे बनी (सूर)

भाजन करत तुष्टि घर उनके (सूर०)

ब्रजभाषा में इस वाले रूप नहीं मिलते। उसके स्थान पर वा वाले रूप प्रचलित हैं जैसे वान, वाकौं, वामैं वाहि आदि।

यह वाले रूपों के साथ ही अवधी और ब्रज में बहुत दिनों तक अन्य पुरुष के लिए तद् वाले तासु तसु तिन, ते आदि रूप भी प्रचलित रहे, किन्तु धीरे

धीरे यह अप्रचलित हो गए।

२५ निज वाचक सर्वनाम अप्पण>आपन>अपना तथा उसके अन्य रूपों का प्रयोग अपभ्रंश से परम्परया आज तक चला आ रहा है।

इसे सर्वसम्मति से संस्कृत 'आत्मन्' का अपभ्रंश माना जाता है।

> जाहेन्ति ज हिअडउ अप्पणउँ (हेम०)
> निलज्ज, आपण थान। (उक्ति०)
> आपण पुनु हराव (उक्ति०)
> सिष्ट आपणे वालें न चलइ। (उक्ति०)
> मैं अपनी दिसि कीन्ह निहारा। (मानस)
> अपनी चाँह आनि उड़ि बैठ्या (सूर०)

अवधी और ब्रज में अप्पण का ही एक रूप आप हो जाता है।

> आपु बिरंचि उपरोहित रूपा। (मानस)
> आप ध्याय सो रहिए। (सूर०)

आगे चलकर खड़ी बोली में मध्यम पुरुष सर्वनाम के लिए आदरार्थ इस आप का प्रयोग होने लगा जैसे —आपका शुभनाम क्या है? आप कहाँ जायगे। आदि।

२६ निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के लिए अपभ्रंश में दो प्रकार के रूप मिलते हैं—एह वाले रूप और आय वाले रूप।

जैसे —

> एह कुमारी एहो नरु (हेम०)
> आयइँ लोअहो लोअणइ (हेम०)

परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि परिनिष्ठित अपभ्रंश में एह वाले रूपों का ही प्रचलन अधिक था। आगे चलकर अवहट्ठ, अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में इसी की परंपरा चली। एह के अन्य रूप यह, ये, इस, और इन हैं।

'उक्ति व्यक्ति' में 'यह' का प्रयोग तो नहीं मिलता लेकिन इसके बहुवचन ए (=ये) का प्रयोग अत्यधिक है। इसके अतिरिक्त 'एन्ह मोंक' जैसे उदाहरणों से एन्ह>इह इन, विकारी रूप भी मिलते हैं।

'कीर्तिलता' में ए (ये) के स्थान पर ई मिलता है, जो पूर्वी प्रदेशों की विशेषता है।

> ई निच्चइ नाअर मन मोहइ। (पृ० ४)

इसके अतिरिक्त कीर्तिलता में एहु, एहो और एहि रूप भी मिलते हैं—

> राय चरित्त रसाल एहु (पृ० ८)

एहि दिएण उँदार थ (पृ १८)

जनि अघ पर्यन्त निश्चकमा एह्री कार्यं छल । (पृ० ५)

अवधी और ब्रज में इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा । (मानस)

मैं जो कहा यह करि नहिं होइ । (मानस)

कवन मृग लोचन ये आए । (मानस)

सूर श्याम को चारो के मित देखन को यह आई । (सूर०)

ये बतियाँ सुनि रूखीं । (सूर)

ए छबि छाके नैन । (बिहारी)

१७ सबंध वाचक सर्व नाम जो तथा इसके अन्य विकारी रूप अपभ्रंश से हिंदी के त्यों आज तक चल आ रहे हैं।

जो गुण गोवइ अप्पणा । (हेम०)

जो सुमिरत सिधि होइ । (मानस)

सूर श्याम को जन जो भावै । (सूर०)

जो लिखा जाता है वह पढ़ा जाता है । (ख० बो०)

१८ प्रश्न वाचक सर्व नाम के लिए अपभ्रंश में काइ और कवण दो रूप चलते थे (हेम० ४।३६७) । इन दोनों में से काइ कालान्तर में अप्रचलित हो गया और केवल कवण के रूपान्तर ही प्रचलित रहे। अवधी ब्रज और खड़ी बोली में इसका परिवर्तित रूप कौन चलता है।

काइ न दूरे कवण मृग (हेम०)

कवण ए जाता (उक्ति०)

कारन कवन भरतु बन नाहीं । (मानस)

निर्गुन कौन देस को वासी । (सूर०)

कौन तुम हो वसत के दूत । (कामायनी)

१९. अनिश्चय वाचक सर्व नाम कोइ और कुछ भी अपभ्रंश से यत्किंचित् रूपान्तर के साथ चल आ रहे हैं। कोइ के साथ ही अवधी और ब्रज में कोउ, कोऊ भी मिलता है।

कोइ देहु म मग्गहु कोइ । (हेम०)

कोइ नहिं होइ विचारक (कीर्ति०)

मुनि आचरज करै जनि कोइ (मानस)

और सहाय न कोइ । (रास पंचाध्यायी)

कोउ राखा जइ कोउ । (उक्ति०)

कोउ कछु कहा न काउ कछु पूछा। (मानस)
कहुँ कोउ चल नहिं सकत डराहिं। (सूर०)

कुछ — वालए न जाय किछु धाइ। (कीर्ति०)
काउ कछु कहा न काउ कछु पूछा। (मानस)
अगिगत गति कछु कहत न आवै (सूर०)

सार्वनामिक विशेषण

२६. पुरुष वाचक और निज वाचक सर्वनामों के अतिरिक्त शेष सभी सर्वनाम वस्तुत विशेषण हैं लेकिन स्पष्टत विशेषण वे तभी प्रतीत होते हैं जब उनके साथ विशेष्य संज्ञा का भी प्रयोग कर दिया जाता है, जैसे यह लड़का, वह लड़की इत्यादि। फिर भी प्राय यह, वह, जो, सो, कुछ, कोई आदि मूल सार्वनामिक विशेषणों को 'सार्वनामिक विशेषण' के भीतर ग्रहण करने की परंपरा नहीं है। उपर्युक्त मूल सार्वनामिक विशेषणों के साथ कुछ प्रत्यय लगाकर जो विशेषण बनाए जाते हैं, उन यौगिक सार्वनामिक विशेषणों का ही प्राय इसके अन्तर्गत लिया जाता है। इनमें दो प्रत्यय — अइस और — एत्त मुख्य हैं। आधुनिक हिन्दी में इनके रूप क्रमश ऐसा, और एत्ता अथवा इतना जैसे होते हैं। इनके रूप विशेष्य संज्ञा के लिंग, वचन और कारक के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरण स्वरूप ऐसा के समाचित रूप ऐसी ऐसे हैं और इतना के इतनी, इतने तथा एत्ता के एत्ती, एत्ते आदि। इन सार्वनामिक विशेषणों के रूप अपभ्रंश से ही किंचित् रूपान्तर के साथ आधुनिक हिन्दी तक चले आए हैं।

३० — अइस > ऐस वाले रूप—

हेमचन्द्र (४।४०३) के अनुसार इसके जइसो, तइसो, कइसो और अइसो रूप हो सकते हैं। 'उक्तिव्यक्ति' में इसके — अस और — एंस दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं—

को कस इहाँ (३२।१)
कैसे काह करत (२२।१)

अवधी में ये कस और कैसे दोनों रूप सुरक्षित रहे—

सो कासी सेइय कस न। (मानस)
सो मो सन कहि जात न कैसे (मानस)

ब्रज में ऐसे और ऐसो वाले रूप ही अधिक मिलते हैं।

कैसे चरित किए हरि अबहीं (सूर०)

—अड्ढ वाले प्रत्यय के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने (४ । ४०२)—एड्ड वाले रूपों का भी उल्लेख किया है जैसे—

केड्डउ मग्गण एड्डु।

लेकिन ये रूप स्वयं अपभ्रंश, साहित्य में भी कम मिलते हैं और संभवत इसलिए परवर्ती बोलियों में इनका प्रचलन न हो सका।

३ —एत्तिय वाले रूप —हेमचन्द्र (४ । ४०७) के अनुसार परिमाण वाचक और संख्यावाचक विशेषण 'इतना', 'उतना', 'जितना', 'तितना' के लिए —एवडु और—एत्तुल दो प्रत्यय अपभ्रंश में होते हैं। इनके रूप क्रमश जेवडु, तेवडु और जेत्तुल, तेत्तुल होंगे। इन दोनों प्रकार के रूपों में अपभ्रंश के अधिक प्रचलित रूप जेत्तुल, तेत्तुल ही दिखाई पड़ते हैं। आगे चलकर परवर्ती अपभ्रंश में इनकी—उल स्वार्थिक प्रत्यय निकल गया और—एत्त वाले रूप चल पड़े। यही परंपरा अवधी और ब्रज में भी चली, परंतु इसमें—उल की जगह—ना प्रत्यय जोड़ दी गयी।

एतेँ कालेँ, एति वार (उक्ति०)

अमइ एत्ता दुल्ल सुनि किमि जिविअइ मुक्कु मात्रे। (कीर्ति०)

जान प्राति रस एतनेइ माहीं। (मानस)

अवधि गनत इक टक मग जावत तब एती नहीं भूखी। (सूर०)

ऊधा, इतनी कहियो जाइ। (सूर०)

संख्यावाचक विशेषण

३१ पूर्णांक बोधक —हिंदी के प्राय सभी पूर्णांक बोधक संख्यावाचक विशेषण संस्कृत के उन्हीं विशेषणों के रूपान्तर हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की कतिपय ध्वनि-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के कारण हिंदी पूर्णांक संख्याओं के रूप बहुत पहले ही बन चुके थे अन्तर केवल इतना ही है कि प्राकृत अपभ्रंश के संख्यावाचक रूपों में जहाँ संयुक्त व्यंजनों और उद्वृत्त स्वरों की प्रधानता है, वहाँ हिंदी ने क्षतिपूरक दीर्घीकरण, समीकरण, स्वर-संधि आदि नियमों के द्वारा उन्हें अपने उच्चारण के अनुकूल बना लिया। उदाहरणस्वरूप—अपभ्रंश के चउद्दह और चोद्दह को हिंदी में चौदह बना लिया गया। नीचे अपभ्रंश और हिंदी की कुछ संख्याओं के रूप तुलना के लिए दिये जा रहे हैं।[1]

अप०	हिंदी
एक्कारस	एकादस, इकारस

[1] अपभ्रंश की संख्याओं के रूप डा० तगारे के हि० ग्रै० अप § ११४ से दिये गये हैं।

बावीस	बाइस
अट्ठावीस	अठाइस
चउतीस	चातीस
अट्ठतीस	अड़तीस
छयालीस	छियालीस
पण पएणास	पचपन
छप्पण	छप्पन
सट्ठि	साठ
छावट्ठि	छाछठ
पँच-सत्तर	पचहत्तर, पछत्तर
चउरासी	चौरासी
छएणवइ	छानवे, छियानवे
णवणउवइ	निन्यानवे

सौ से ऊपर की संख्याएं अपभ्रंश में संस्कृत के अनुकरण पर—उत्तर लगाकर बनायी जाती हैं जो अब भी हिंदी में विकल्प से चलती हैं जैसे—

एक्कोत्तर सय = एकोतर सै

अट्ठोत्तर सय = अठोतर सै

कभी कभी इस क्रम का उलट भी दिया जाता है जैसे

चउदह सयइं छहुत्तरइं मुजइ गयइ गयाइं। (प्रबंध चिन्तामणि)

चउदह-सय-छहुत्तर = चौदह सै छिहत्तर

आधुनिक हिंदी में प्रायः सौ के बाद की संख्याओं के ऐसे ही रूप प्रचलित हैं और बोलियों में एकोतर सै जैसे रूप सुरक्षित हैं।

३२ अपूर्णांक बोधक —अपभ्रंश में इसके अधिक रूप नहीं मिलते लेकिन जो मिलते हैं वे थोड़े से रूपान्तर के साथ हिंदी में भी चलते हैं जैसे

अद्ध = आधा दिवड्ढ = डेढ़ अउड्ढ = अढ़ाइ।

३३ क्रमवाचक—

(क) प्रथम के लिए अपभ्रंश में पढम और पहिल दो रूप मिलते हैं। इन दोनों में पढम का प्रयोग अधिक दिखाई पड़ता है लेकिन हिंदी में पढम की जगह पहिल का ही प्रचलन हुआ। लिंग-वचन के अनुसार हिंदी में इसके पहला, पहली, पहले आदि रूप हो जाते हैं।

(ख) द्वितीय के लिए अपभ्रंश में प्रायः बिय रूप मिलता है कहीं कहीं दुइज्ज भी दिखाई पड़ता है। इनमें बिय वाले रूप गुजराती में

स्थान भी सुरक्षित हैं, और दुइज्ज>दूज तिथियों की गणना में तथा 'भैयादूज' जैसे पर्व के नामों में हिंदी में भी दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त पुरानी हिंदी में दूजा दूजा, दूजे रूप बहुत दिनों तक प्रचलित रहे।

(ग) तृतीय के लिए अपभ्रंश में तइज्ज और तीन रूप मिलता है—यथा तइज्जी भंगि नवि (हेम०)

कज्ज करेवा माणुसह तीजउ मग्गु न अत्थि (हेम०)

हिंदी में तिथि-गणना में तीज तथा क्रम गणना में तीजा (पुरानी हिंदी) दृष्टिगोचर होता है।

(घ) दूजा और तीजा की जगह आधुनिक हिंदी में—सर प्रत्यय वाले दूसरा और तीसरा जैसे रूप मिलते है। परिनिष्ठित अपभ्रंश में ये रूप तो नहीं मिलते लेकिन अवहट्ट में इनके प्रयोग दिखाई पड़ते हैं जैसे— जनि दोसरी अमरावती क अवतार भा। (कीर्ति०, पृ०२८)

दाहाए पनिअ दोसरे मार्ये। (कीर्ति०, पृ ६८)

तेसरा लागि तानू उपक्खिअ (कीर्ति , पृ ३४)

(ङ) चतुर्थ के लिए अपभ्रंश में चउट्ठ और चोत्थअ दो शब्द मिलते हैं इनमें से चोत्थअ>चौथा ही हिंदी में प्रचलित हुआ।

३४ आवृत्तिवाचक—

हिंदी में पूर्णांकबोधक विशेषण के आगे 'गुना' लगाकर आवृत्तिवाचक विशेषण बनाये जाते हैं जैसे दुगुना, चौगुना आदि। इनमें से दुगुना मध्यग—ग—के लोप होने से दुउना > दूना हो जाता है। अपभ्रंश में दूना के लिए दोन और चौगुना के लिए चउग्गुण शब्द मिलते हैं—

जामिणि ज वयणिज्ज हुअ, त तिहुयणि णहु माइ।
दुक्खिहि होइ चउग्गुणी, कि ंतह सुहयाइ॥
—(संदेश रासक, १५६)

३५ समुदायवाचक—

किसी पूर्णांकबोधक संख्या में—ओं लगाकर प्रायः समुदाय का बोध कराया जाता है जैसे दोनों आदमी चले गये। इस तरह के प्रयोग अपभ्रंश में भी प्राप्त होते हैं—

दोण्णि वि अवसर निवडिअइ तिण सम गणइ विसिट्ठु। (हेम०)

अर्थात् दोनों ही अवसर आ पड़ने पर विशिष्ट तृण समान गिनता है।

तानुहु शनिक पराक्रा जानलि (कीर्ति०, १४)

बावीस	बाईस
अट्ठावीस	अठाइस
चउतीस	चौंतीस
अट्ठतीस	अड़तीस
छयालीस	छियालीस
पण पएणास	पचपन
छप्पण	छप्पन
सट्ठि	साठ
छावट्ठि	छाछठ
पँच-सत्तर	पचहत्तर, पछत्तर
चउरासी	चौरासी
छएणवइ	छानवे, छियानवे
णवणउयइ	निन्यानवे

सौ से ऊपर की संख्याएँ अपभ्रंश में संस्कृत के अनुकरण पर—उत्तर लगाकर बनाया जाती हैं जो अब भी हिंदी में विकल्प से चलती हैं जैसे—

एक्कोत्तर सय = एकोतर सै

अट्ठोत्तर सय = अठोतर सै

कभी कभी इस क्रम का उलट भी दिया जाता है जैसे

चउदह सयइं छहुत्तरइं मुंजइं गयइं गयाइं। (प्रबंध चिन्तामणि)

चउदह-सय-छहुत्तर = चौदह सै छिहत्तर

आधुनिक हिंदी में प्राय सौ के बाद की संख्याओं के ऐसे ही रूप प्रचलित हैं और बोलियों में एकोतर सै जैसे रूप सुरक्षित हैं।

३२ अपूर्णांक बोधक —अपभ्रंश में इसके अधिक रूप नहीं मिलते लेकिन जो मिलते हैं वे थोड़े से रूपान्तर के साथ हिंदी में भी चलते हैं जैसे

अद्ध = आधा दियड्ढ = डेढ़ अउड्ढ = अहुठ।

३३ क्रमवाचक—

(क) प्रथम के लिए अपभ्रंश में पढम और पहिल दो रूप मिलते हैं। इन दोनों में पढम का प्रयोग अधिक दिखाई पड़ता है लेकिन हिंदी में पढम की जगह पहिल का ही प्रचलन हुआ। लिंग-वचन के अनुसार हिंदी में इसके पहला, पहली पहले आदि रूप हो जाते हैं।

(ख) द्वितीय के लिए अपभ्रंश में प्राय बिय रूप मिलता है कहीं कहीं दुइज्ज भी दिखाई पड़ता है। इनमें बिय वाले रूप गुजराती में

आज भी सुरक्षित हैं, और दुइज्ज>दूज तिथियों की गणना में तथा 'भैयादूज' जैसे पर्व के नामों में हिंदी में भी दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त पुरानी हिंदी में दूना दूजा, दूजे रूप बहुत दिनों तक प्रचलित रहे।

(ग) तृतीय के लिए अपभ्रंश में तइज्ज और तीअ रूप मिलता है—तथा तइज्जा भंगि नवि (हेम०)

कज्ज करेवा माणुसह तीअउ मग्गु न अत्थि (हेम०)

हिंदी में तिथि-गणना में तीज तथा क्रम-गणना में तीजा (पुरानी हिंदी) दृष्टिगोचर होता है।

(घ) दूजा और तीजा की जगह आधुनिक हिन्दी में—सर प्रत्यय वाले दूसरा और तीसरा जैसे रूप मिलते हैं। परिनिष्ठित अपभ्रंश में ये रूप तो नहीं मिलते लेकिन अवहट्ठ में इनके प्रयोग दिखाई पड़ते हैं जैसे— जनि दोसरा अमरा-ती के अवतार भा। (कीर्ति० पृ०२८)

बाहाए पलिअ दोसरे माथें। (कीर्ति०, पृ० ६८)

तेसरा लागि तनू उपक्खिअ (कीर्ति०, पृ० ३४)

(ङ) चतुर्थ के लिए अपभ्रंश में चउट्ठ और चोत्थअ दो शब्द मिलते हैं इनमें से चोत्थअ>चौथा ही हिन्दी में प्रचलित हुआ।

३४ आवृत्तिवाचक—

हिंदी में पूर्णांकवाचक विशेषण के आगे 'गुना' लगाकर आवृत्तिवाचक विशेषण बनाये जाते हैं जैसे दुगुना चौगुना आदि। इनमें से दुगुना में ग-ग—के लोप होने से दुग्ना > दूना हो जाता है। अपभ्रंश में दूना के लिए दोन और चौगुना के लिए चउग्गुण शब्द मिलते हैं—

जामिणि ज्ज वयणिज्ज तुम्ह, त णिहुयणि एहु माइ।

दुण्णिहि हाइ चउग्गुणी, मिच्छद मुइसमाइ॥

—(संदेश रासक, १९६)

३५ समुदायवाचक—

किसी पूर्णांकवाचक संख्या में—ओं लगाकर प्रायः समुदाय का बोध कराया जाता है जैसे दोनों आदमी चले गये। इस तरह के प्रयोग अपभ्रंश में भी प्राप्त होते हैं—

दोण्ण वि अवसर निवडिअइं तिण सम गणइ विसिट्ठु। (हेम०)

अर्थात् दोनों ही अवसर आ पड़ने पर विशिष्ट तृण समान गिनता है।

तीनुइ शक्ति पराक्रम जानथि (कीर्ति०, १४)

क्रिया

३६ सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह हिंदी की भी क्रियायें प्रायः तद्भव हैं। जो क्रियायें तत्सम प्रतीत भी होती हैं, वे वस्तुतः किसी न किसी तद्भव क्रिया की सहायता से ही क्रिया का कार्य करने में समर्थ होती हैं जैसे 'वह दर्शन करता है' वाक्य में क्रिया के लिए तत्सम संज्ञा 'दर्शन' का प्रयोग किया गया है, लेकिन यह अपने आप 'दर्शना' नहीं सकती। क्रिया का कार्य करने योग्य होने के लिए उसे हिंदी की तद्भव धातु 'कर' के तद्भव रूप की सहायता लेनी पड़ी है। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए ग्रियर्सन[1] ने कहा है कि हिंदी में जो तत्सम शब्द हैं, वे हिंदी के अपने नहीं हैं, बल्कि पराये और उधार लिए हुए हैं क्योंकि वे भाषा की प्रकृति के अनुरूप व्याकरणिक परिवर्तन स्वीकार नहीं करते जैसे 'घोड़ा' जैसी तद्भव संज्ञा का विकृत रूप 'घोड़े' हो जाता है, परन्तु 'राजा' जैसी तत्सम संज्ञा का 'राजे' नहीं होता। इसीलिए हिंदी में अधिकांशतः संज्ञा, विशेषण, और अव्यय ही सच्चे अर्थों में तत्सम हैं क्रियाएं तत्सम नहीं हो सकतीं। यदि उनमें से कुछ की धातु किसी प्रकार तत्सम हो भी तो काल रचना वाच्य-परिवर्तन आदि के कारण वे तद्भव रूप धारण कर लेती हैं।

३७ तद्भव होने के कारण हिंदी की क्रियाओं को संस्कृत की संपूर्ण संपदा प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से मिली है, इनमें भी विशेषतः अपभ्रंश के माध्यम से। संस्कृत से प्राकृत तक क्रिया की रूपावली में किस प्रकार क्रमशः ह्रास होता गया और क्रिया रूपों की संख्या में कमी होती गयी इसे विद्वानों ने गणना करके सोदाहरण समझाया है।[2] प्रयोग, काल, वचन आदि की संख्या में क्रमशः कमी होने के कारण संस्कृत में जिस धातु के रूप ५४० होते थे, पाली में लगभग २४ हो गए और प्राकृत में यह संख्या ७२ के आसपास पहुँच गयी। निरंतर रूप-क्षय होते रहने पर भी प्राकृत तक क्रियाएं प्रायः संयोगात्मक थीं प्राकृत में कुछ-एक कृदन्तज क्रियाओं के बावजूद अधिकांशतः तिङन्त तद्भव रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। प्राकृत के बाद अपभ्रंश से क्रियाओं के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ वे संहिति से व्यवहिति की ओर तीव्र गति से उन्मुख हुई। धीरे धीरे इस दशा में इतनी प्रगति हुई कि हिंदी

---

१ ऑन द मॉडर्न इंडो आर्यन वर्नाक्युलर्स (फरवरी १९३१ से दिसम्बर १९३३ ई० तक) § ७

२ देखिए डा० धीरेन्द्र वर्मा का हिंदी भाषा का इतिहास पृ० २८८ ९०

आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के क्रिया-रूप अधिकांशत व्यवहृत हो गये। काल-रचना प्राय कृदन्त अथवा कृदन्त और सहायक क्रियाओं के तिङन्त-उद्भव रूपों के संयोग से होने लगी संयुक्त कालों और संयुक्त क्रियाओं की संख्या बढ़ गया। इससे क्रिया की रूपावली में सरलता आयी। यद्यपि हिंदी में कालों की संख्या बढ़ गया अर्थात् संस्कृत में जहां केवल दस लकार होते थे, वहाँ हिंदी में लगभग पन्द्रह काल हो गये, तथापि रूप-रचना की दृष्टि से कोई उलझन नहीं बढ़ी क्योंकि सहायक क्रियाओं की संख्या निश्चित है और उनके रूप भी स्थिर हैं इसी तरह क्रिया के प्रधान कृदन्त रूप भी लगभग स्थिर हैं क्योंकि उनमें भी केवल लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार ही परिवर्तन होता है।

तात्पर्य यह है कि अपभ्रंश ने हिंदी क्रियाओं के निर्माण में दुहरा योग दिया—धातु निर्माण में और रूप रचना में।

८ धातु—हिंदी धातुओं में से अधिकांश के रूप अपभ्रंश काल में ही प्राय बन चुके थे। हार्नले[1] ने हिंदी धातुओं की जो सूची वर्गीकरण तथा व्युत्पत्ति के साथ दी है उससे हिंदी धातुओं में अपभ्रंश के योग दान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यदि उस सूची में से अपभ्रंश धातुओं को अलगाकर और फिर हेमचन्द्र 'प्राकृत व्याकरण' (४।१—२५९) के धात्वादेश के साथ अच्छी तरह उसे मिलाकर व्युत्पत्ति की दृष्टि से अपभ्रंश धातुओं का वर्गीकरण किया जाय तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं। प्राकृत धात्वादेश' पर थोड़ा सा कार्य ग्रियर्सन ने भी किया है[2] जो श्रमपूर्ण कार्य होते हुए भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से उतना उपयोगी नहीं है। यहां संक्षेप में उन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा रहा है जिन्होंने अपभ्रंश और हिंदी के उभयनिष्ठ धातुओं के निर्माण में कार्य किया।

(क) सामान्य ध्वनि-परिवर्तन द्वारा निर्मित होने वाले धातु जैसे खा <खाद्, चू < च्युत तोड़ <त्रुट, टूट <त्रुट, पढ़ < पठ्, जुट < जुड्, चूम < चुम्ब्, नहा <स्ना, ताक <तर्क, डूब <ब्रुड्, जल (ज्वल) < ज्वल् आदि।

(ख) विकरण विशिष्ट धातु —संस्कृत में एक रूप धातुओं को एकत्र कर उस गण (समूह) के प्रथम धातु के साथ आदि शब्द जोड़कर उस गण का

---

१ बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी जर्नल जिल्द ४९ खण्ड १ (१८८० ई०) पृ ३३-८१

२ बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी मेम्वायर्स जिल्द ८ संख्या २ (१९२४ ई०)

क्रिया

३६ सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह हिंदी की भी क्रियायें प्राय तद्भव हैं। जो क्रियायें तत्सम प्रतीत भी होती हैं, वे वस्तुत किसी न किसी तद्भव क्रिया की सहायता से ही क्रिया का काय करने मे समर्थ होती हैं जैसे 'वह दर्शन करता है' वाक्य मे क्रिया के लिए तत्सम सज्ञा 'दर्शन' का प्रयोग किया गया है, लेकिन यह अपने आप 'दर्शना' नहीं सकती क्रिया का काय करने योग्य होने के लिए उसे हिंदी की तद्भव धातु 'कर' के तद्भव रूप की सहायता लेना पड़ी है। इसी तथ्य को लक्ष्य मे रखते हुए ग्रियर्सन[1] ने कहा है कि हिंदी मे जो तत्सम शब्द हैं वे हिंदी के अपने नहीं हैं, बल्कि पराये और उधार लिए हुए हैं क्योंकि वे भाषा की प्रकृति के अनुरूप व्याकरणिक परिवर्तन स्वीकार नहीं करते जैसे 'घोड़ा' जैसी तद्भव सज्ञा का विकृत रूप 'घोड़े' हो जाता है, परन्तु 'राजा' जैसी तत्सम सज्ञा का 'राजे' नहीं होता। इसीलिए हिन्दी में अधिकाशत सज्ञा, विशेषण, और अव्यय ही सच्चे अर्थों मे तत्सम हैं क्रियाए तत्सम नहीं हो सकतीं। यदि उनमे से कुछ की धातु किसी प्रकार तत्सम हो भी तो काल-रचना, वाच्य-परिवर्तन आदि के कारण वे तद्भव रूप धारण कर लेती हैं।

३७ तद्भव होने के कारण हिन्दी की क्रियाओं को सस्कृत की संपूर्ण सपदा प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से मिली है, इनमें भी विशेषत अपभ्रंश के माध्यम से। सस्कृत से प्राकृत तक क्रिया की रूपावली में किस प्रकार क्रमश ह्रास होता गया और क्रिया-रूपों की सख्या में कमी होती गयी इसे विद्वानों ने गणना करके सोदाहरण समझाया है।[2] प्रयोग, काल, वचन आदि की संख्या मे क्रमश कमी होने के कारण सस्कृत में जिस धातु के रूप ५४० होते थे, पाली में लगभग २४ हो गए और प्राकृत में यह संख्या ७२ के आसपास पहुँच गयी। निरन्तर रूप-क्षय होते रहने पर भी प्राकृत तक क्रियाए प्राय सयोगात्मक थीं प्राकृत में कुछ एक कृदन्तज क्रियाओं के बावजूद अधिकाशत तिङन्त तद्भव रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। प्राकृत के बाद अपभ्रंश से क्रियाओं के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ वे सहिति से व्यवहिति की ओर तीव्र गति से उन्मुख हुई। धीरे धीरे इस दशा में इतनी प्रगति हुई कि हिंदी

---

१ ऑन द माडर्न इंडो आर्यन वर्नाक्यूलर्स (फरवरी १९३१ से दिसम्बर १९३३ ई तक) § ७

२ देखिए डा० धीरेन्द्र वर्मा का हिंदी भाषा का इतिहास पृ २८८ ९०

(च) सोपसर्गाप्पद धातु —अपभ्रंश और हिंदी के अनेक धातु संस्कृत के सोपसर्ग (उपसर्ग + धातु से उत्पन्न) हैं। जैसे—आइ∠उप + विष्ट, उखाड∠उत् + कृष्ट, बैठ∠उप + विष्ट, पैठ∠प्र + विष्ट आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी धातु हैं जिन्हें देशज कहा जा सकता है क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति के लिए अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। हेमचन्द्र के 'धात्वादेश' में से कुछ ऐसे ही आदेशों का उनके हिंदी रूपों के साथ यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

अंच = ऐंच (कृष्), अपक्कुण = अप्फन, उप्फन अब्भिड = भिड़ (सम् + गम्), उक्कुस = उकस (गम्) आगाह = उगाह (अव + गाह्), ओहाव = (बरखा का) ओहाव (आ + क्रम्), कोक्क = कूक, (वि + आ + हृ), खिर = घिसने के अर्थ में (क्षर) घोट्ट = घोंट (पा), चक्ख = चख (आ + स्वद्), चड = चढ़ (आ + रुह), छज्ज = छाज (राज्), छड्ड = छोड़ (मुच्), छिव = छू (स्पृश्), छोल्ल = छील छोल (तक्ष्), जिम = जीम (भुज्), झंप = झँप (वि + लप, सम् + वृ, निस् + श्वस्), झपट = झोंट (हिलाना) (भ्रम्), झूर = झूर (स्मृ), झँख = झख (खिद्), ढक्क = ढक (छादय्), ढण्ढोल = ढँढार (गवेष्) ढंस = ढँस (वि + वृ), पंजर = पंजर (देखिए पृ० रासो) (कथ्), पलोट्ट = पलाट, (पल टत राधिका पायन) (परि + अस्), पार = पार (शक्) पुञ्छ = पोंछ (मृज्), विसूर (खिद्) सार (प्र + हृ) सिह, एक देखे जो सिहाय (स्पृह, कांक्ष्)।

काल-रचना

३९ व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिंदी के विविध कालों की क्रियाएँ अपभ्रंश के उन क्रियापदों से विकसित हुई हैं जिनमें से (क) कुछ तो संस्कृत के तिङन्त रूपों के तद्भव हैं (ख) कुछ संस्कृत के कृदन्त रूपों के तद्भव हैं और (ग) शेष, इन तिङन्त-तद्भव और कृदन्त-तद्भव रूपों के संयोग हैं।

अब इनमें से एक एक को लेकर विचार किया जा रहा है।

तिङन्त-तद्भव

४० सहायक क्रिया—हिंदी में है, हैं, हूँ, हो तथा था, थे, थी, थीं आदि जो सहायक क्रियाएँ हैं, वे संस्कृत के तिङन्त रूपों के अवशेष हैं और उन्हें वर्तमान रूप अपभ्रंश, अवधी, ब्रजभाषा आदि कई अवस्थाओं के माध्यम से प्राप्त हुआ है। इनका इतिहास निम्नलिखित है।

नाम रख दिया गया था। इन गणों में से प्रत्येक के लिए कुछ निश्चित विकरण (मध्य प्रत्यय) हैं जो धातु में समाविष्ट होकर रूप-रचना करते हैं। इस तरह संस्कृत में धातु और विकरण दो भिन्न व्याकरणिक इकाइयाँ मानी जाती हैं। अपभ्रंश ने संस्कृत के विकरण युक्त धातु रूप को धातु स्वीकार कर लिया और आगे चलकर हिंदी में भी ये धातु उसी रूप में स्वीकृत हुए जैसे—सुन∠श्रु+नु, नाच∠नृत्+य, बूझ ∠ बुध+य, जान∠ज्ञा+ना, रूँध∠रुध्+न, सुमिर∠स्मृ+अ, हर∠हृ, कर∠कृ, धर∠धृ, डर∠दृ, गिर∠गृ, आदि।

इनमें से अंतिम ऋकारान्त धातुओं में होनेवाले विकरण जनित परिवर्तन की प्रवृत्ति अपभ्रंश में अत्यंत व्यापक दिखाई पड़ती है। संस्कृत के प्राय सभी 'ऋ' कारान्त धातु अपभ्रंश और हिंदी में 'र' कारान्त हो गये। इसके अतिरिक्त 'इगुपध' (इ, उ, ऋ, लृ कारान्त) धातुओं में स्वरावस्थान (वॉवेल ग्रेडेशन) अथवा गुण' के द्वारा इ उ का क्रमश ए और ओ हो गया, जैसे चेत ∠ चित् पोस ∠ पुष, सोध∠शुध्, जोड़∠ जुड़्, खोद∠ खुद आदि।

(ग) गण-परिवर्तन से प्रभावित धातु —संस्कृत के दस गणों में भी 'भ्वादि' गण में सब से अधिक धातु थे और उसी गण के रूप प्रभावशाली दिखाई पड़ते थे। अपभ्रंश तक आते आते यह प्रभाव अत्यंत व्यापक और सक्रिय हो गया। जैसे—रो (रोव) ∠रुद्, पाव∠ आप् ले ∠ ला, दे∠दा आदि।

(घ) काल-परिवर्तन से आविर्भूत धातु —कभी-कभी भविष्यत् काल के रूप को ही धातु का आधार बना लिया गया जैसे दृश् का लृट् लकार में द्रक्ष्यति होता है फलत अपभ्रंश और हिंदी की √देख 'द्रक्ष्य के आधार पर बनी √दृश से उसका कोई संबंध नहीं।

(ङ) कृदन्त युक्त धातु —अपभ्रंश और हिंदी के अनेक धातु संस्कृत के कृदन्त रूप (धातु+कृत् प्रत्यय) से बने हैं। ऐसे धातुओं की संख्या बहुत अधिक है जैसे—चुक<√च्युत्+कृ, पैठ<प्र+√विश+क्त (प्रविष्ट), रूठ∠ रुष्ट, ∠ हाँक<हक्+कृ, सटक ∠सत्र (सद्+कृ), लुक ∠ लुप्+कृ, भूल∠भ्रष्ट, भाग∠भग्न, मढ़∠मृष्ट, वेढ़ ∠ वेष्ट, बैठ∠उपविष्ट, पाट∠ पिष्ट, फूँक∠फूत्+कृ, पलट<पर्यस्त, पकड़<प्रकृष्ट, थक < स्तम्भ्+कृ ठाढ़∠स्तब्ध, जुट∠युक्त फाढ़∠स्फृष्ट आदि।

ऐसे धातुओं में से अधिकांश भूत कृदन्तज हैं।

(च) सोपसर्गपद धातु —अपभ्रंश और हिंदी के अनेक धातु संस्कृत के सोपसर्गज (उपसर्ग + धातु से उत्पन्न) हैं। जैसे—आइ∠उप + विष्ट, उखाड∠उत् + कृष्ट, बैठ∠उप + विष्ट, पैठ∠प्र + विष्ट आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी धातु हैं जिन्हें देशज कहा जा सकता है क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति के लिए अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। हेमचन्द्र के 'धात्वादेश' में से कुछ ऐसे ही आदेशों का उनके हिंदी रूपों के साथ यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

अंच = ऐंच (कृष्), अप्फुण = अप्फन, उप्फन अब्भिड = भिड़ (सम् + गम्), उक्कुस = उकस (गम्) आगाह = उगाह (अव + गाह), आहाव = (परखा का) ओहाव (आ + क्रम्), कोक्क = कूक, (वि + आ + हृ), खिर = घिसने के अर्थ में (क्षर), घोट्ट = घोंट (पा), चक्ख = चख (आ + स्वद्), चड = चढ़ (आ + रुह), छज्ज = छाज (राज्), छड्ड = छोड़ (मुच्), छिव = छू (स्पृश्), छोल्ल = छोल छील (तक्ष्), जिम = जीम (भुज्), झंख = झंख (नि + लप, सम् + तप्, निस् + श्वस्), झपट = झाँट (हिलाना) (भ्रम्), झूर = झूर (स्मृ), भौंस = भस (क्षिप्), ढक्क = ढँक (छादय्), ढण्ढोल = ढँढोर (गवेष्) ढस = ढाँस (वि + वृ), पज्जर = पजर (देखिए पृ० रासो) (कथ्), पलोट्ट = पलोट, (पलाटत राधिका पायन) (परि + अस्) पार = पार (शक्), पुञ्छ = पोंछ (मृज्), विसूर (खिद्) सार (प्र + हृ) सिह, एक देखै नौ सिहाय (स्पृह, काङ्क्ष्)।

काल-रचना

३९ व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिंदी के विविध कालों की क्रियाएँ अपभ्रंश के उन क्रियापदों से विकसित हुई हैं जिनमें से (क) कुछ तो संस्कृत के तिङन्त रूपों के तद्भव हैं (ख) कुछ संस्कृत के कृदन्त रूपों के तद्भव हैं और (ग) शेष, इन तिङन्त-तद्भव और कृदन्त-तद्भव रूपों के संयोग हैं।

अब इनमें से एक एक को लेकर विचार किया जा रहा है।

तिङन्त-तद्भव

४० सहायक क्रिया—हिंदी में है, हैं, हूँ, हो तथा था, थे, थी थीं आदि जो सहायक क्रियाएँ हैं, वे संस्कृत के तिङन्त रूपों के अवशेष हैं और उन्हें वर्तमान रूप अपभ्रंश, अवधी, ब्रजभाषा आदि कई अवस्थाओं के माध्यम से प्राप्त हुआ है। इनका इतिहास निम्नलिखित है।

है तथा उसके अन्य रूप —विद्वानों ने है का संबंध संस्कृत के √अस के वर्तमानकालिक रूप अस्ति से माना है। अनुमानतः अस्ति और है के बीच की अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

अस्ति7असति7अछइ7अहइ7अहै7है।

इनमें से अपभ्रंश में है, अहै और अहइ में से कोई भी रूप प्राप्त नहीं होता। इनके स्थान पर अच्छ अथवा अच्छि अवश्य मिलता है जैसे—

होसइ करत म अच्छि (हेम ४/३८८)

'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' के क्रिया-पदों का अध्ययन करने से भी पता चलता है 'अवहट्ट' में भी अछ वाले रूपों की ही प्रधानता थी।

देखत आछ, चारत आछ, सूँघत आछ (उक्ति०, ६)

होइते अछ (वर्ण०, १३ क) चरइते अछ (वर्ण०)

आरंभिक अवधी में भी कहीं-कहीं अछ वाले रूपों का प्रयोग प्रचलित प्रतीत होता है—

मलहि जा आछै पाछ। (पद्मा०)

कँवल न आछै आपनि बारी। (पद्मा०)

कहा निचिंत रे मानुष आपन चीते आछु। (पद्मा०)

परवर्ती अपभ्रंश में विकल्प से यत्र तत्र अह वाले रूप भी मिलते हैं जैसे—

करइते आह (वर्ण०, ३७ ख, ५२ क)

अवधी और ब्रज में अह वाले रूप के भी अवशेष दिखाई पड़ते हैं—

माट अहै ईसर के कला (पद्मा०)

एहि घाट ते थोरिक दूर अहै। (कवितावली)

बासों अहै अनवया। (काव्य निर्णय, १६)

लेकिन अहै वाले रूप प्रधानतः अवधी के ही हैं।

है का प्रयोग परवर्ती अवधी तथा ब्रज से ही मिलने लगता है।

है कछु कुटिल भाउ मन माहीं। (मानस)

आवत है दिन गारि। (सूर०)

कीर्तिलता में भी एक स्थान पर है का प्रयोग मिलता है—

खिसियाय खाण है (पृ ४०)

(ख) था तथा उसके अन्य रूप —भूतकालिक सहायक क्रिया था का संबंध कुछ लोग √अस् से और कुछ √ भू—अभूत से मानते हैं। अभूत से था तक पहुँचने में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का अनुमान किया जाता है।

अभूत > अहूत > हूत > हुतो = हो, तो, था (त + ह)

भाषा में था के पूर्व-रूप की ये सभी अवस्थाएँ नहीं मिलतीं। ब्रजभाषा में हुतो हो (हा, हे) तो (ती, ते) आदि रूप मिलते हैं था वाले रूप अपभ्रंश से लेकर ब्रजभाषा तक कहीं नहीं मिलते।

एक हुतो सो गयो स्याम संग। (सूर०)
पौन सो जागति आगि सुनी ही। (घनानन्द)
मैं हो जान्यो लायननु सुरत यादि है जाति। (बिहारी०)
चरनि गह तौ फरि चरपन लागी री। (पद्माकर)

था वाले रूपों का प्रयोग खड़ी बोली का अपना विशेषता मालूम होता है। 'दक्खिनी हिंदी' में ये रूप बहुतायत से मिलते हैं—

अये था नने। रतन था अथे। अथ्या अथा, थ्या आदि[1]।

(ग) होगा और उसके अन्य रूप—

अपभ्रंश में भविष्यत् काल बनाने वाला सहायक क्रिया होगा अथवा उसकी तरह का कोई रूप नहीं मिलता। 'उक्ति व्यक्ति' 'वर्ण रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' में इस तरह के रूप नहीं हैं। अवधी के ग्रंथों में भी इसका प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पश्चिमी हिंदी में सोलहवीं सदी के आसपास विकसित और प्रचलित हुआ। संभवतः आरंभिक ब्रजभाषा में भी इसका प्रयोग नहीं होता था। ग्रंथ साहब में इसका प्रारंभ मिलता है—

ना को मेरा किस गही ना को होआ न होग।
तिस बिन दूसर होआ न होग।
ना कर पाया सोइ होग।
नित नित जाग्रत समालोग्रन देखेगा देखणहार।
काहु बोल न पहुचग प्रानी।

मिर्जा खाँ ने अपने 'ब्रजभाषा व्याकरण'[2] (१६७६ ई०) में भविष्यत् के लिए गा वाले रूप करेंगे, करोगे करूँगी, करेंगी, करेंगा आदि लक्षित किये हैं।

दक्खिनी हिंदी में भी हूँगा सकेगा, अछेगा जैसे प्रयोग मिलते हैं। गा वाले रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में सन्देह है। संभवतः सहायक क्रिया होगा तथा

---

1 डा० सक्सेना द्वारा दक्खिनी हिंदी पृ० ६१ पर उद्धृत।
2 जियाउद्दीन—मिर्जा खाँ स ग्रामर ऑव ब्रजभाषा (११ ५ ई०)

है तथा उसके अन्य रूप —विद्वानों ने है का संबंध संस्कृत के √अस के वर्तमानकालिक रूप अस्ति से माना है। अनुमानतः अस्ति और है के बीच की अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

अस्ति7असति7अछइ7अहइ7अहै7है।

इनमें से अपभ्रंश में है, अहै और अहइ में से कोई भी रूप प्राप्त नहीं होता। इनके स्थान पर अच्छ अथवा अच्छि अवश्य मिलता है जैसे—

होसइ करत म अच्छि (हेम० ४/३८८)

'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' के क्रिया-पदों का अध्ययन करने से भी पता चलता है 'अवहट्ट' में भी अछ वाले रूपों की ही प्रधानता थी।

देखत आछ, चाखत आछ, सूँघत आछ (उक्ति०, ६)

होइते अछ (वर्ण०, १३ क) चरइते अछ (वर्ण०)

आरंभिक अवधी में भी कहीं-कहीं अछ वाले रूपों का प्रयोग प्रचलित प्रतीत होता है—

भलहि जो आछै पास। (पद्मा०)

कँवल न आछै आपनि वारी। (पद्मा०)

कहा निचिंत रे मानुप आपन चीते आछु। (पद्मा०)

परवर्ती अपभ्रंश में विकल्प से यत्र तत्र अह वाले रूप भी मिलते हैं जैसे—

करइतें आह (वर्ण०, ३७ ख, ५९ क)

अवधी और व्रज में अह वाले रूप के भी अवशेष दिखाई पड़ते हैं—

भाट अहै ईसर कै कला (पद्मा०)

एहि घाट ते थोरिक दूर अहै। (कवितावली)

वामों अहै अन चया। (काव्य निर्णय, १६)

लेकिन अहै वाले रूप प्रधानतः अवधी के ही हैं।

है का प्रयोग परवर्ती अवधी तथा व्रज से ही मिलने लगता है।

है कछु कुटिल भाउ मन माहीं। (मानस)

आवत है दिन गारि। (सूर०)

कीर्तिलता में भी एक स्थान पर है का प्रयाग मिलता है—

रिसियाय जाया है (पृ० ४)

(ख) था तथा उसके अन्य रूप —भूतकालिक सहायक क्रिया था का संबंध कुछ लोग √अस् से और कुछ √भू—अभूत से मानते हैं। अभूत से था तक पहुँचने में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का अनुमान किया जाता है।

अभूत > अहूत > हूत > हुतो = हो, ता, था (त + ह)

भाषा में था के पूर्व रूप की ये क्रमिक अवस्थाएँ नहीं मिलतीं। ब्रजभाषा में हुतो हो (हा, हे) तो (ती, ते) आदि रूप मिलते हैं था वाले रूप अपभ्रंश से लेकर ब्रजभाषा तक कहीं नहीं मिलते।

एक हुतो सो गयो स्याम सँग। (सूर)
पौन सो जागति आगि सुनी ही। (घनानन्द)
मैं हो जान्यो लोयननु जुरत बाढ़ि है जाति। (बिहारी०)
चरनि गई तौं फरि चरन्न लागी री। (पद्माकर)

था वाले रूपों का प्रयोग खड़ी बोली की अपनी विशेषता मालूम होती है। 'दक्खिनी हिंदी' में ये रूप बहुतायत से मिलते हैं—

थथे दो जन। रतन था अथे। अच्या अथा, थ्या आदि[1]।

(ग) होगा और उसके अन्य रूप—

अपभ्रंश में भविष्यत् काल बनाने वाला सहायक क्रिया होगा अथवा उसकी तरह का कोई रूप नहीं मिलता। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' 'रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' में इस तरह के रूप नहीं हैं। अवधी के ग्रंथों में भी इसका प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पश्चिमी हिंदी में सोलहवीं सदी के आसपास विकसित और प्रचलित हुआ। संभवतः आरंभिक ब्रजभाषा में भी इसका प्रयोग नहीं होता था। 'प्रथ साहब' में इसका प्रारम्भ मिलता है—

ना को मेरा किस गहा ना को होआ न होग।
तिस बिन दूसर होआ न होग।
जो कर पाया सोइ होग।
नित नित जाअग्र समालीअन देखेगा व्यवहार।
काहु बात न पहुचग प्रानी।

मिर्जा खाँ ने अपने 'ब्रजभाषा व्याकरण'[2] (१६७ ई०) में भविष्यत् के लिए गा वाले रूप करैंगे, करोंगे, करूँगा, करैगी करैंगा आदि लक्षित किए हैं।

दक्खिनी हिंदी में भी हैंगा मरेगा अच्छेगा जैसे प्रयोग मिलते हैं। गा वाले रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में सन्देह है। सम्भवतः सहायक क्रिया होगा तथा

---

[1] डा० सक्सेना द्वारा दक्खिनी हिंदी पृ० ६१ पर उद्धृत।
[2] जियाउद्दीन—मिर्जा खाँ स ग्रामर ऑव ब्रजभाषा (१६ ४ ई०)

है तथा उसके अन्य रूप —विद्वानों ने है का संबंध संस्कृत के √अस के वर्तमानकालिक रूप अस्ति से माना है। अनुमानतः अस्ति और है के बीच की अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

अस्ति 7 असति 7 अछइ 7 अहइ 7 अहै 7 है।

इनमें से अपभ्रंश में है, अहै और अहइ में से कोई भी रूप प्राप्त नहीं होता। इनके स्थान पर अच्छ अथवा अच्छि अवश्य मिलता है जैसे—

होसइ करत म अच्छि (हेम० ४/३८८)

'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' के क्रिया-पदों का अध्ययन करने से भी पता चलता है 'अवहट्ट' में भी अछ वाले रूपों की ही प्रधानता थी।

देखत आछ, चाखत आछ, सूँघत आछ (उक्ति०, ६)

होइते अछ (वर्ण०, १३ क) चरइते अछ (वर्ण०)

आरंभिक अवधी में भी कहीं-कहीं अछ वाले रूपों का प्रयोग प्रचलित प्रतीत होता है—

मलहि जा आछै पास। (पद्मा०)

कँवल न आछै आपनि बारी। (पद्मा०)

कहा निचित रे मानुष आपन चीते आछु। (पद्मा०)

परवर्ती अपभ्रंश में विकल्प से यत्र तत्र अह वाले रूप भी मिलते हैं जैसे—

करइते आह (वर्ण०, २७ ख, ५८ क)

अवधी और ब्रज में अह वाले रूप के भी अवशेष दिखाई पड़ते हैं—

भाट अहै ईसर कै कला (पद्मा०)

एहि घाट ते थोरिक दूर अहै। (कवितावली)

यासों अहै अनवया। (काव्य निर्णय, १६)

लेकिन अहै वाले रूप प्रधानतः अवधी के ही हैं।

है का प्रयोग परवर्ती अवधी तथा ब्रज से ही मिलने लगता है।

है कछु कुटिल भाउ मन माहीं। (मानस)

आवत है दिन गारि। (सूर०)

कीर्तिलता में भी एक स्थान पर है का प्रयोग मिलता है—

खिसियाय खाय है (पृ ४०)

(ख) था तथा उसके अन्य रूप —भूतकालिक सहायक क्रिया था का संबंध कुछ लोग √अस् से और कुछ √भू—अभूत से मानते हैं। अभूत से था तक पहुँचने में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का अनुमान किया जाता है।

मिलते हैं —

(क) –स प्रकार जैसे–करिसइ, करिसहि, करिसु, करसहुँ आदि

(ख) –ह प्रकार जैसे=करिहइ करिहहिं, करिहहि, करिहहु, करिहउ, आदि।

दोनों ही संस्कृत के –ष्य–वाले रूपों के अपभ्रंश हैं। इनमें से –स प्रकार के रूप राजस्थानी बोलियों में सुरक्षित हैं जैसे

उहाँ लग मा लग्गसा (ढाला०)

कभी कभी अवधी में भी ऐसे रूप मिलते हैं जैसे विकल होसि तैं कपि के मारे। (मानस)

और–ह प्रकार के रूप अवधी, व्रज आदि बोलियों में प्रचलित हो गये जैसे—

होइहै सोइ जो राम रचि राखा। (मानस)

पति रहिहै व्रज त्यागे (सूर०)

मग जोग न कोमल क्यों चलिहैं। (कवितावली)

जैहौ अवध कवन मुँह लाई। (मानस)

५३ वर्तमान आज्ञार्थ—हेमचन्द्र ने आज्ञा के लिए–इ,–उ और–ए प्रत्ययों का आदेश दिया है (प्रा व्या, ४।३८७)। इस प्रकार सुमरि, विलम्बु और करे तीन प्रकार के रूप बनते हैं जैसे—

कुजर सुमरि म सल्लइउ।

के वि पियहडा विलम्बु।

प्रिय एम्बहिं करे।

ये वस्तुत –हि प्रत्यय के विकार हैं। हिंदी बोलियों में इनके रूप इस प्रकार हैं—

चार हजार लै देखु परिच्छा। (सुदामा चरित)

अली जिय जानि। (बिहारी)

गोरस बेंच री आज तैं। (रसखान)

इनके अतिरिक्त–हु और–ओ प्रत्यय वाले रूप भी मिलते हैं

प्रिय तहिं देसहिं जाहु। (हेम०)

द्वारका जाहु जू। (सुदामा चरित)

श्रवण सुनो तिनकी कथा। (भक्तमाल)

खड़ी हिंदी में इनमें से केवल–अ और–ओ वाले रूप ही मिलते हैं जैसे–तू कर और तुम करो।

उसके अन्य रूपों के हो और गा दो भिन्न क्रियाओं से उत्पन्न हुए हैं और फिर संयुक्त हो गये।

४१ सामान्य वर्तमान काल—अपभ्रंश में सामान्यतः सामान्य वर्तमान काल के रूप निम्नलिखित प्रकार के होते हैं।

	एक०	बहु०
अ० पु०	करइ	करहिं
म पु०	करहि	करहु
उ० पु०	करउ	करहुँ

अवधी और ब्रज में प्रायः ये रूप ज्यों के त्यों प्रचलित रहे परंतु इनके साथ ही इनके कुछ विकृत रूप भी चल पड़े। इन विकृत रूपों का इतिहास निम्नलिखित है।

—अइ > -ऐ —
गरल सुधा रिपु करैं मिताइ। (मानस)
ऊधो विरही प्रेम करैं। (सूर०)
—अइ > -ए —
काहू काहू अइसनओ सगत करे। (कीर्ति० २४)
—अइ > -अ —
इसका प्रयोग विशेषतः अवधी में मिलता है।
मेघु गाज, बाउ डाल डोलाव, केवट नाव चलाव।
(उक्ति०, ३८ ३६)
तवे मन कर, तन्हि केस कुसुम वम। (कीर्ति०, ३४ ३६)
श्रुति पुरान मुनि गाव (मानस)
—अहि > -ए —
बार बार प्रभु चहै उठावा। (मानस)
कैसे रहैं रूप रस राँची। (सूर०)
—अउँ > -औं—
बंदौ गुर पद पदुम परागा (मानस)
बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन। (रसखान)
—अउँ > -ऊँ —
मतो कहाँ बुझाऊँ। (कबीर)
जो जग और लियो हौं पाऊं। (सूर०)

४२ सामान्य भविष्यत् काल—अपभ्रंश में भविष्यत् काल के रूप दो प्रकार के

मिलते हैं —

(क) – स प्रकार जैसे – करिसइ, करिसहि, करिसु, करसहुँ आदि

(ख) – ह प्रकार जैसे = करिहइ करिहहिं, करिहहि, करिहहु, करिहउ, आदि।

दोनों ही संस्कृत क – ष्य – वाले रूपों के अपभ्रंश हैं। इनमें से – स प्रकार के रूप राजस्थानी बोलियों में सुरक्षित हैं जैसे

उहाँ लग मा लग्गसा (ढाला०)

कभी कभी अवधी में भी ऐसे रूप मिलते हैं जैसे विकल होसि तैं कपि के मारे। (मानस)

और – ह प्रकार के रूप अवधी, ब्रज आदि बोलियों में प्रचलित हो गये जैसे—

होइहै सोइ जो राम रचि राखा। (मानस)

पति रहिहैं ब्रज त्याग (सूर)

मग जाग न कोमल क्यों चलिहैं। (कवितावली)

जैहौं अवध कवन मुँह लाई। (मानस)

४३ वर्तमान आज्ञार्थ—हेमचन्द्र ने आज्ञा के लिए – इ, – उ और – ए प्रत्ययों का आदेश दिया है (प्रा० व्या, ४।३८७)। इस प्रकार सुमरि, विलम्बु और करे तीन प्रकार के रूप बनते हैं जैसे—

कुंजर सुमरि म सल्लइउ।

क नि दियहडा विलम्बु।

प्रिय एम्वहिं करे।

ये वस्तुतः – हि प्रत्यय के विकार हैं। हिंदी बोलियों में इनके रूप इस प्रकार हैं—

चार हजार लै दस्तु प रक्खो। (सुदामा चरित)

अली पिय जानि। (बिहारी)

गारस बेंच री आज तें। (रसखान)

इनके अतिरिक्त – हु और – ओ प्रत्यय वाले रूप भी मिलते हैं

प्रिय तहि देसहिं जाहु। (हेम०)

द्वारका जाहु जू। (सुदामा चरित)

भरण सुनो तिनकी कथा। (भक्तमाल)

खड़ी हिंदी में इनमें से केवल – अ और – ओ वाले रूप ही मिलते हैं जैसे – तू कर और तुम करो।

सहायक क्रिया का तिङन्त रूप जोड़ देने से अपूर्ण भूतकाल का बोध होता है, जैसे करता था, करते थे, करता था आदि। अपभ्रंश में भूतकालिक सहायक क्रिया का विकास न होने के कारण इस काल के संयुक्त रूप प्राय नहीं मिलते, लेकिन परवर्ती अपभ्रंश से इसके उदाहरण मिलने लग जाते हैं।

को तहाँ जेवँत आछ = कस्तत्र भुञ्जान आसीत। (उक्ति०, २१)

कालिह हमहिं कैसे निदरति हो = निदरती थी (सूर०)

५० आसन्न भूत (पूर्ण वर्तमान) काल —भूतकालिक कृदन्त के बाद वर्तमानकालिक सहायक क्रिया के तिङन्त-तद्भव रूप को जोड़ने से पूर्ण वर्तमान अथवा आसन्न भूतकाल की क्रिया बनती है जैसे किया है, किये हैं, आदि।

इस तरह के रूप व्रजभाषा में ही प्रचलित दिखाई पड़ते हैं।

हम पढ़े एक साथ हैं = हम एक साथ पढ़े हैं। (सुदामा०)

मुकुट धरे माथ हैं = माथे मुकुट धरे हैं। (")

जिनका विधि दीन्ही है टूटा सी छानी। (")

५१ पूर्ण भूतकाल —भूतकालिक कृदन्त के बाद भूतकालिक सहायक क्रिया के तिङन्त-तद्भव रूप को जोड़ने से पूर्ण भूतकाल की क्रिया बनती है, जैसे किया था, किये थे आदि। खड़ी बोली के ये रूप व्रजभाषा काल से ही चले आ रहे हैं जैसे—

आजु गई हुती भोरहि हौं। (रसखान)

मैं हो जान्यो नाहिं। (बिहारी)

संयुक्त क्रिया

५२ संयुक्त काल के अतिरिक्त अपभ्रंश में संयुक्त क्रिया बनाने की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ये क्रियाएं प्राय वर्तमानकालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, पूर्वकालिक कृदन्त और क्रियार्थक संज्ञा के विकारी रूपों की सहायता से बनाई जाती हैं। इनमें से प्रत्येक का इतिहास यथासंभव अपभ्रंश से लेकर खड़ी बोली तक दिया जा रहा है।

(क) वर्तमान-कालिक कृदन्त निर्मित—

अब्भा लग्गा डुंगरहि पहिउ रडन्तउ जाइ = रटता जाता है (हेम , ८।४४५)

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। (मानस)

अबिगत गति कछु कहत न आवै (सूर०)

(ख) भूतकालिक कृदन्त-निर्मित—

जइ भग्गा घर एन्तु = भग्गा एन्तु = भागा आता। (हेम०, ४। ५)

जहि पुणु सुमरणु जाउँ गउ = जाया गया। (चला गया)
(हेम०, ४।४२६)

तइअ गय सव्वा किआ। (प्राकृत पैंगलम्, ५ ७)

सो चलि गा पाताल तुरता। (मानस)

यह बात भागत उतराइ। (सूर)

(ग) पूर्वकालिक कृदन्त निर्मित—

धाए असवारहिं मारिअ = धाए मारिअ = धाइ मारिअ (कीर्ति० ६६)

आइु सैन्वान खोन्हि खा = खाइ कर खा डालेगा। (")

पकलि देओ असनान = पकड़कर देता हूँ। (कीर्ति० १०)

रकन कराइन मौंथ उप्परि फरवा फोरि दा। (कीर्ति, ६८)

पुनि सँभारि उठी सो लंका। (मानस)

अपनो चाँद आनि उहि बैठो। (सूर)

(घ) क्रियार्थक संज्ञा निर्मित—

पयाधर क मरे भागए चाह = भागना चाहती हैं। (कीर्ति०, ३६)

उपर चढ़ावए चाह धार = चढ़ाना चाहता है। (कीर्ति०, ३६)

सबै सहना दूरै धाइ। (पद्मा०)

तपै लागि अब जेठ असाढ़ा। ( )

सत्य कहौं माहि जान दे माइ (मानस)

लगे सँवारन सकल सुर (')

मन हो मन मार पिरैवो करै (बोधा)

खेलन फिरन देव। (ठाकुर)

उपर्युक्त संयुक्त काल और संयुक्त क्रिया के उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय आर्य भाषा अपभ्रंश से व्यवहिति की ओर क्रमशः अग्रसर होती गई।

अव्यय

५३ क्रिया विशेषण—कुछ-एक को छोड़कर अपभ्रंश के अधिकांश विशेषण संस्कृत के तद्भव हैं और बाद से ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ उनमें से कई-एक अपभ्रंश, अव तथा व्रज भाषा में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। नीचे ऐसे ही विविध क्रिया-विशेषणों की सूची दी जा रही है।

(क) कालवाचक—अज्जु = अजु, आज एवहिं (अधुना) = अवहिं, अब कइयह (कदा) = कहिया (अथवा भोजपुरिया) जइय (यदा) =

जहिया जय (यदा) = जब जाँव (यावत्) = जो (लौं), तइय (तदा) = तदिया तवे (तदा) = तब ता (तत) = ता पच्छए (पश्चात्) = पाछे, पाछ।

(ख) स्थानवाचक—

कहिं (कुत्र) = कह, कहाँ जहिं (यस्मिन्) = जह, जहाँ, तहिं (तत्र) = तहँ, तहाँ बाहिर (बहि) = बाहिर, बाहर।

(ग) रीतिवाचक—

एउ, एउ, एव (एवम्) = यों णिरु, णिराइउ (नितराम्) = निरा णाहि (नास्ति) = नाहि, नाहीं, नहीं फुडु (स्फुटम्) = फुर, फुरै (अवधी)।

(घ)—विविध

अवस (अवश्यम) = अवस, अवसि (अवधी) इ (अपि) = इ, जणि, जणु (इव) = जनि, जनु (अवधी) ण (इव, अथवा वैदिक न) = लौं, इत्यादि।

५४ समुच्चय बोधक अव्यय —

अनु (अन्यथा) —

विरहानल-जाल-करालियउ रहिउ को वि बुड्डिव ठिअउ।
अनु सिसिर कालि सीअल जलहु धूमु कहन्तिहु उट्ठियउ।
—(हेम०, ४।४१५)

देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं। (मानस, अयोध्या काड, पृ० १६६)

अपभ्रंश के अनु का प्रयोग हिंदी में बहुत कम मिलता है मानस में जहाँ अनु मिलता है वहाँ उसके लिए 'अरु' पाठ भी मिलता है अनु पाठ पं शम्भूनारायण चौबे के संस्करण में ही सुरक्षित है।

जइ, जा (यदि) कि (वा) जैसे—आज कि कहिन।

वाक्य विन्यास

५५ अब तक वाक्य के एक एक अवयव (पद और पदमात्र) को लेकर अपभ्रंश से हिंदी का उद्भव और विकास देखा गया। हमने देखा कि किस प्रकार हिंदी संज्ञाओं का कारक विभक्तियाँ और परसर्ग सर्वनाम सार्वनामिक विशेषण और संख्या-वाचक विशेषण, क्रिया के धातु और उनके प्रयोग तथा अव्यय अपभ्रंश से विकसित हुए हैं। लेकिन किसी भाषा में वाक्य के अवयवों का केवल रूपान्तर और प्रयोग जानना ही काफी नहीं है, बल्कि उन अवयवों का पारस्परिक संबंध जानना भी आवश्यक है। वाक्य में शब्दों के पारस्परिक संबंध का अर्थ है एक दूसरे से उनका अन्वय एक दूसरे पर उनका अधिकार और अंत में उनका क्रम। इन्हीं सब बातों के द्वारा किसी भाषा का वाक्य विन्यास संबंधी विशेषताओं का पता चलता है। नीचे हिंदी वाक्य विन्यास की उन थोड़ी-सी विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है जिन्हें अपभ्रंश ने या तो अपनी अर्जित सम्पत्ति के रूप में हिंदी को दिया है अथवा संस्कृत की परंपरा को थोड़ा-सा परिवर्तित करके आगे बढ़ाया है।

५६ विभक्ति-व्यत्यय—कारक विभक्तियों का व्यत्यय संस्कृत से ही होता आ रहा है। हेमचन्द्र ने प्राकृत अपभ्रंश वाक्य-रचना में इस व्यत्यय को लक्षित किया है। उनके अनुसार संबंध कारक की षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर्म करण, सम्प्रदान और अधिकरण के लिए भी होता है।[1] इसके अतिरिक्त अधिकरण कारक की सप्तमी विभक्ति का प्रयोग कर्म और करण के लिए होता है,[2] अपादान कारक की पंचमी विभक्ति का प्रयोग करण कारक के लिए[3] और कर्म कारक की द्वितीया विभक्ति का प्रयोग अधिकरण के लिए होता है।[4] ये नियम हेमचन्द्र ने प्राकृत वाक्य-विन्यास के लिए बताये हैं अपभ्रंश की चर्चा करते हुए उन्होंने इस

---

१ चतुर्थ्याः षष्ठी (३।१३१) क्वचिद् द्वितीयादेः (३।१३४)—अत्र द्वितीया षष्ठी... अत्र तृतीयायाः अत्र पञ्चम्याः ...अत्र सप्तम्याः। (प्राकृत व्याकरण)।

२ द्वितीया तृतीययोः सप्तमी ३ पञ्चम्यास्तृतीया च ४ सप्तम्या द्वितीया। (हेम० प्राकृत व्याकरण—३।१३५, १३६ १ ७)

विषय में अलग से और कुछ नहीं कहा है फिर भी उनके दिये हुए अपभ्रंश उदाहरणों में उपयुक्त विभक्ति-व्यत्यय तथा उसी तरह के कुछ और प्रत्यय पश्चात मिलते हैं। अपभ्रंश की इस प्रवृत्ति का विकास क्रमश हिंदी में किस प्रकार हुआ—यह नीचे के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकता है।

(क) संबंध कारक के विशिष्ट प्रयोग

(१) कर्म कारक के अर्थ में—

तहिं महद्दम सउणाहं अवराहिउ न करति। (हेम०) = शकुनियों को।
वेस विसिट्ठह वारियइ। (कुमार० प्रतिबोध) = वेश विशिष्ट लोगों का
तुम्ह हियपट्ठियह छुडिहि। (स० रासक, ७५) = तुम हृदयस्थित का
पिउ आणि मज्झ संतावियइ। (सं० रासक० १६७) = मुझको
लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सकोचु मेरे। (कवितावली) = मुझे
शरीर का तपाना व्यर्थ है = शरीर को

(२) करण कारक के अर्थ में—

कंत जु सीहहो उवमियइ (हेम) = सिंह से
सत्थावत्थह आलवणु साहुवि लोउ करेइ। (हेम) = स्वस्थावस्था वालों से।
क्या करना है प्रकाश का हमको (साकेत) = प्रकाश से।
आँख का अंधा, निर्पात का मारा, दूध का जला।

(३) सम्प्रदान के अर्थ में—

दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं। (हेम०) = शकुनियों के लिए
जीविउ कासु न वल्लहउं। (हेम०) = किसके लिए
कितने पैसे तुम्हारे चाहिए। (सुनीता) = तुम्हारे लिए।
ब्राह्मण का दिया व्यर्थ नहीं जाता। = ब्राह्मण के लिए।

(४) अपादान के अर्थ में—

तेहिं नीहरिय घरस्स। (कुमार प्रतिबोध) = घर से
कुछ का कुछ हो गया = कुछ से कुछ हो गया।
बात का चूका आदमी, डाल का चूका बंदर = बात से, डाल से

(५) अधिकरण के अर्थ में—

पिउ संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केंव (हेम)
= प्रिय के परोक्ष होने पर
कुंजरु अन्नहं तरुअरहं कुड्डेण घल्लइ हत्थु (हेम०) = अन्य

तरुवरों पर।

सिर ल्हासिउ खधस्सु (हेम०) = कंधे पर

इन बातों का विचार मत कीजिए = बातों पर

पेड़ का चढ़ना कठिन है = पेड़ पर

(६) सबध, स्वतत्र कारक के अर्थ में—

मह कन्तहो गुट्ठट्ठियहो कउ झुम्पडा बलति (हेम०) = मेरे कत के घर रहते या रहने पर।

तुम्ह हिअयठिअइ, विरह विडम्बइ काउ (स० रास०, ७९) = तुम्हारे हृदयस्थित होने पर

(ख) करण कारक के विशिष्ट प्रयोग —

अधिकरण कारक के अर्थ म—

निद्दए गमिही रत्तडी (हेम) = निद्रा में।

वरिस-सएण वि जो मिलइ (हेम०) = वर्ष-शत में।

खणेण पहुँच्चइ दूअडउ (पु० हि) = क्षण में

मीरा मुझसू मिहर कर (कबीर) = मुझ पर।

फिर और काम से लगेगा (सुनीता) = काम में।

(ग) अधिकरण कारक के विशिष्ट प्रयोग—

करण के अर्थ में—

इह जलि मइ पुणु वल्लहइ निहवि न पूरिअ आस (हेम०) = जल से, वल्लभ से।

आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाइ (कबीर) = मुझसे।

मो पै किमि कहि आवै (सूर०) = मुझसे।

हिंदी में अधिकरण परसग 'पर' या 'पै' का प्रयोग सम्प्रदान और अपादान में भी होता है जैसे—

अब कापर हम करब सिंगारा (पद्मा०) = किसके लिए।

कापर करौं सिंगार पुरुष मोर आँधर = किसके लिए।

जापै सुख चाहत लियो (बिहारी) = जिससे

इसी तरह अन्य कारकों में भी व्यत्यय होता रहता है।

(घ) संस्कृत में √कथ् का कर्म सदैव द्वितीया विभक्ति में रहता है, परंतु हिंदी में उसके साथ करण-परसग से लगाया जाता है जैसे—मैंने उससे कहा। हिंदी में 'मैंने उसको कहा' जैसा प्रयोग नहीं होता। हिंदी में यह विशेषता

अपभ्रंश से आई है जैसे—

मुखिवि नंदु पुत्तंतु यह सयडालस्स कहेइ (कुमार० प्रति०) यहाँ सयडालस्स में यद्यपि संबंध कारक की विभक्ति-स्स दिखाई पड़ती है, परंतु है वह—से का अर्थ देने वाली।

५७ कर्मवाच्य के प्रयोग की विशेषता—हेमचंद्र ने विध्यर्थक-ज्ज प्रत्यय वाले रूपों के प्रयोग की व्याप्ति वर्तमान काल, भविष्यत् काल तथा आज्ञार्थ बतलाने के बाद भाववाच्य और कर्मवाच्य में भी उसके प्रयोग का विधान किया है[1]। हिंदी कर्मवाच्य के अनेक रूपों में से एक यह भी है। इस कर्मवाच्य की, अपभ्रंश से हिंदी तक के विकास की, अवस्थाएं इस प्रकार हैं—

हउं बलि किज्जउँ (हेम०) = मैं बलि [की] जाऊँ।

जाइज्जइ तहिं देसडइ (हेम०) = उस देश में जाया जाय।

जइ आवइ तो आणिअइ (हेम०) = यदि आवे तो आना जाय।

जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ (हेम०) = यदि प्रिय उबारा जाय।

करुए सुमन।की चहियत यही सजाय (रहीम) = चाहा जाती है।

मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियतु है = पाटा जाता है।

बोलत सुनियै टेर (सूर०) = टेर सुनी जाती है।

नैनन का तरसैय कहाँ लौं (दास) = तरसाया जाय।

(ख) कर्मवाच्य का दूसरा रूप हिंदी में वह है जिसमें करण कारक के परसर्ग ने युक्त कर्ता के साथ सकर्मक धातु का भूतकालिक कृदन्त रूप आता है जैसे मैंने कहा। यह प्रयोग भी अपभ्रंश से ही चला आ रहा है।

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया (हेम०) = मैंने वारया वारा।

निद्दाए मइँ भणिय तुहुँ (हेम०) = मैंने मन्या।

जे हे रिउ द कुम भॅजिअ। (कीर्ति०)

---

१ ईअ-इज्जौ क्यस्य।

चिजि प्रभृतीनां भावकर्मविधिं वक्ष्याम। येषां █ न वक्ष्यते तेषां संस्कृतातिदेशात्प्राप्तस्य क्यस्य स्थाने ईअ इज्ज इत्येतावादेशौ भवतः। हसीअइ। हसिज्जइ। हसीअन्तो। हसिज्जन्तो। हसीअमाणो। हसिज्जमाणो। पढीअइ। पढिज्जइ। होईअइ। होज्जइ॥ बहुलाधिकारात् क्वचित् क्योपि विकल्पेन भवति। मए नवेज्ज। मए नविज्जेज्ज। तेण लहेज्ज। तेण लहिज्जेज्ज। तेण अच्छेज्ज। तेण अच्छिज्जेज्ज। तेण अच्छीअइ॥— (प्रा० व्या० ३।१६०)

जेन्ने वाचक जन रञ्जिअ। (कीर्ति०)

बहुवचन कर्ता के साथ—

उन थानन्द् अस का जो न मारा। (जायसी)

८ क्रिया-संबंधी कुछ अन्य विशिष्ट प्रयोग—क्रियार्थक संज्ञा और जाइ क्रिया के साथ अपभ्रंश में कभी-कभी निषेधवाचक वाक्य बनाया जाता है जो भाववाच्य के अनुरूप होता है जैसे—

पर सुमरणइ न जाइ (हेम०) = भागा नहीं जाता।

हियउ न धरणउ जाइ (स० रास०)।

पर मइ रहण न जाइ (स० रास०)

इसके समान हिंदी में 'हमसे न रहा जाय', 'हमसे न मरा जाय' जैसे प्रयोग मिलते हैं। पुराने साहित्य में भी—

और गना नहि जात (सूर)

तौ काहू पै मेटा न जाति अजानी (सुदामा चरित)

९ संयुक्त क्रिया—अपभ्रंश से हिंदी को संयुक्त क्रियाओं का जो विकास हुआ है वह भी रूप और अर्थ की दृष्टि से वाक्य-विन्यास की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में सबसे पहले अपभ्रंश में ही दिखाई पड़ता है लेकिन रूप और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से अपभ्रंश की संयुक्त क्रियाएँ अत्यंत सरल और आरंभिक अवस्था में हैं। उनकी अपेक्षा आधुनिक हिंदी में संयुक्त क्रियाओं का गठन बहुत पेचीदा हो गया है। अपभ्रंश और हिंदी की संयुक्त क्रियाओं का कुछ तुलनात्मक परिचय 'क्रिया' के प्रसंग में दिया जा चुका है, अतः पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

१० वाक्य-गठन संबंधी अन्य विचार—अपभ्रंश में प्रायः छोटे-छोटे साधारण वाक्य ही मिलते हैं एक से अधिक वाक्यों अथवा उपवाक्यों वाले मिश्रित और संश्लिष्ट वाक्य बहुत कम मिलते हैं। मिश्रित वाक्य प्रायः वहीं आते हैं जहाँ एक वाक्य शर्त वाला होता है जैसे—

जइ आवइ तो आणिअइ (हेम०)

जइ ससणेही, तो मुइअ (हेम०)

जइ पुच्छह घर वड्डाइँ, तो वड्डा घर ओइ (हेम०)

जइ रुच्चइ पाणासु निउ अकिआ कुड्ड करीजु (हेम०)

परवर्ती अपभ्रंश में एक से अधिक विशेषण उपवाक्यों को जोड़ने के लिए संबंधवाचक सर्वनाम 'जो' तथा उसके अन्य रूपों से मदद लेने की अपेक्षा

'एनाफोरिक' ढंग से स्वतंत्र वाक्यों में रखने की ओर प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है[1] जैसे—

णय घण रेह विणिग्गय निम्मलकर सरयरयणि-पच्चक्खु अमियमउ झरंतउ फुरइ तह चंदह जिणयारह पियह सजणिय-सुह मुह विरहग्गिधूमि कइयलगि झपियउ। (सं० रास०, १२२)

(नयघन रेखा विनिर्गत निमल कर शरद्रजन्यां प्रत्यक्षममृतमरं क्षरन् स्फुरति, तस्य चन्द्रस्य जयनाथ प्रियस्य संजनितसुख मुखं विरहाग्निधूमेन क दिनमारभ्य झम्पितम्।)

विद्युल्लता का तरंग, ते पथ-दिश ज्ञान होइते अछ (वर्ण , ११ क) मदें जो उन्मत्त हाथि, तन्हि ये जे दाँते आघातल सरल वृक्ष ता सओ च्युत मेल जे निर्यास, तकर परिमल से कइसन अरवनु ! जनि वन देवता काँ आयतन धूप देल अछ। (वर्ण , ५० क)

पदाति-क घम, एन्हि वाट कादव भइ गउ। (वर्ण०, ४६ क)

किसी भाषा की आरम्भिक अवस्था में ऐसी सरल वाक्य-योजना का मिलना स्वाभाविक है ! लेकिन आगे चलकर खड़ी बोली में जब गद्य-साहित्य का काफी विकास हुआ तो अनेक प्रकार के मिश्रित वाक्यों की योजना हुई। अपभ्रंश वाक्य-गठन की उक्त विधि हिंदी की मिश्रित और संयुक्त वाक्य-रचना की ओर आरंभिक प्रयत्न है।

---

१ सन्देश रासक स्टडी § ७६ वर्ण रत्नाकर अंग्रेजी भूमिका § ८

शब्दकोश

६१ हिन्दी शब्द कोश में अपभ्रंश की देन तद्भव शब्दों के विषय में हो हो सकता है क्योंकि अपभ्रंश में प्राय तत्सम शब्दों का बहिष्कार किया गया है। यद्यपि उद्योतन सूरि ने 'कुवलयमाला कहा, (७७८ ई०) में अपभ्रंश के आकर्षण का वर्णन करते हुए कहा है कि 'यह शुद्ध और मिश्रित संस्कृत और प्राकृत शब्दों का समानुपातिक और आनददायक मिश्रण है'[१] और राजशेखर (१० वीं सदी ई०) ने भी लक्षित किया है कि संस्कृत से युक्त होने पर अपभ्रंश आखिर पूरा हो जाता है[२] फिर भी अपभ्रंश-साहित्य में संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता। इस बहिष्कार के दो ही कारण हो सकते हैं। या तो धार्मिक प्रतिक्रिया के कारण अपभ्रंश के जैन मुनियों और बौद्ध सिद्धों ने संस्कृत शब्दों की उपेक्षा की, अथवा नितान्त लोकप्रयहृत बोली होने के कारण अपभ्रंश सचमुच ही तत्सम शब्दों से रिक्त रही। जो हो, यह तथ्य है कि साहित्यिक अपभ्रंश में तत्सम शब्द नहीं मिलते।

लेकिन परवर्ती अपभ्रंश में तत्सम शब्दों के आगमन का बाद दिखाई पड़ता है। 'उक्ति व्यक्ति' के छोटे छोटे बिखरे हुए वाक्यों कीर्तिलता के गद्यों और पद्यों तथा 'वर्ण रत्नाकर' की शब्द सूची से इस तथ्य का पता चलता है। अपभ्रंश में जहाँ 'गज' के लिए 'गय,' लोचन' के लोयण, 'मदन' के लिए 'मयण' जैसे तद्भव शब्द चलते थे, वहाँ परवर्ती अपभ्रंश में इन तद्भव शब्दों के साथ-साथ उनके तत्सम रूप भी चलने लगे। यह प्रवृत्ति जायसी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन हिंदी कवियों में भी मिलती है।

इय-गय, लोयन मैन, मयक, अपछरा अछरी जैसे अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग अवधी और ब्रज में भी बहुत दिनों तक होता रहा, लेकिन धीरे धीरे इनके तत्सम शब्दों के प्रयोग की रुचि बढ़ती गयी। निस्सन्देह यह प्रवृत्ति हिंदी बोलियों के उदय काल में उतनी प्रबल न थी जैसे जायसी में सूर की अपेक्षा तथा सूर में तुलसी की अपेक्षा तत्सम शब्दों के प्रयोग कम हैं। आगे चलकर आधुनिक युग

---

१ अपभ्रंश-काव्यत्रयी की संस्कृत भूमिका में उद्धृत

२ संस्कृतमपभ्रंशं ललितयालिगितं पठेत्—काव्य मीमांसा

में जब खड़ी हिंदी का उत्थान हुआ तत्सम शब्द आवेग से अधिक आ गये यहाँ तक कि अपभ्रंश में जिस प्रकार तत्सम शब्दों का बहिष्कार किया गया था, उसी प्रकार आधुनिक हिंदी में तद्भव शब्दों का बहिष्कार किया गया। कविता में कभी-कभी कोमलता के लिए कुछ एक तद्भव शब्दों का ग्रहण कर भी लिया जाता है, लेकिन गद्य में तो प्रायः उनसे बचने की ही कोशिश की जाती है।

हिंदी में इस निरन्तर तत्सम बहुलता के कारणों पर विचार करते हुए विद्वानों ने प्रायः एकमत होकर निर्णय किया है इसके मूल में पुनरुत्थान-भावना है। अपभ्रंश के बाद हिंदी का उदय भक्ति-आन्दोलन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और भक्ति आन्दोलन की प्रेरक शक्तियों में प्राचीन हिंदू शास्त्रों, पुराणों और काव्यों का बहुत बड़ा हाथ है। अपभ्रंश युग की लोक भावना ने प्राचीन शास्त्रों का सहारा पाते ही भक्ति आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इस पुनरुत्थान भावना के फलस्वरूप लोक जीवन तथा शिक्षित समुदाय में फिर से संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन श्रवण-मनन आदि का कार्य आरंभ हो गया। इससे तत्कालीन साहित्यिक भाषा में संस्कृत के तत्सम तथा अर्धतत्सम शब्दों का प्रचलित होना स्वाभाविक है। इस प्रथम सांस्कृतिक पुनरुत्थान में हिंदी में काफी संस्कृत शब्द आये, परंतु अनुपात की दृष्टि से तत्सम और तद्भव शब्द लगभग बराबर थे—अथवा तद्भव शब्द ही बीस पड़ते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने रहे-सहे तद्भव शब्दों को भी निकाल बाहर किया। कुछ लोगों की यह धारणा है कि खड़ी बोली के कारण ही हिंदी में तत्सम शब्दों की इतनी अधिकता हो गयी। लेकिन बात ऐसी नहीं है। तथाकथित 'दक्खिनी हिन्दी' की रचनाओं के शब्द-समूह का विश्लेषण करने से पता चलता है कि आरंभिक खड़ी बोली में भी तद्भव शब्दों का प्रयोग कम नहीं होता था।

अपछरी, अछरा (अप्सरा) कुजात (विघात), दुकाल (दुष्काल) धरती (धरित्री), घिउ (घृत) जिउ (जीव), नह (नख) पत (इज्जत) पहिराना (परिधान करना), उमस (ऊष्मा), उसास (उच्छ्वास) पायक (दूत, सेवक), पखना (प्रेक्षण), पाकट, बाट (वर्त्मन्), रसरी (रश्मि+डी) राकस (राक्षस), रैन (रजनी), उपासी (उपवासी), संघाती (संगी) आदि[१]।

इससे प्रकट होता है कि आरंभिक हिंदी (चाहे वह अवधी हो, या ब्रज अथवा खड़ी बोली) अपभ्रंश शब्द समूह पर स्थित होकर नयी परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण कर रही थी। यही कारण है कि एक ओर 'कीर्तिलता', 'वर्णरत्नाकर',

१ दे॰ डा॰ बाबूराम सक्सेना दक्खिनी हिंदी पृ॰ ७४-७५

'पद्मावत', 'रामचरित-मानस' आदि में संस्कृत शब्दों के साथ ही अरबी-फारसी शब्दों को भी ग्रहण किया गया, तो 'दक्खिनी हिंदी' में अरबी-फारसी के साथ ही संस्कृत शब्दों को भी सुरक्षित रखा गया। दक्खिनी हिंदी में—

अंग, अगन, अगड़, अधर, अचर, अम्बल, अन्तर, अपार, अवतार, आदि, आधार, अनन्त, उपकार, उपचार, आरम्भ, उत्तम, काच, काल, कना, कुच, कुन्तल, गगन, गन, गम्मार, मास, धन, छल, छुद, तुरग, दाना, दिक, धरित्री घना, धार, चतुर, दल, देह, नारी, पवन, वर, परमेश, पुरुष, वस्तु, भानु, मान, रामान्ति, बान्ध, सन्मुख, सूर, सेवक, हस्ति, तन, दार, दया, दिवाकर, समाग, स्नान, सम, संग्राम, सुरग आदि[1], संस्कृत शब्दों का प्रयोग अक्सर मिलता है। 'दक्खिनी हिंदी' में इन संस्कृत शब्दों के प्रयोग का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि जिन ग्रंथों में ये शब्द मिलते हैं वे उर्दू भाषा के बताए जाते हैं और जो कवि इनके प्रयोक्ता हैं वे मुसलमान हैं।

इस समता का कारण स्पष्ट है। तेरहवीं सदी का पुनरुत्थान (रेनसाँ) हिंदू और मुसलमान जातियों में अपनी अपनी परंपरा के अनुसार उत्पन्न और विकसित होने पर भी भावना की दृष्टि से एक था। सूफी मत ने इस्लाम की धार्मिक कट्टरता के आडंबर आदि अंध-रूढ़ियों के विरुद्ध वही कार्य किया जो भक्ति भावना ने हिंदू धर्म की रूढ़ियों के विरुद्ध किया। ऊपर से देखने पर दो तरह की प्रतीत होती हुई भी दोनों के भीतर काम करने वाली चेतना मूलतः एक ही थी, क्योंकि वह चेतना एक ही स्तर के सामान्य जन-समूह के असंतोष से पैदा हुई थी। भले ही कुछ सूफी शायर अपनी लाचारी के कारण अरबी-फारसी शब्दों के पुराने संस्कार से अपने को मुक्त न कर सके हों फिर भी उन्होंने सामान्य जनसमूह की बोली में लिखने की कोशिश की। 'दक्खिनी हिंदी' ऐसे ही मौलवी शायरों के परिश्रम से बनी। लेकिन जायसी, कुतुबन, मंझन जैसे जो ग्रामवासी सूफी संत थे और जिनके संस्कार अरबी-फारसी के उतने न थे जितने अपभ्रंश आदि के, उन्होंने स्वभावतः अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं किया। अवधी ऐसे ही संत कवियों के कंठ से फूटी।

इसी तरह भक्त कवियों में से जिनके संस्कार अधिक शास्त्रीय थे, वे विद्वानों की संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने में असमर्थ थे फिर भी उन्होंने संस्कृत में न लिखकर 'भाषा' में ही अपनी भावना भरी। उनके लिए इतना ही बहुत था। तुलसीदास, नन्ददास आदि की विशेषता ऐसी ही थी। इनमें भी तुलसी ने अपने को जो संस्कृत से बहुत कुछ मुक्त कर लिया, उसका मुख्य कारण उनकी अत्यधिक

१ दे० दक्खिनी हिंदी पृ० १२०

लोक-सम्पर्क ही समझना चाहिए। दूसरी ओर सूरदास ऐसे भावुक भक्तों के लिए जहाँ शास्त्रीय सीमाएँ न थीं, लोक बोली ने अपने वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन किया।

तात्पर्य यह है कि हिंदी बोलियों के उदय काल में जो संस्कृत और फ़ारसी तत्सम शब्दों के आगमन के बावजूद तद्भव शब्दों का जोर है, वह तेरहवीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लोकोन्मुखी प्रवृत्ति का प्रभाव है और उसमें जो संस्कृत और फारसी के तत्सम शब्दों का आगमन है, वह हिंदुत्व और इस्लाम के शास्त्रीय संस्कारों के पुनरुत्थान का परिणाम है।

इन द्विविध संस्कारों से प्रभावित शब्द समूह के स्थान में एक सामान्य शब्द-समूह और व्याकरण के आधार पर कतिपय प्रादेशिक भेदों के साथ साहित्यिक हिंदी का उदय हुआ। परंतु अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियों के अभाव में यह कार्य आज तक पूरा न हो सका। उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने जहाँ सबसे बड़ा काम यह किया कि खड़ी बोली को साहित्यिक हिंदी के रूप में प्रतिष्ठित करके प्रादेशिक बोलियों के भेद को दूर करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार की और दूसरी ओर उर्दू तथा हिंदी शैलियों के समीप आने का अवसर दिया, वहाँ दूसरी ओर उसमें निहित हिंदू और मुस्लिम पुनरुत्थान भावना ने दो भिन्न शब्द समूहों के द्वारा एक ही भाषा को दो शैलियों में विभाजित कर दिया। भावना में जहाँ तक एकता थी, भाषा का भी आधार एक था लेकिन भावना में जहाँ भेद उत्पन्न हुआ, भाषा के रूप में भी भेद आ गया। विदेशी अपमान के विरुद्ध जातीय सम्मान और प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध आधुनिकता का आकर्षण—ये दोनों बातें शहरों के पढ़े लिखे मध्यवर्ग में एक सी आयीं और इस मामले में भाव और भाषा से दोनों एक दूसरे के करीब आये। लेकिन जातीय गौरव की खोज में जब वे अपनी अतीत संपदा की ओर मुड़े तो अलग-अलग जा पड़े। इस तरह वे एक जगह से चलकर दो राहों में जा निकले। निःसंदेह विदेशी शक्तियों ने भी इस भेदभाव को बढ़ाने में मदद की।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अधिक से अधिक भाषा के शब्द-समूह में ही हेर फेर कर सकती हैं और हिंदी भाषा में इन दो पुनरुत्थानों ने अपने अपने ढंग से काम किया।

६२. इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर यहाँ हिंदी के तद्भव और देशी शब्द-समूह के चयन में अपभ्रंश के योग दान का लेखा उपस्थित किया जा रहा है। आरंभ में हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में आये हुए उन महत्त्वपूर्ण शब्दों की सूची दी जा रही है जो थोड़े से ध्वनि-परिवर्तन के साथ साहित्यिक हिंदी तथा

उसकी किसी बोली में मिलते हैं फिर 'देसी नाम माला' तथा अपभ्रंश की कुछ अन्य रचनाओं के कुछ देसी शब्दों की तालिका दी गई है, जो हिंदी बोलियों में आज भी प्रचलित हैं।

अच्छुरा	१।२०	अछुरा, अछुरी
अच्छुरिज्ज	१।५८	अचरज
अनु	४।४१५	अन्यथा
अन्धडी	४।८४५	अँतड़ी
अन्धलो	।१७३	आँधरो
असड्ढल	४।४२२	असड्ढल (अवधी)
आसीसा	२।१७४	असीस
उज्जाउगरा	१।१७१	उजागर
ओक्खल	१।१७१	ओखल, आखली
कसालो	२।६२	कसेरा
कुम्पल	१।२६, २।५२	कोंपल
कुम्भार	१।८	कुम्हार
काहएडी	१।१२४, २।७३	काहड़ा
खम्मा	१।१८७, ४।३६६	खम्मा
खाइ	४।४२४	खाइ
खाडि	४।४१६	खाट (दोष)
गड्डो	१।२५, २।३५	गड्ढा
गहिर	१।१ १	गभीर
गाई	१।१५८	(गौ)
घघल	४।४२२	भगड़ालू
घठा	२।१७४	(घुप)
घाउ	४।३४६	घाव (घात)
घुग्घिउ	४।४२३	घुड़की
घुएट	४।४२३	घूँट
चिहुर	१।१८६	(चिकुर)
चूडल्लउ	४।३६५, ४२०	चूड़िला
चोव्वारो	१।१७७	चौवारा (चतुर्वाङ्ग)
छुम्ल	४।४१२	छैल, छइल
छाणो	१।२६२	छौंना (शाव)

छाही	४।२४६	छाही, छाँह (छाया)
छिछि	४।१७८	छी छी
छुच्छ	२।२०४	छूँछा (तुच्छ)
झीण	२।३	झीना (क्षीण)
झुम्पडा	४।४१६, ४१८	झोंपड़ा
ठाउ	४।३५८	ठाँव (स्थानम्)
डाल	४।४४५	डाल (शाखा)
डोङ्गर	४।४२२	डूंगर (पहाड़)
डुंगर	४।४४५	,,
दोल्ला	४।३३०	(दुल्हा),
तिक्ख	४।८२	(तीक्ष्ण)
तिरिच्छ	४।४२४	(तिर्यक्)
तूर	२।६३	(तूर्य)
थू	२।२००	(कुत्साया निपात)
थूणा	१।१२२	थूनी (स्थूणा)
दाहिणे	१।४५	दक्षिण
दुवार	२।११२	द्वार
देउल	१।२७१	(देवकुल)
दोहला	१।२१७, २२१	(दोहद)
धणुहं	१।२२	धनुहा, धनुही (धनु)
नवखी	४।४२०, ४२२	नाखी (नवा)
नवल्ला	२।१६५	नवल (नव)
नाव	४।४२	(नौ)
निच्चट्ट	४।४२२	निचाट
पराइ	४।३५ , ३६७	(परकीया)
पहा	१।६	पह, पौ (प्रभा)
पाइक	२।१३८	(पायक पदाति)
पाओ	१।५	(पाद) पाँव
पिआस	४।४०४	(प्यास पिपासा)
बप्पडा	४।३८७	बापुरा
बेल्ल	१।८५	बेल (बिल्व)
भल्ला	४।३५१	भला (भद्र)

मउड	१।१०७	मौर (मुकुट)
मग्गगु	४।४ २	मगन (मार्गण)
मयगल	४।४०६	मेंगल (मदकल)
माउसिश्रा	२।१४२	मौसी (मातृसा)
मुग्गड़ा	४।४०६	मूग (मुद्गा)
मात्था	(१।१६६)	मोथा (मुस्ता)
रण्ण	१।६६	रन-वन (अरण्य)
रस्सी	१।३५	(रश्मि)
राउल	१।२६७	राउर (राजकुल)
रुक्ख	२।१६	रुख, रूख (वृक्ष)
रुसणा	४।४१८	रूसना (रोषयुक्त)
लज्जालुश्रा	२।१५६	(लज्जावता)
लट्ठा	१।२४७	लाठी (यष्टि)
लोश्रडा	४।४२४	लुगरी
लाग	१।१७७	(लोक)
वक्कल	२।७६	बोकला (वल्कल)
वक्खाय	२।६०	बखान (व्याख्यान)
वण	४।४०५	बनै (अवधी) (निश्चयाद्यार्थे निपात)
वाउल	१।१२१	(वातुल, व्याकुल)
विच्चि	४।३५०, ४२१ बाच (वत्मनि)	
विसाहिउ	४।३८६, ४११	बसाह (विसाधितम्)
विहाण	४।४३०	विहान
सकल	१।१८६	साँकल (शृङ्खला)
सधारा	१।२६४	(सहार)
सभा	१।६,	(सन्ध्या)
सलोणी	४।४२०	(सलावण्या)
सहरा	१।२३६	(शफरा)
सुक्क	२।५	(शुल्क)
साहिल्ला	२।१५६	साहिला (शामानान)
हरड्ड	१।६६	हरें
हलद्दा	१।८८	हल्दी (हरिद्रा)
हट	४।४४८	हठ (अघ)

६३ हेमचन्द्र की 'देसी नाम माला' में आये हुए व शब्द, जो थोड़े से ध्वनि परिवर्तन के साथ आज भी हिंदी बोलियों में मिलते हैं —

अग्घाणो,	१।१६	अघाना (तृप्त होना)
आइप्पण,	१।७८	ऐपन (तंदुलपिष्टक्षीरं गृहमण्डनमित्यन्य)
इंगाली	१।७६	इगारी, अगारी (इक्षुखण्ड)
उक्खली,	१।८८	आखली
उग्गाहिअं,	१।१०४	उगाहा (गृहीतम्)
उच्चाडा,	१।६७	उचटना
उज्जड,	१।६६	ऊजड़
उड्डिदा,	१।६८	उड़द
उड्डसो,	१।६६	उडस (खटमल)
उड्डास,	१।६८	उड्डास (उड्डास, संताप)
उप्पुण,	१।६२	उफनना (आपूर्णम्)
ऊमा,	१।८६	उमा (पक्वाधूम)
उल्ली,	१।८७	ऐल, अलाव (चूल्ह, चूल्हा)
उव्वरिअं,	१।१३२	उबरना उबरवा (अधिकम्)
उव्वाअ्रो,	१।१०२	ऊबना (तु० हेम० प्राकृत व्याकरण ८।४।२४)
ऊसत्था,	१।१४३	ऊबठ (जम्भित, मनहूस)
ओज्झरी,	१।१५७	ओझरी (अन्त्रावरणम्)
ओड्ढण,	१।१५५	ओढ़ना, ओढ़नी (उत्तरीयम्)
ओल्लरिअं,	१।१६३	ओलरना (सुप्तम्)
ओसणं,	१।१५५	ओसाना (उद्वेग जैसे, अनाज ओसाना)
ओसरिआ,	१।१६१	ओसारा (अलिन्द)
ओसा,	१।१६४	ओस
ओहट्टा,	१।१६६	ओहटना, (अपसृतम्)
ओहरणं	१।१७४	ओहरना (विनिपातम्)
कउलं,	२।७	कौड़ (करीषं । सच गोमय खण्ड तन्दूण च)
कट्टारी,	२।४	कटारी
कड्च्छू,	२।७	करछुल (दर्वी)
कतवार,	२।११	कतवार (तृणाद्युत्कर)
करिल्ल,	२।१०	करील (वंशाङ्कुर)
कलंबोडी,	२।६	कलोर (वत्सतरी)

कसर,	२।४	कसर गरियार (अधमवर्लीवर्द)
काहाग,	१।८७	कहार (परिचारा, जलादिवाहो कर्मकर)
कुडय,	२।६८	कुंडा (लघुभाण्ड)
कुलड,	२।६८	कुल्हड (,,)
काइला,	२।८६	कायला (काष्ठाङ्गार)
कोल्हुआ,	२।६५	कोल्हू (इक्षुनिपीडनयन्त्रम्)
कासय,	२।८७	कासा कासा (लघु शराव)
खग्गिरा,	२।७०	खड्गिक (सैनिक)
खड,	२।६७	खड़ (तृण)
खरका,	२।७१	खिड़का (लघुद्वारम्, वातायनम्)
खड्डु,	२।६६	खड्डु
खणुसा,	२।६२	खुनिस (क्रोध), गलत खुनिस न कबहूँ दावा— तुलसी, मानस।
खलहय,	२।७१	खाला खल्ला (रिक्तम्)
खल्ला,	२।६६	खाल (चर्म)
खवग्रा,	२।६७	} खवें (कान्ध)
खवा,	२।७७	
खाइग्रा,	२।७३	खाई (परिखा)
खिलणा,	२।७४	खेलर (खिलौना)
खुग	२।७४	खुगा (त्रुटितम्)
खुंपा,	२।७५	खोंपा (कश तृणादिमयं वृष्टिनिवारणम्)
गग्गरा,	२।८६	गगरा (जलपात्रम्)
गड्डुरा,	२।८८	गडरिया (भेड़ रखने वाला) गड्डुरिक
गड्डा,	२।८२	गाड़ा
गन्ना,	२।८१	गद (ढुग)
गड्डारा,	२।८२	गडरा (इक्षु-खण्डम्)
गवल,	२।८२	गव खद का गव
गुन्तलिग्र,	२।६२	गुन्तलक (सिंडाकृतम्)
गुत्ता,	२।१ १	गाँता (बन्धनम्)
गुन्दा,	२।१०१	गुन्दा (अधम)
गुम्मइग्रा,	२।१ ३	घुमाना
गोग्रला,	२।६८	ग्वाला, ग्वालिन (दुग्धविक्रियकर्त्री)

गोआलिआ,	२।९८	ग्वालिन (प्रावृषि कीटविशेष)
गोच्छा,	२।९५	गुच्छा
गोबर	२।९६	गोबर
गोहुरं,	२।९६	गोहरा, गोयठा
घग्घर	२।१०७	घघरा (जघनस्थ-वस्त्रभेद)
घट्टा,	२।१११	घाट (नदीतीर्थम्)
घम्मोइ,	२।१०६	घमोय (गण्डदूर्वासदृश तृणम्)
		तु० धेनुमूल सुत मण्डप घमोइ (तुलसी, मानस)
घरोली,	२।१०५	घरिला, घुरलो, घरिया (गृह-गोलिका)
चउक्क	३।२	चौक
चंग,	३।१	चंगा
चाउला,	३।८	चावल
चासो,	३।१	चास (हलस्फाटित भूमिरेखा)
चिक्का,	३।२१	चिक्का (ढेला)
चित्तल	३।४	चीतल (मण्डितम्)
चिल्लिरी,	३।२	चिल्लर (मशक विशेष जं)
चोट्टी,	३।१	चोटी (शिखा)
छइल्लो,	३।२४	छैल (विदग्ध)
छलिआ,	३।२४	छलिया (विदग्ध)
छल्ली,	३।२४	छाल, छिलका
छाछी,	३।२६	छाँछ (तक्रम)
छिछोली,	३।२६	छिछोल (लघुजल प्रवाह)
		तु० छुद्र पट छिछोल—ढाला०
छिण्णाला,	३।२६	छिनाल (जार)
जोण्णलिआ,	३।५	जोन्हरी (ज्वार, धान्यविशेष)
जोवारी,	३।५०	ज्वार (धान्यविशेष)
झंखरो,	३।५४	झंखड़ (शुष्कतरु)
झंखा,	३।५३	झंखना (पछताना)
झड़ी	३।५३	झड़ी (निरंतर, वृष्टि)
झटिअं,	३।५५	झोंटना (प्रहृतम्, हिलाना)
झंटी,	३।५३	झोंटा (लघूच्च केशा)
झलुसिअं,	३।५९	झुलसा (दग्धम्, फफोला)

झुलुसिअ	३।५६	झुलसना (दग्धन्)
झाडं	३।५[illegible]	झाड़ (लतागहनम्)
झिल्लिरिआ	२।६२	झिल्ला (झींगुर)
झुंठ	३।५८	झूठ
झुल्लरा	३।५८	झालर, झल्लरी (गुल्म)
झोलिआ	३।५६	झोला
टुंटा	४।२	टूँट (छिन्नकर)
ठल्लो	४।५	ठाला, निठल्ला (निधन)
डंडओ	४।८	पग-डंडी (रथ्या)
डला	४।७	डलो, डला, ढेला (लोष्ठ)
डल्ल	४।७	डलिया, डाली (पिटिका)
डाली	४।६	डाल डाली (शाखा)
डुंगरा	४।११	डूंगर (शैल)
डुंबा	४।११	डोम्ब, डोम (श्वपच)
डोला	४।११	डोला, डोली (शिविका)
ढकणा	४।१४	ढकना (पिधानिका)
ढेंका	४।१७	ढेंका, ढेंकुला (कूप-तुला)
तग्ग	५।१	ताग (सूत्रम्)
तडप्फडिअ	५।६	तड़फड़ाना
दोरा	५।३८	डोरा (सूत्रम्)
पत्तुड़ी	६।८	पत्तड़ी (पत्रम्)
पक्खरा	६।१०	पक्खर (तुरङ्ग संनाह)
पप्पाओ	६।१२	पपीहा
परिहण	६।२१	पहिरन (परिधानम्)
पावो	६।३८	पोवा (सर्प का बच्चा)
पड्डा	६।८०	पाँडा (भैंस का बच्चा)
पेंडारो	६।५८	पिंडारे, पिंडारा (डाकुओं का दल)
पोट्ट	६।६०	पोटरी, (पट)
		मु० माइ निहारे पोटरा, मेहरिया निहारे मोटरा।
फग्गू	६।८२	फाग, फगुआ (वसन्तोत्सव)
बइल्ल	६।६१	बैल
बप्पा	६।८८	बाप

बुक्का	६।९४	बुक [भर] (मुट्ठी भर)
बुलबुला	६।९५	बेड़ा (बुदबुद)
बेड्डो	६।९५	बेड़ा-(नौ)
बोक्कड्डो	६।९६	बकरा (छाग)
बोहारी	६।९७	बुहारी (झाड़)
बोहित्था	६।९६	बोहित (प्रवहयाम्
भउज्जा	६।१०३	भौजी, भौजाई, भावज (भ्रातृजाया)
मेली	६।११०	मेला (बेड़ा)
मक्कोड़ा	६।१४२	मकोड़ा (कीड़ा-मकोड़ा, मकड़ा)
मम्मी, मामी	६।११२	मामी (मातुलानी)
मल्हण	६।११६	मल्हना (लीला)
माउआ	६।१४७	माई (सखी)
माहुर	६।१३०	माहुर (शाकविशेष)
मोग्गरो	६।१३६	मोगरा (पुष्पविशेष)
राडी	७।४	रार (झगड़ा)
रोट्ट	७।११	रोट, रोटी
लसकं	७।१८	लसका, लासा (तरुक्षीरम्)
वट्ट	७।३१	बाट (पंथ, वर्त्म)
वड्डो	७।२६	बड़ा
वड्ढइओ	७।४४	बढ़ई
वड्ढयसालो	७।४६	बाँड (छिन्नपुच्छ)
ववणी	७।३२	बनौ, बिनौला, सन सुक्यो बीत्यो बनौ (महारा
वहोलो, वाहली	७।३८	बाहा, बहिया (लघु जल प्रवाह)
वाउल्लो	७।५६	बाउल, बावला (वातुल, प्रलपनशील)
वारिओ	७।४७	बारी, नाऊ-बारी (नापित)
विग्गोवा	७।६४	बिगोवा (व्याकुलभाव , बिगाड़ना)
विच्छोहो	७।६२	बिछोह (विरह, वियोग)
वो-झओ	७।८०	बोझ (भार)
सह-झो	८।१०	साझी (हिस्सेदार, प्रातिवेश्मिक)
साहणी	८।१७	साहनी (खेत निराना)
हरिआली	८।६४	हरियाली
हिल्लूरी	८।६७	हिलोर (लहरी, हिल्लोल)

६४ इनके अतिरिक्त अपभ्रंश काव्यों में प्रयुक्त कुछ अन्य तद्भव और देशी शब्दों की तालिका दी जा रही है जिनका प्रयोग किंचित ध्वनि-परिवर्तन के साथ हिंदी बोलियों में आज भी होता है।

अक्खाडय	(प० च० ४।११)	अखाड़ा
उत्तावलिय	(प० च० ३६।१५)	उतावला
उम्मेह	(प० च० २५।१४)	उमेठ
कक्कर	(प० च० २८।८)	कंकड़
कल्लुरिय	(प० च० ४४।१७)	कलवार
कल्लए	(प० च० २।१२)	(मागी) कल
कसेरु	(महा० १।८।१२)	कसेरु (तृणविशेष)
कुट्ट	(सं० रा० १७३)	कूटना (प्रहार)
कुंड	(महा० ४।३।७)	कुंड (जलद्रोणी)
कुंडवाल	(सं० रा० १७५)	कुंडल, कुंडली (वर्तुल)
खञ्च	(प० च० ।१२)	खींच
खाट	(शबरपा, चर्या० २८)	खाट (चारपाई)
खुरप्प	(महा० ११।१।६)	खुरपा<क्षुरप्र
खग्गिय	(प० च० २०।८)	भगना, भगाना
गिल्ल	(महा० २६।५।३)	गीला (आर्द्र)
गुज्झ	(प० च० १४।७)	गाभिया
घरवार	(प० च० ४।१२)	घर-द्वार
घल्लइ	(महा० ३।१६।१०, हम० ८।४।३३४)	घालना (फेंकना)
चक्खइ	(महा० २।१६।४)	चखना (आस्वाद लेना)
चडइ	(महा० २।१६।१)	चढ़ना
चडाविड	(महा० ३।१२।६)	चढ़ाना
चंगेडा	(कण्ह० चर्या १)	डलिया
चुणइ	(महा० १६।१३।२)	चुनना, चुगना
चेल्लु	(सरह, दोहा)	चेला (शिष्य)
चाज	(महा० ८।७।२१)	चाज (कौतुक, आश्चर्य)
छज्जइ	(महा० २।१४।३)	छाजे (राजते, शोभते)
छड्डइ	(महा० ७।१६।१५)	छाँड़ना, छाड़ना
छाहि	(प० च० २६।१३)	छाँह
छिवइ	(महा० ४।५।१३)	छूना

छिक	(महा० २६।४।२)	छींक
छोक्कर	(जस० पृ० ४)	छोकरा (लड़का)
जेंवइ	(महा० १८।७।११)	जेंव, जीमना (भुंक्ते)
जोक्खइ	(महा० ४।५।५)	जोख, (तोलयति)
झग्गड़	(सं० रा० १६२)	झगड़ (झंझा)
झडप्पइ	(महा ३०।४।६) झपट	
झडप्पण	(महा० २५।४।८) झड़प (ताड़न)	
झंपइ	(महा १।११।४, स०रा २६) झंप° (आच्छादयति)	
झीण	(सं० रा० १७१) झीना (क्षीण, सूक्ष्म)	
झुल्लइ	(महा० १४।५।१२) झूल° (कम्पते)	
झुपड़ा	(हेम० प्रा० व्या० ८।४।४१६) झोंपड़ा (कुटीर)	
झुम्बुक्क	(प० च० ५५।५)	झूमक
टक्कर	(महा० ३१।१६।४)	टक्कर
टाल	(प० च १२।२)	टालना
टोप्पी	(जस०, पृ० ६)	टोपी
डर	(स रा० १६३)	डर (भय)
डकिय	(महा० ३०।१२।८)	डक मारना
दड्ढस	(प० च० ४६।१७)	?ादस
ढलइ	(महा० ३१।१६।१२)	ढल (च्यवति)
ढलिय	(महा० ८।८।१२)	ढीला (स्रस्त)
ढकइ	(महा० ११।३।१०)	ढक° (आच्छादयति)
ढुक्कय	(स० रा १८६)	ढुक° (छिपना)
ढोय	(प च २।१६)	ढोना
ढोर	(प० च० २।७)	पशु
णत्थ	(प० च० ४७।१)	नथ
तांति	(कयह० चया० १०)	ताँत
तिम्मण	(प० च० ५०।११)	तीमन (भोजनविशेष)
तिया	(महा० ११५।४)	तिया (स्त्री)
तुरन्त	(प० च ४।३)	त्वर
ताद	(महा० २०।२३।१)	तोंद
थट्ट	(प० च० २।३)	समूह
थरहरिय	(सं० रा० ६६)	थरहरी (कम्प)

थाता (भुसुक० चया० २१) थाता (धरोहर)
थाह (प० च० २०।४)
दाव (प० च० ५३।१०) खेल का दाव
धधा (सरह० दोहा० १६) धंधा
धूरण (स० रा० १६३) धूना
परिखा (प० च० २६।१) परिखा
पइसार (प० च० ७।४) प्रवेश
पणाल (प० च० १६।१०) पनाला
पम्मड (प० च० ५०।११) पामड़
पायाल (प० च० १२।८) पायल
पागल (शबर० चया० २८)
पुट्टि (प० च० ५।१६) पुट्ठा
पुञ्छिय (सं० रा० ७८) पोंछना
पेल्लिय (महा० १।१२।५) पल (प्रेरित)
पोट्टल (महा० २०।१०।१२) पोटला
फिर (स० रा० १६८) फिरना (वापस आना)
फुर (स० रा० १२२) फुर (सत्य)
फुल्ल० (स० रा० १६३) फूल फूलना
बहुडि (भाग० ६०) बहुरना (लौटना,लौगाना)
बापुडी (कण्ह० चया १०) बापुरा (बचारी)
बुड्डर (महा० २३।१२।११) बूड़र, डूब
बोहित्थ (महा० १७।४।४) बोहित (नौ)
माड (सं० रा० ६०) माड़ (संमद)
मेट्ट (प० च० ४६।४) मेंट
भुक्कर (महा० १।८।७) भूँकना (भुक्कर)
माल (महा० २।२।७) माला, माला
मच्छर (स० रा० १४६) मच्छर (मशक)
मनाव (स० रा० ७१) मना० (मनाना)
मेलअ (महा० ३२।३।८) मेला
महली (प० च० ७८।७) महरी (पत्नी)
मोड (स० रा० २५) मोड़ना
रसोइ (प० च० १७।१) रसोइ

रंडी	(महा० १७।८।१०, सरह० दोहा ५)	रंडी (वेश्या)
रंगइ	(महा० ४।१।११)	रँगइ (जानुभ्यां चलति)
रिल्ल	(सं० रा० १६२)	रेला (जलप्रवाह)
रेल्ल	(महा० १४।१०।१)	रेला
रोक्क	(प० च० १७।६)	रोक
रोग	(प० च० २८।६)	रोग
लक्क	(सं० रा० २४)	लक (कटि)
लड्डु	(प० च० ५०।११)	लड्डू
लुक्क	(महा० ६।१४।३२, हेम० ८।४।४०१)	लुकना (छिपना)
विसूरइ	(महा० १४।५।१०, हेम० प्रा० ८।४।१३६)	विसूरना (खेद करना)
सारिय	(प० च० ३८।१८)	सारी, क्रम
साडी	(महा० १२।५।२)	साड़ी (स्त्री-वस्त्र)
सालण	(प० च० ५०।११)	सालन (पक्व मांस)
सासु-नणंद	(कण्ह चर्या० ११)	
साहार	(प० च० ६।११)	सहारा
साहुक्कार	(प० च० २।१७)	साहुकार
सिप्पि	(महा० ४।६।११)	सीपी, सीप (शुक्ति)
सुहाली	(नेमि० चौपई २४)	सोहारी (पूड़ी)
सुज्झ	(प० च० ८।२)	सूझ
सोहल	(प० च० ३३।१)	सोहर (उत्सव)
हट्ट	(महा० १।१६।१)	हाट
हल्लइ	(महा० १४।५।१२)	हिलना (कम्प०)
हाँडी	(तंतिपा, चर्या० ३३)	हाँडी (भाण्ड)
हुड्ड	(चर्चरी २२)	हुड्ड
होहल्लर	(महा ४।४।१४)	हाहल्ला (सामूहिक शोर)

द्वितीय खण्ड : साहित्य

अपभ्रंश-साहित्य

अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का पहला संग्रह 'माटेरियालिएन त्सुर कैंटनिस डेस अपभ्रंश' जिसे आज से लगभग पचास साल पहले १९०२ ई० में जर्मन विद्वान पिशेल ने अपभ्रंश के अध्ययन की सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया था। इस सामग्री को पिशेल ने अपने 'ग्रामेटिक डेर प्राकृत स्प्राखेन' का परिशिष्ट कहा था। इसमें हेमचन्द्र प्राकृत-व्याकरण के सभी अपभ्रंश छंदों के अतिरिक्त पैंतीस पद्य और हैं। उन पैंतीस पद्यों में से पहला चंड के प्राकृत व्याकरण से उद्धृत यह दोहा है

> कालु लहेविणु जोइया, जिवँ जिवँ मोहु गलेइ।
> तिवँ तिव दसणु लहइ जो णियमें अप्पु मुणेइ॥

दूसरा दोहा 'ध्वन्यालोक' में इस प्रकार उद्धृत है—

> महु महु त्ति भणन्तअहो वज्जइ काल जणस्सु।
> तो वि ण देउ जणद्दणओ गोअरिहोइ मणस्सु॥

इसके बाद क्रमशः 'सरस्वती कण्ठाभरण' के अठारह और विक्रमोर्वशीय के पन्द्रह छंद और हैं। पूरी सामग्री व्याकरणिक टिप्पणी तथा किंचित् व्याख्या के साथ प्रस्तुत की गयी है। विचार करने से इस संग्रह में कुछ ऐसे पद्य भी मिल सकते हैं, विशेषतः 'सरस्वती कण्ठाभरण' के जिनकी भाषा अपभ्रंश न हो फिर भी इस संग्रह का ऐतिहासिक महत्त्व है। भारतीय और यूरोपीय विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश की ओर आकृष्ट करने वाला यह पहला अपभ्रंश संग्रह है। इसने अपभ्रंश-साहित्य की खोज के लिए विद्वानों को प्रेरित किया। इस दिशा में जर्मनी के ही दूसरे विद्वान याकोबी ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यह है धनपाल का 'भविसयत्त कहा' का सपादन (१९१८ ई०)। अपभ्रंश का यह पहला प्रबंध काव्य है, जिसने विद्वानों के सामने अपभ्रंश साहित्य के सौन्दर्य और गौरव की स्थापना की। पूर्ववर्ती बिखरी सामग्रियों की राशि पर 'भविसयत्तकहा' का प्रकाशन सुमेरु शिखर के समान प्रतीत हुआ। आगे चल कर श्री चमनलाल डाह्याभाई दलाल ने इस ग्रंथ की अन्य पाण्डुलिपियों को ढूँढ़कर एक दूसरे संस्करण के संपादन का कार्य आरंभ किया, जिसे

अपभ्रंश साहित्य की सामग्री

उनके असमय देहावसान के बाद डा० पांडुरंग गुणे ने १९२१ ई० में सम्पन्न किया।

श्री दलाल ने 'भविसयत्तकहा' के संपादन के अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया, वह है 'पाटण पुस्तक भंडार' में पड़े हुए अनेक अपभ्रंश ग्रंथों का परिचय प्रकाशित करना। उन्होंने बड़ौदा के 'लाइब्रेरी मिसेलेनी' में 'पाटणाना भंडारा अने खास करीने तेमा रहेलु अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती साहित्य' शीर्षक विस्तृत निबंध के द्वारा सन्देश रासक, वज्रस्वामि रास, अंतरंगसंधि, चउरंगसंधि सुलसाख्यान, चच्चरी, भावनासार, परमात्म प्रकाश, आराधना, मयणरेहासंधि, नमयासुंदरिसंधि, भविसयत्त कहा, पउम सिरि चरिउ इत्यादि ७५-८० अपभ्रंश ग्रंथों का परिचय दिया।

पश्चात् जैन पुस्तक भंडारों तथा अन्य संग्रहों में अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का खोज कार्य शुरू हुआ। इस दिशा में श्री दलाल के बाद श्री जिन विजय मुनि का कार्य विशेष महत्वपूर्ण है। 'भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट' में प्राकृत नाम से घोषित पुष्पदंत के 'महापुराण' तथा स्वयंभू के 'पउम चरिउ' और 'हरिवंश पुराण' के उद्धार का श्रेय मुनि जी को ही है। मुनि जी ने अपभ्रंश पुस्तकों की खोज के अतिरिक्त उनके संपादन और प्रकाशन में भी बहुत बड़ा काम किया है।

दूसरी ओर प्रो० हीरालाल जैन ने 'कारंजा जैन भंडार' की छान-बीन करके जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, करकंड चरिउ, पाहुड दोहा, सावयधम्मदोहा आदि अपभ्रंश काव्यों को प्रकाश में लाने का काय किया।

इन विद्वानों के शोध-काय के अतिरिक्त प्राप्त सामग्री के सम्पादन में डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य और डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने महत्वपूर्ण काम किया है।

पश्चिमी अपभ्रंश-साहित्य की सामग्री के अतिरिक्त पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने वालों में म० म० हर प्रसाद शास्त्री का नाम अग्रणी है। 'बौद्ध गान ओ दोहा' (१९१६ ई०) इस तरह का पहला संग्रह-ग्रंथ है। पीछे महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस दिशा में महत्वपूर्ण खोज का काम किया। पूर्वी अपभ्रंश साहित्य के संपादन में डा० शहीदुल्ला और डा० प्रबोधचंद्र बागची का नाम उल्लेखनीय है।

अब तक अपभ्रंश की प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री इस मात्रा में ज्ञात हो चुकी है कि किसी भी बात में अपभ्रंश-साहित्य को सामान्य और महत्व हीन नहीं कहा जा सकता। यहाँ अपभ्रंश-साहित्य की ज्ञात पुस्तकों की सूची

अकारादिक्रम से दी जा रही है

१	अंजना सुंदरी कथा	
२	अनन्तव्रत कथानक	
३	अनाथ संधि	जिनप्रभ सूरि
४	अंतरंग रास	"
५	अंतरंग विवाह	"
६	अंतरंग संधि	रत्नप्रभ सूरि (सं० १२६२ वि०)
७	अमरसेन चरित	माणिक्कराज
८	आत्मसंबोधन कुलक	जिनप्रभ सूरि
९	आदिनाथ फाग	पुष्पदंत
१०	आदिपुराण (मेघेश्वर चरित)	सिंहसेन (रइधू)
११	आराधना सार	वीर
११	उपदेश कुलक	देवसूरि
१३	ऋषभ जिन स्तुति	
१४	कथाकोश	श्रीचन्द्र (९४१-९९६ ई०)
*१५	करकंड चरिउ	कनकामर मुनि
१६	करकंड चरिउ	रइधू
*१७	कलास्वरूप कुलक	जिनदत्त सूरि
*१८	कालिकाचार्य कथा (अत्थि इहेव जम्बू)	अंशत अपभ्रंश आउन द्वारा संपादित।
*१९	कुमारपाल प्रतिबोध	सोमप्रभ सूरि (१२४१ वि०) अंशत अपभ्रंश
*२०	कुवलयमाला कहा	उद्योतन सूरि (सं० ८३५ वि०) अंशत अपभ्रंश
२१	चन्द्रप्रभ चरित	यशःकीर्ति
२२	चन्द्रप्रभ चरित	दामोदर
*२३	चर्चरी	जिनदत्त सूरि
२४	चर्चरी	सोलण
२५	चर्चरी	जिनप्रभ सूरि
२६	चैत्यपरिपाटी	"
२७	जम्बू चरित्र	(सं० १२९९ वि०)

२८	जम्बूस्वामि चरित्र	वीर
२९	जम्बूस्वामि चरित्र	सागरदत्त (सं० १०६० वि०)
३०	जम्बूस्वामि रासा	धर्मसूरि (१२६६ वि०)
३१	जयकुमार चरित्र	ब्रह्मदेव सेन
३२	जयकुमार चरित्र	रइधू
३३	जयतिहुअण	अभयदेव सूरि (१११६ वि०)
३४	जिनजन्म मह	जिनप्रभ सूरि
३५	जिनदत्त चरित्र	रइधू
३६	जिन महिमा	जिनप्रभ सूरि
३७	जिन रत्ति कथा	नरसेन
३८.	जीवानुशास्ति संधि	नरसेन
*३९	त्रिषष्ठि-महापुरुष-गुणालंकार (महापुराण)	पुष्पदन्त
४०	दव्हड	
४१	दश लक्षण जयमाला	सिंहसेन (रइधू)
४२	दानादि कुलक	प्रद्युम्न
*४३	दोहाकोश	सरह
४४	दोहानुप्रेक्षा	लक्ष्मीचन्द्र
*४५	दोहा कोश	काण्ह
*४६	दोहा पाहुड़	रामसिंह
४७	दोहा मातृका	
४८.	धर्मसूरि स्तुति	
४९	धर्माधर्म कुलक	जिनप्रभ सूरि
५०	धर्माधर्म विचार	,,
५१	नवकार फल कुलक	
*५२	नागकुमार चरिउ	पुष्पदंत
५३	नागकुमार चरित	माणिक्क राज
५४	निर्दोष सप्तमी कथा	
५५	नेमिनाथ जन्माभिषेक	जिनप्रभ सूरि
५६	नेमिनाथ चउपई	विनयचन्द्र सूरि (१२५७ वि०)
५७	नेमिनाथ चरिउ	हरिभद्र सूरि (८ वीं से १२ वीं शता[ब्दी] के बीच किसी समय)

५८	नेमिनाथ चरित	दामोदर
५९	नेमिनाथ चरित	लक्ष्मण देव
६०	नेमिनाथ फाग	राजशेखर सूरि (१३७१ वि०)
६१	नेमिनाथ रास	जिनप्रभ सूरि
*६२	पद्म चरित्र (पउम चरिउ)	स्वयम्भू और त्रिभुवन
*६३	पद्मश्री चरित्र	धाहिल (११९१ वि०)
६४	पद्म पुराण	रइधू
*६५	परमात्म प्रकाश	योगीन्द्र
६६	पाण्डव पुराण	यश कीर्ति
६७	पार्श्वनाथ चरित्र	विनयचन्द्र सूरि
६८	पार्श्वनाथ जन्माभिषेक	जिनप्रभ सूरि
६९	पार्श्वनाथ पुराण	रइधू
७०	पार्श्वनाथ पुराण	पद्म कीर्ति
७१	पुराण-सार	श्रीचन्द्र मुनि
७२	प्रत्येक बुद्ध चरित्र	
७३	प्रद्युम्न चरित्र	रइधू
७४	प्रबन्ध चिंतामणि (अशतः अपभ्रंश)—मरुतुग (१३६१ वि०)	
७५	वृद्ध नवकार	जिनवल्लभ सूरि
७६	बलभद्र चरित	रइधू
७७	बारह खड़ी दोहा	महाचन्द
*७८	बाहुबलि रास	शालिभद्र सूरि
*७९	भविसयत्त कहा	धनपाल
८	भव्य कुटुम्ब	जिनप्रभ सूरि
८१	भव्य चरित्र	”
८२	भावनाकुलक	”
*८३	भावनासंधि	जयदेव (१६०६ वि०)
८४	भावनासार	
८५	मदन रेखा चरित	(स० १२९७ वि०)
८६	मलयसूरि-स्तुति	
८७	मल्लिनाथ चरित	जिनप्रभ सूरि
८८	महावीर चरित्र	जिनेश्वर सूरि का कोई शिष्य ।
८९	महावीर चरित	

६०	महावीर स्तोत्र	
६१	मुक्तावलि विधान कथा	
६२	मुनिचन्द्र सूर-स्तुति	देवसूरि
६३	मुनि सुव्रत स्वामि-स्तोत्र	जिनप्रभ सूरि
६४	मृगपुत्र महर्षि चरित	(मृगपुत्र संधि)
६५	मेघेश्वर चरित	रइधू
६६	मोहराज विजय	जिनप्रभ सूरि
*६७	यशोधर-चरित्र (जसहर चरिउ)—पुष्पदत	
६८	युगादिजिन-चरित्र कुलक	जिनप्रभ सूरि
*६६	योगसार	योगीन्दु
१००	योगसार	श्रुतिकीर्ति
१०१	रोहिणी विधान कथा	देवनन्दी
१०२	लघु अजित शान्तिस्तव	वीरगणि
१०३	वज्र स्वामि चरित्र	
१०४	वज्र स्वामि चरित्र	जिनप्रभ सूरि (स० १३१६ वि०
१०५.	वधमान काव्य	(श्रेणिक चरित्र)— जयमित्र
१०६	वर्धमान चरित्र	रइधू
१०७	वरांग चरित्र	तेजपाल
१०८.	विलासवती कथा	सिद्धसेन सूरि
१०६	विवेक कुलक	जिनप्रभ सूरि
११०	वीरजिन पारणक	वधमान सूरि
१११	शान्तिनाथ चरित	शुभकीर्ति
*११२	शालिभद्रकक्का	पद्म
११३	शालिभद्रमातृका	
११४	शीलसंधि	ईश्वरगणि
*११५.	श्रावकधर्म दोहा	देवसेन
११६	श्रावक विधि	जिनप्रभ सूरि
११७	श्रावकाचार	देवसेन
११८.	श्रीपाल चरित्र	नरसेन
११६	श्रीपाल चरित्र	रइधू
१२०	षट्कमोपदेश	अमरकीर्ति (१२७४ वि)
*१२१	संयममंजरी	महेश्वर सूरि

*१२२	संघपति समारा रास	अंबदेव सूरि
१२३	संभवनाथ चरित	तेजपाल
१२४	सर्वेसमातृका	
*१२५.	संदेश रासक	अब्दुल रहमान
१२६	सन्मति जिन चरित	रइधू
१२७	सकुमाल स्वामि चरित	पुष्पभद्र (पूर्णभद्र)
१२८.	सुकुमाल चरित	श्रीधर
१२९.	सुगंध दशमी कथा	
१३०	सुदर्शन चरित्र	नयनंदिन (११०० वि०)
१३१	सुभद्रा चरित्र	अभयगणि (सं० ११६१ वि)
१३२	सुभाषित कुलक	जिनभद्र
*१३३	स्थूलभद्र फाग	जिनपद्म सूरि (१२५७ वि०)
१३४	हरिवंश पुराण	स्वयंभू, और त्रिभुवन।
१३५.	हरिवंश पुराण	रइधू
१३६	हरिवंश पुराण	श्रुतिकीर्ति
*१३७	सिद्धहेम श ब्दानुशासन (संकलित अपभ्रंश छंद)—हेमचन्द्र	
१३८	ज्ञान प्रकाश कुलक जिनप्रभ सूरि।[1]	

यद्यपि उपर्युक्त ग्रंथ-सूची पूर्ण नहीं है, फिर भी उससे अपभ्रंश-साहित्य की व्याप्ति का कुछ आभास हो सकता है। इसमें संधि, कुलक, चउपई, आराधना, रास, चाँचर, फाग, स्तुति, स्तोत्र, कथा, चरित, पुराण आदि प्रकार के काव्यों में मानव जीवन और जगत् की अनेक भावनाओं और विचारों की धारा मिलती है। यदि एक ओर इसमें जैन मुनियों के चिंतन का चिंतामणि है, तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है यदि एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोक जीवन से उत्पन्न होने वाले ऐहिक रस का रागरंजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका पुरुषों के उदात्त जीवन चरित से सम्पन्न है, तो सामान्य वणिक पुत्रों के दुःख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है। तीर्थंकरों की भावाच्छादित स्तुतियों, अनुभव भरी सूक्तियों, रहस्यमयी अनुभूतियों, वैभव विलास की झाँकियों आदि के साथ ही उन्मुक्त वन्य जीवन की शौर्य स्नेह सिक्त

१ यह सूची मुख्यतः प्रो० हरि दामोदर वेलणकर द्वारा सम्पादित 'जिन रत्न कोश (खंड १) १९४४ ई० से तैयार की गयी है। विशेष विवरण के लिए उक्त कोश देखना उचित होगा। कुछ पुस्तकों के नाम अनेकान्त से भी जोड़ गये हैं। तारकांकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

गाथाओं के विविध चित्रों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है। स्वयंभू जैसे महाकवि के हाथों इसका बीजारोपण हुआ। पुष्पदंत, धनपाल, हरिभद्र, जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, जिनपद्म, विनयचन्द्र, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुल रहमान, सरह और कण्ह जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया और अंतिम दिनों में भी इस साहित्य को यश:कीर्ति और रइधू जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले महाकवियों का संबल प्राप्त हुआ। ऐसे महाकवियों और इतने महाकाव्यों तथा गीतकाव्यों के इस साहित्य का, जो आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक सुदूर दक्षिण को छोड़कर शेष संपूर्ण भारतवर्ष के सामान्य लोक तथा शिक्षित मंडली के हृदय की धात्री था, भारतीय साहित्य में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है—यह सहज ही अनुमेय है।

अस्तु, एक-एक करके अपभ्रंश साहित्य के विभिन्न अंगों का अध्ययन करना चाहिए।

पुराण-साहित्य

ब्राह्मणों की तरह जैनों का भी अपना पुराण साहित्य है। सामान्यतः दिगंबर जैनों के धार्मिक साहित्य के चार भाग किये जाते हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में तीर्थंकर आदि पुरुषोत्तमों का चरित्र-वर्णन किया जाता है और यही महापुराण है। इस तरह महापुराण अथवा पुराण-साहित्य दिगंबर मत के इसी प्रथमानुयोग की एक शाखा है जिसमें तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों आदि तिरसठ शलाका पुरुषों के जन्म-जन्मान्तर की जीवन गाथाओं को लेकर विशाल साहित्य की सृष्टि की गयी है। भारतीय साहित्य में पौराणिक रचनाओं का एक विशेष युग दिखायी पड़ता है जब ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी मत वाले अपने अपने ढंग से बहुत बड़े पैमाने पर पुराणों की रचनाएँ करते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि सामान्य जन-समूह तक शास्त्र और आगमों की विचारधारा को लोक प्रिय तथा बोधगम्य ढंग से पहुँचाने के लिए पुराण-साहित्य का आविर्भाव हुआ। कहीं कहीं इन ब्राह्मण, बौद्ध और जैन पुराणों में एक ही तथा एक-से ही महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ मिलती हैं, फिर भी उनके अपने अपने धार्मिक आग्रहों ने उन गाथाओं में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर डाला है।

जैनों ने अपने पुराण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में लिखे हैं। तीर्थंकरों में ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर के जीवन को

लेकर अपभ्रंश में काफी रचनाएं की गयी हैं। चक्रवर्तियों में भी यशोधर, नागकुमार, करकंडु आदि राजाओं पर कई काव्य लिखे गये हैं। इन सबके अतिरिक्त राम कथा और कृष्ण कथा को भी जैन कवियों ने अपने ढंग से भाषा-बद्ध किया है। पौराणिक गाथाओं की जानकारी के लिए अपभ्रंश में सबसे बड़ा ग्रंथ पुष्पदंत का महापुराण अथवा तिसठि महापुरिस-गुणालंकार है जिसमें २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ६ बलदेवों, ६ नारायणों और ६ प्रतिनारायणों का जीवन चरित काव्यात्मक ढंग से वर्णित किया गया है। महापुराण दो भागों में विभाजित है आदिपुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का विस्तृत जीवन चरित ८० संधियों में वर्णित है और उत्तरपुराण में शेष २३ तीर्थंकरों तथा उनके समकालीन पुरुषों का जीवन-चरित ४२ संधियों में लिखा गया है। उत्तरपुराण का ही एक अंश हरिवंश पुराण है जिसमें कृष्ण की कथा दी हुई है इसके अतिरिक्त राम कथा भी उत्तरपुराण का ही एक अंग है। जैनों द्वारा लिखे हुए अपभ्रंश के पुराण-साहित्य में हिंदी-साहित्य की दृष्टि से रामकाव्य और कृष्ण-काव्य का परिचय विशेष महत्त्वपूर्ण है।

रामकाव्य स्वयंभू

अपभ्रंश में राम काव्य के प्रथम कवि स्वयंभू (८वीं शताब्दी ईस्वी) हैं और यही अपभ्रंश के वाल्मीकि भी हैं। स्वयंभू उत्तर के रहने वाले थे, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ दिनों के बाद ये अपने संरक्षक रयडा धनंजय के साथ दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में चले गये। स्वयंभू को काव्य और पाण्डित्य उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। उनके पिता मारुतिदेव भी, उन्हीं के शब्दों में कवि थे। स्वयंभू के व्यक्तिगत जीवन के विषय में केवल इतना ही मालूम हो सका है कि वे जैन मुनि नहीं बल्कि उपासक-मात्र थे स्वयं उन्हीं के अनुसार उनके दो पत्नियाँ थीं। काव्य-कला में दक्ष होने के साथ ही स्वयंभू छंद शास्त्र और व्याकरण में भी निष्णात थे। उनके लिखे हुए चार ग्रंथ बताये जाते हैं।

१ पउम चरिउ (पद्म चरित अथवा रामचरित)
२ रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित या हरिवंश पुराण)
३ पंचमि चरिउ (नागकुमार चरित)
४ स्वयंभू छंद

इन चारों ग्रंथों में जिसके लिए स्वयंभू की ख्याति है, वह है उनका प्रथम काव्य 'पउम चरिउ'[1] अथवा रामायण। पाँच काण्ड और तिरासी संधियों वाला

---

१ श्री मधुसूदन मोदी ने (अपभ्रंश पाठावली पृ०) स्वयंभू को चतुर्मुख

यह विशाल महाकाव्य अपभ्रंश का आदि काव्य है। अपनी 'रामायण' के काण्डों का विभाजन करते समय वाल्मीकि को सामने रखते हुए भी स्वयम्भू ने अपनी रुचि से थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया है जैसे पहले काण्ड का नाम उन्होंने 'बाल काण्ड' न रखकर विद्याधर काण्ड' रखा है और अरण्य तथा किष्किंधा काण्ड को एकदम निकाल दिया है शेष काण्डों के नाम वाल्मीकिवत् हैं। स्वयम्भू की रामायण में रामचरित का वास्तविक आरम्भ अयोध्या काण्ड से होता है।

अपने महाकाव्य का आरंभ स्वयंभू ने बड़ी ही उदात्त भूमिका के साथ किया है जिसमें कवि के नम्र आत्म निवेदन के बावजूद उसके अडिग आत्म विश्वास का आभास मिलता है। काव्यारम्भ की पुरानी परंपरा का पालन करते हुए आरंभ में स्वयम्भू ने पंडितों से निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि कोई दूसरा न होगा न तो मैं कुछ व्याकरण जानता हूँ और न वृत्ति-सूत्र का व्याख्यान ही कर सकता हूँ न मैंने पाँचों महाकाव्यों को सुना है और न पिंगल प्रस्तार आदि छंद-लक्षण ही जानता हूँ भामह दंडी के अलंकारशास्त्र से भी मैं परिचित नहीं हूँ फिर भी मैं काव्य रचना का व्यवसाय छोड़ने में असमर्थ हूँ।'

लेकिन यह नम्रता कोरी नम्रता अथवा परंपरा-पालन नहीं है। यह सारा कथन उस निर्भीक घोषणा की पृष्ठभूमि है, जिसमें कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं जिन लोगों के लिए अपने काव्य की रचना कर रहा हूँ, उनके लिए इतना पंडिताई की ज़रूरत नहीं है।

कवि की विशेषता तो देखिये—

> सामण्ण भास छुडु मा विहडउ।
> छुडु आगम जुत्ति किंपि घडउ॥
> छुडु होंति सुहासिय-वयणाइं।
> गामेल्ल भास परिहरणाइं॥

यह 'सामान्य भाषा' को छोड़ने में असमर्थ है 'गामेल्ल भास' का त्याग कर कुछ आगम-युक्ति गढ़ने में उसे उत्साह नहीं है—और इस आगम-युक्ति गढ़ने में भी कितना व्यंग है। स्वयम्भू खेद के साथ कहते हैं कि यदि कोई सज्जन मेरे इस अबुद्धि प्रदर्शन पर रोष प्रकट करे तो उस खल को 'हत्थुत्थल्लिउ' लेने के सिवा और क्या रास्ता है! कितना सीधा है यह बाँकपन!

स्वयम्भू लिखा है लेकिन प्रेमी जी (जैन सा० इति० पृ० ३७० ७१) वेलणकर (स्व० छं० भूमिका पृ ७१-७४ रा० ए० सो० ज० बम्बई—जिल्द २ १९३५) और हीरालाल जैन ने (नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल दिस० ३५) सप्रमाण चतुर्मुख और स्वयम्भू को दो भिन्न भिन्न कवि बतलाया है।

स्वयम्भू को अपनी रचना साधारण लोगों तक पहुँचानी है और इसके लिए आवश्यक है साधारण लोगों की भाषा का माध्यम। इस महान उद्देश्य के लिए वे सारा व्याकरण, अलंकार-शास्त्र और पिंगलशास्त्र निछावर करने के लिए तैयार हैं। महान उद्देश्य ही कवि को जबरदस्त आत्म-विश्वास देता है। लोक सुख में ही स्वयम्भू को आत्म-सुख है और इसी आत्म-सुख के लिए उन्होंने अपनी 'रामायण' रची—'पुणु अप्पणउ पायडीन रामायण कावें।'

रामकथा कहते समय स्वयम्भू के सामने सदैव यही उद्देश्य रहा। राम के रूप में उन्होंने न तो किसी महान आदर्श चरित्र की सृष्टि की और न उसमें अलौकिकता का कोई इन्द्रजाल खड़ा किया। राम के रूप में उन्होंने किसी राजा के सुख वैभव का लालच वर्णन करने में भी अपनी शक्ति नहीं लगाई। राम के यथार्थ मानव चरित्र का इस जैन कवि ने जैसा अनुभव किया, वैसा बिना किसी लाग लपट के सामने रख दिया न राम के दोषों पर पर्दा डालना और न गुणों को अत्यधिक उजागर करना। स्वयम्भू के राम वाल्मीकि के राम की ही तरह अपनी सम्पूर्ण मानवीय दुर्बलताओं और मानवीय शक्ति के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। एक ओर यदि वे दैवी विपत्तियों के विरुद्ध पौरुष के प्रतिमान हैं तो दूसरी ओर शक्तिहत लक्ष्मण के मुमूर्ष शरीर पर असहाय साधारण आदमी की तरह बिलखने वाले करुणा विगलित नवनीत हैं। यदि वे कर्म फल की सीमा में निरंतर कायरत रहने वाले कर्मवीर हैं, तो कर्म शृङ्खला के बंधन में कराहते हुए जीवन-सन्ध्या बिताने वाले निवार्योन्मुख पथिक भी हैं जो नारी के वियोग में सम्पूर्ण सृष्टि को अपने आँसुओं से गीला कर देता है और समुद्र पार करके रावण जैसे दुर्दमनीय राजा से संघर्ष करता है, वही पुरुष उस नारी के शरण में आने पर उसके सतीत्व का उपहास करता है और निष्करुण भाव से उसे अग्नि को सौंप देता है।

स्वयम्भू ने राम के चरित्र और व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों का बड़ा ही ओजस्वी चित्रण किया है।

नारी के प्रति पुरुष-मात्र का दृष्टिकोण उस युग में (और आज भी) कैसा था यह 'अग्नि परीक्षा' वाले प्रसंग में राम के व्यवहार द्वारा स्वयंभू ने भली भाँति प्रकट कर दिया है। पुष्पकविमान पर चढ़ाकर सीता कोशल नगरी में लाई जाती हैं। उनके शुभागमन का एक ओर भव्य वातावरण और दूसरी ओर उस वातावरण में राम का ओछा व्यवहार! इस विरोध के द्वारा स्वयम्भू ने प्रसंग को अत्यंत मार्मिक और प्रभावशाली बना दिया है। यह है सीता के शुभागमन का वातावरण—

पुप्फ विमाणे चडिय अणुराएं
परिमिय वि-ज्जाहर-सघाएं

यह विशाल महाकाव्य अपभ्रंश का आदि काव्य है। अपनी 'रामायण' के काण्डों का विभाजन करते समय वाल्मीकि को सामने रखते हुए भी स्वयंभू ने अपनी रुचि से थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया है जैसे पहले काण्ड का नाम उन्होंने 'बाल काण्ड' न रखकर 'विद्याधर काण्ड' रखा है और अरण्य तथा किष्किंधा कांड को एकदम निकाल दिया है शेष काण्डों के नाम वाल्मीकिवत् हैं। स्वयंभू की रामायण में रामचरित का वास्तविक आरम्भ अयोध्या कांड से होता है।

अपने महाकाव्य का आरंभ स्वयंभू ने बड़ी ही उदात्त भूमिका के साथ किया है जिसमें कवि के नम्र आत्म निवेदन के बावजूद उसका अडिग आत्म विश्वास का आभास मिलता है। काव्यारंभ की पुरानी परंपरा का पालन करते हुए आरंभ में स्वयंभू ने पंडितों से निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि कोई दूसरा न होगा न तो मैं कुछ व्याकरण जानता हूँ और न वृत्ति-सूत्र का व्याख्यान ही कर सकता हूँ न मैंने पाँचों महाकाव्यों को सुना है और न पिंगल प्रस्तार आदि छंद-लक्षण ही जानता हूँ भामह दंडी के अलंकारशास्त्र से भी मैं परिचित नहीं हूँ फिर भी मैं काव्य रचना का व्यवसाय छोड़ने में असमर्थ हूँ।'

लेकिन यह नम्रता कोरी नम्रता अथवा परंपरा-पालन नहीं है। यह सारा कथन उस निर्भीक घोषणा की पृष्ठभूमि है, जिसमें कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं जिन लोगों के लिए अपने काव्य की रचना कर रहा हूँ, उनके लिए इतनी पंडिताई की जरूरत नहीं है।

कवि की विशेषता तो देखिये—

> सामण्ण भास छुडु मा विहडउ।
> छुडु आगम जुत्ति किंपि घडउ॥
> छुडु होंति सुहासिय-वयणाइं।
> गामेल्ल भास परिहरणाइं॥

वह 'सामान्य भाषा' को छोड़ने में असमर्थ है 'गामेल्ल भाष' को त्याग कर कुछ आगम-युक्ति गढ़ने में उसे उत्साह नहीं है—और इस 'आगम-युक्ति गढ़ने' में भी कितना व्यंग है। स्वयंभू खेद के साथ कहते हैं कि यदि कोई खजन मेरे इस अबुद्धि प्रदर्शन पर रोष प्रकट करे तो उस खल को 'हत्थुत्थल्लिउ' लेने के सिवा और क्या रास्ता है? कितना सीधा है यह बाँकपन!

स्वयंभू लिखा है लेकिन प्रेमी जी (जैन सा० इति० पृ० ३७० ७३) वेलणकर (स्व छं० भूमिका पृ० ७१ ७४ रा० ए० सो ज० बम्बई—जिल्द २ १९३८) और हीरालाल जैन ने (नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल दिस० ३५) सप्रमाण चतुर्मुख और स्वयंभू को दो भिन्न भिन्न कवि बतलाया है।

स्वयम् का अपना रचना साधारण लोगों तक पहुँचानी है और इसके लिए आवश्यक है साधारण लोगों की भाषा का माध्यम। इस महान उद्देश्य के लिए वे सारा व्याकरण, अलंकार शास्त्र और पिंगलशास्त्र निछावर करने के लिए तैयार हैं। महान उद्देश्य ही कवि को जबरदस्त आत्म-विश्वास देता है। लोक सुख में ही स्वयंभू का आत्म-सुख है और इसी आत्म-सुख के लिए उन्होंने अपना 'रामायण' रचा—'पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण कार्ने।'

रामकथा कहते समय स्वयम् के सामने सदैव यही उद्देश्य रहा। राम के रूप में उन्होंने न तो किसी महान आदर्श चरित्र की सृष्टि की और न उसमें अलौकिकता का कोई इन्द्रजाल खड़ा किया। राम के रूप में उन्होंने किसी राजा के सुख वैभव का लालस वर्णन करने में भी अपनी शक्ति नहीं लगाई। राम के यथार्थ मानव चरित्र का इस जैन कवि ने जैसा अनुभव किया, वैसा बिना किसी लाग लपट के सामने रख दिया न राम के दोषों पर पर्दा डालना और न गुणों का अत्यधिक उजागर करना। स्वयम् के राम वाल्मीकि के राम की ही तरह अपनी सम्पूर्ण मानवीय दुर्बलताओं और मानवीय शक्ति के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। एक ओर यदि वे देवी विभूतियों के विरुद्ध पौरुष के प्रतिमान हैं तो दूसरी ओर शक्तिहत लक्ष्मण के मूर्च्छित शरीर पर असहाय साधारण आदमी की तरह विलाप करने वाले करुणा विगलित नरनाथ हैं। यदि वे कर्म फल की सीमा में निरंतर कातरता रहने वाले कर्मयोगी हैं, तो कर्म-शृङ्खला के बंधन में कराहते हुए जीवन-संध्या निदान वाले निर्वाणोन्मुख पथिक भी हैं जो नारी के वियोग में सम्पूर्ण सृष्टि को अपने आंसुओं से गीला कर देता है और समुद्र पार करके रावण जैसे दुर्दमनीय राजा से समर करता है, वही पुरुष उस नारी के शरण में आने पर उसके सतीत्व का उपहास करता है और निष्करुण भाव से उसे अग्नि की भेंट देता है।

स्वयम् ने राम के चरित्र और व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों का बड़ा ही जीवन्त चित्रण किया है।

नारी के प्रति पुरुष-मात्र का दृष्टिकोण उस युग में (और आज भी) कैसा था यह 'अग्नि परीक्षा' वाले प्रसंग में राम के व्यवहार द्वारा स्वयम् ने भली भाँति स्पष्ट कर दिया है। पुष्पकविमान पर चढ़ाकर सीता कोशल नगरी में लाई जाती है। नव गृहागमन का एक ओर भव्य वातावरण और दूसरी ओर उस वातावरण में राम का ओछा व्यवहार। इस विरोध के द्वारा स्वयम् ने प्रसंग को अत्यंत मार्मिक और प्रभावशाली बना दिया है। यह है सीता के गृहागमन का वातावरण—

पुलक विसाऐं चडिय अणुराएं
परिमिय विज्जाहर-सघाएं

कोशल-णयरि पराइय जावहिं
दिणमणि गउ अत्थ-वणहोतावहिं
जत्थहो पिययमेण णिव्वासिय
सच उववणहो मज्झे आवासिय
कहवि विहाणु भाणु णहे उग्गउ
अहि-मुहु सज्जण-लोउ समागउ
किण्णइ तूरइ मगल घोसिउ
पट्टणु णिरवसेसु परिओसिउ
सीय पइट्ठ णिविट्ठ वरासणे
सासण देवए ज जिण-सासणे

परमेसरि पढम-समागमे भत्ति णिहालिय हल हरेण।
सिय-पक्खहो दिवसे पहिल्लए चंद-लेह णं सायरेण॥

सीता पुष्पक विमान पर चढ़कर अनुराग से आई विद्याधरों का समूह उन्हें घेरे हुए था। कोशल नगरी में जब वह पहुँची तो दिनमणि अस्ताचल को जा रहे थे। जो रानी इतने सम्मान से बुलाई गयी थी और स्वयं इतने अनुराग से आई थी उसके साथ राजधानी में क्या बर्ताव किया जाता है कि उसे राजमहल में जगह नहीं दी जाती! जगह कहाँ दी जाती है कि राजा के उपवन में! क्यों? क्योंकि वह इस समय प्रियतम द्वारा निर्वासित है। सच्चा कवि की वला कही गयी है दिन भर के थके भूले शाम को मिलते हैं। लेकिन बारह वर्षों के बाद जब सीता आती हैं तो उन्हें रात भर प्रतीक्षा के लिए बाहर छोड़ दिया जाता है। पति राजमहल में है और पत्नी उपवन में! पुरुष राजसुख भोग रहा है और नारी आसमान के तारे गिन रही है। आखिर विहान होता है नभ में भानु उगते हैं, 'सज्जन लोग' आते हैं। मंगल घोष करने वाले तूर्य बजाये जाते हैं—(मंगल के लिए उतना नहीं जितना) निरवशेष पट्टन को परितोषित करने के लिए कि हाँ, सीता की अग्नि-परीक्षा होगी।

ऐसे ही समय सीता प्रवेश करती है वरासन पर बैठती है। एक ही उपमा में कवि सीता की संपूर्ण गरिमा और स्थिरता को व्यक्त कर देता है। बैठी हुई सीता ऐसी लग रही है जैसे जिनशासन पर शासन देवता। और तब इतने लंबे व्यवधान के बाद इस प्रथम समागम में परमेश्वरी सीता सहसा हलधर (राम) द्वारा देखी जाती है। यह दृष्टिपात कैसा है? जैसे सागर सित पक्ष के प्रथम दिन चन्द्रलेखा को देखे। इसके बाद—

कतहिं तणिय कंति पेक्खेप्पिणु
पमणइ पोम णाहु विहसेप्पिणु
'जइ वि कुलग्गयाउ णिरवज्जउ
महिलउ होंति अमुद्ध णिलज्जउ
दर दाविय कडक्ख विक्खेवउ
कुडिल-मइउ वड्ढिय अवलेवउ
बाहिर धिट्ठउ गुण परिहीणउ
किह सय-खंडु न जंति ति हीणउ
णउ गणंति णिय-कुल मइलंतउ
तिहुअणे अयस-पडहु वज्जंतउ
अंगु समोडेवि धिद्धिक्कारहो
वयणु णिएंति केम भत्तारहो।

कहाँ तो सागर का प्रथमा की चन्द्रलेखा की ओर निहारना—कान्ता की कान्ति का देखना और कहाँ उनका यह विहँसना ! और फिर विहँसकर धिक्कार भरी ये बातें कहना ! 'महिलाएँ अशुद्ध होती हैं, निलज्ज होती हैं, मलिनमति होती हैं ! बहिधृष्टा होने पर टुकड़े टुकड़े हो जाती हैं और इस तरह हीन हो जाती हैं। त्रिभुवन में अपने कुल को मलिन करके अयश फैलाती हैं भला ऐसी नारी का मुख उसका भर्तार कैसे देखे !'

पता नहीं इतना कहने से पहले राम ने सीता का वह मुख कैसे देखा था !

अब राम के इस श्याम चरित्र की पृष्ठभूमि में स्वयम् की सीता का सित चित्र देखिए—

ताय ण मीय सइत्तण-गव्वें
वलेवि पवोल्लिय मच्छर गव्वें
'पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि
तियहे ण पत्तिज्जंति मरंत वि
खडु लक्कडु सलिल वहंतिहे पउराणियहे कुलग्गयहे।
रयणायरु खार इ देंतउ तो वि ण थक्कइ णइहे।।
साणु ण कण वि जणेण गणिज्जइ
गंगा-णइहे तं जि ण्हाइज्जइ
ससि स-कलंकु तहिं जि पइ णिम्मल
कालउ मेहु तहिं जि तडि उज्जल

उवहु अ पु जु ण केण वि छिप्पइ
रवि पडिम चंदणेण वि लिप्पइ
धुज्जइ पाउ पंकु जइ लग्गइ
कमल माल पुणु जिणहो वलग्गइ
दीवउ होइ सहावें कालउ
वट्टि सिहए मंडिजइ आलउ
णर-णारिहिं एवड्डउ अंतरु
मरणे वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवरु
एइ पइ कवणा बोल्ल पाररंभिय
सइ-वडाय मइ अज्जु समुब्भिय
तुहु पेक्खंतउ अच्छु विसत्थउ
डहउ जलणु जय डहिवि समत्थउ
कि किज्जइ अण्णइ दिव्वें जेण विसुज्झहो मज्झु मणहो।
जिह कणय-लोलि डाहुत्तर अच्छमि मज्झे हुआसहणहो॥

राम की ऐसी मलिन वाणी सुनकर भी सीता अयत रहीं। उनके मन में तनिक भी भय न आया। सतीत्व के गर्व से उन्होंने सिर ऊँचा रखा और अपने पहले ही वाक्य से राम को वध दिया 'पुरुष गुणवान होकर भी निहीन होते हैं। मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करते। वे उस रत्नाकर की तरह हैं जो क्षार देकर भी नदियों से नहीं विरमता।' आगे नर नारी का अंतर बतलाते हुए सीता कहती हैं कि दोनों में इतना ही अंतर है कि मरने पर भी वल्ली तरुवर को नहीं छोड़ती।

अंत में सीता कहती हैं कि तुम्हारे मुख से ऐसा शब्द कैसे निकला। आज मैं सतीत्व की पताका फहराऊँगी। तुम विश्वस्त होकर देखते रहो, आग यदि समर्थ हो तो मुझे जलाए। जब मेरा मन विशुद्ध है तो इस दिव्य शक्ति का किया क्या होगा?

स्वयंभू की सीता के ये वाक्य वाल्मीकि की सीता की याद दिला देते हैं। इतना हो जाने पर कवि का विशेष दृष्टिकोण उभर आता है और ऐसी महिमामयी नारी को कर्म-फल विश्वासी जैन कवि नीचे उतार कर रख देता है। आग से तपकर असली सीता तो शायद खरे सोने की तरह और भी कान्तिमयी होकर निकली होंगी, लेकिन स्वयंभू की सीता कर्म-फल की विभूति रमाए बाहर आई। खेद है कि जिस स्वर्ण प्रतिमा को कवि ने इतने परिश्रम से गढ़कर तैयार किया उसे अपने ही हाथों जलाकर क्षार कर दिया। कवि को क्या पता कि उसकी सृष्टि अग्नि प्रवेश

से पहले जितनी ही तेजोमयी थी, उससे निकलने के बाद उतनी ही म्लान भस्मावृत चिनगारी मात्र रह गई।

राघव ने क्षमायाचना कर ली और मानसिकता की मूर्त किंतु परित्यक्त स्नेहशाला सीता देवी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—

"आहो राहव म जाहि विसायहो
णवि तउ दोसु ण जण-समवायहो
भव-भव-सयहि विणासिय धम्महो
सउ दोसु हव दुक्किय-कम्महो।'

न तुम्हारा दोष है न जनसमूह का। दोष तो दुष्कृतकर्म का है! और इस दोष से मुक्त होने का एक मात्र उपाय यही है कि ऐसा किया जाए जिससे फिर स्त्री-योनि में जन्म न लेना पड़े।

'एमहि तिह करमि पुणु रहुणन्दण
जिह ण होमि पडिवारें तिय मइ।'

मार्मिक कर्मफल दर्शन के, इस कथन में नारी-हृदय की कितनी बड़ी वेदना छिपी है! नारी पर पुरुषों के अत्याचार की इतनी मार्मिक अनुभूति और क्या हो सकती है!

यहीं से जैन कवि के जीवन दर्शन का शासन स्वीकार कर सीता जिन धर्म में दीक्षित हो जाती हैं। स्वयंभू की रामायण का पर्यवसान इसी शम भाव में होता है। यहीं 'पउमचरिउ' की ८३वीं संधि समाप्ति होती है।

ऐसी वास्तविक मानव मूर्तियों गढ़ने में वही कवि सफल होता है जिसे मानव-मन के भावों और विकारों की सच्ची परख हो। स्वयंभू ऐसे ही सवदनशील कवि थे जिन्हें विविध परिस्थितियों में पड़े हुए मनुष्य की मानसिक उथल पुथल को पहचानने और फिर उसे पूरे मनोयोग के साथ शब्दों में उतार देने की अद्भुत सिद्धि प्राप्त थी। राम की करुण-कथा में ऐसे अनेक मार्मिक प्रसंग आते हैं जहाँ चरित्रों के साथ स्वयं कवि का और फिर कवि के साथ पाठकों का हृदय थामा छोड़कर बह चलता है। आहत लक्ष्मण के लिए भरत का विलाप एक ऐसा ही मार्मिक प्रसंग है। इस अवसर पर राम का विलाप तो बहुतों ने व्यक्त किया है लेकिन भरत के हृदय की दशा भी काव्य का विषय हो सकती है—इसकी ओर स्वयंभू ने ध्यान दिया है। यह वही भरत हैं जो राम से वन में मिलने के लिए आ रहे थे तो लक्ष्मण ने उन्हें शंकाकुल दृष्टि देखा से था और फिर उनसे लड़ने के लिए पूरी तैयारी की थी। ऐसे ही बंधु के लिए भरत इस प्रकार विलाप करते हैं—

लब्भइ रयणायरे रयण-खाण
लब्भइ कोइल-कुले महुर वाणि
लब्भइ चंदणु सिरि मलय सिंगे
लब्भइ सुपवरणु सुवइ अंगे
लब्भइ घणु वणए घरा पवरणु
लब्भइ कंचणे परवए सवरणु
लब्भइ पेसेरु सामिए पसाउ
लब्भइ किए विणए जयाणुराउ
लब्भइ सञ्चरो गुण दाणे कित्ति
सिय अखिवरे सुद उले परम तित्ति
लब्भइ यसियरण कलत्त रयणु
महकन्ने सुहासिउ सुकइ-वयणु
लब्भइ उवयार-मइहि सुमित्त
महवे हि निलाभिणि चारु चित्त
लब्भइ परतीरि महग्घु मह्
वरवेणु-मूले वेलुअ राह

गय-मोत्तिउ सिपसरोवे मणिए, पइरागरहो वज्ज पउरु।
पायइ सव्वइ लब्भति जइ, णवर ण लब्भइ भाइवरु॥

संसार में तमाम चीजें मिल सकती हैं लेकिन भाई नहीं मिल सकता! लक्ष्मण के गिर पड़ने पर भरत कहते हैं—'महु णिवडिकसि दाहिणउ पाणि!' अर्थात् मेरी तो दाहिनी भुजा ही टूट गई।

आदि कवि वाल्मीकि की ही भांति स्वयंभू भी जीवन के करुण प्रसंगों के सच्चे पारखी थे। राम के 'वनगमन' का प्रसंग ऐसा ही मार्मिक है, जिसका वर्णन सभी कवियों ने अपने अपने ढंग से किया है किन्तु स्वयंभू ने उसमें अनूठी मार्मिकता का परिचय दिया है, पुत्र वियोग के समय माता का विलाप स्वयंभू के शब्दों में सुनिए—

हा हा! काइं सुत पइं हलहर, दसरह-वस-दीव जग सुन्दर।
पइं विणु को पल्लंके सुवेसइ, पइं विणु को अत्थाणे वईसइ।
पइं विणु को हय-गयहुं चडेसइ, पइं विणु को भिन्दुएण रमेसइ।
पइं विणु रायलच्छि को माणइ पइं विणु को सम्भोसु समाणइ।
पइं विणु को पर-वसु भजेसइ, पइं विणु को मइ साहारेसइ।
—(२।२३।४)

जनता सोचती है कि राम जब वन चले जायेंगे तो उनको पलंग सूनी हो जायगा, अर्थात् उदास हो जायगी, हाथी-घोड़े पड़े रहेंगे, लगाया हुआ पान धरा रह जायगा, राज-लक्ष्मी अनाथ हो जायगी। राम के न रहने पर भी ये वस्तुएं रह जायगी। इनमें से एक एक को देखकर राम की याद आएगी। ऐसी दशा में इन वस्तुओं को वे किस प्रकार देखेंगी और देखकर भी हृदय धारण कैसे करेंगी? इन सीधी-सादी बातों में कितनी गूढ़ गंभीर अनुभूति है! स्वयंभू की इन पंक्तियों में लोक-गीत का सहज रस है।

वन-गमन की करुण प्रसंग-शृंखला की पराकाष्ठा वह है जब महलों में रहने वाली राजवधू जानकी घर से बाहर चरण रखती हैं। उस समय स्वयंभू की कल्पना कितनी ऊंची उड़ान भरती है—यह देखने योग्य है। जानकी अपने मंदिर से क्या निकलीं, मानो हिमवान से गंगा निकल पड़ी, छंदस् से गायत्री निकल पड़ी, शब्द से विभक्ति निकल पड़ी

णिय मन्दिर हो विणिग्गय जाणइ।
ए हिमवन्तहो गंग महाणइ।
ए छन्दहो णिग्गय गायत्ती।
ए सद्दहो णीसरिय विहत्ती॥

—(२।२३।६)

भरत सा ही करुण विलाप रावण की मृत्यु पर विभीषण का भी है। अपने भाई को छोड़कर जो विभीषण राम से मिल गया उसके हृदय में रावण की मृत्यु के बाद आत्म-ग्लानि, क्षोभ, पश्चात्ताप आदि कितने प्रकार के भाव उठे होंगे। कवियों ने प्रायः विभीषण के उस हृदय की ओर ध्यान नहीं दिया है, और स्वयंभू ने ऐसे ही समय विभीषण को अपनी कवि-सुलभ सहानुभूति दी है। 'मूर्छित-जैसे पड़े हुए रावण को विभीषण जब निहारता है तो अपने को पीटता है और फिर रावण के चरण पकड़कर रोता है—

"हा भायर, दुण्णिद्दए मुच्चउ
खि ने सुएवि कि महियल मुच्चउ
किं अवहेरि करवि थिउ, सासे चडाविय चलण तुहारा
अब्भमि मुहम्माहियउ हियउ फुट्ट आलिंगि भडारा॥

अर्थात् हे भाई यह दुर्निद्रा छोड़ो। सेज छोड़कर जमीन पर क्यों सोए हो? हमारी अवहेलना क्यों कर रहे हो? यह लो मैं अपने सिर पर तुम्हारा चरण रख रहा हूँ। हे भट्टारक, तुम्हारे आलिंगन से अथवा आलिंगन के लिए हृदय फूट रहा है, चित्त उन्मथित हो रहा है।

और इसके बाद विभीषण कहता है कि यह तुम्हारा मरण अकेले एक व्यक्ति का मरण नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक बड़ी चीज है—

'तुहु ण जिऊसि सयलु जिउ तिहुयणु
तुहु ण मुऊसि मुयउ बंदिजणु
तुहु पडिऊसि ण, पडिउ पुरंदरु
मउड ण भग्गु, भग्गु गिरि कंदरु
दिट्ठि ण णट्ठ, णट्ठ लंकाउरि
वयण ण णट्ठ, णट्ठ मन्दोयरि
हारु ण तुट्टु, तुट्टु तारायणु
हियय ण भिण्णु, भिण्णु गयणंगणु
चक्कु ण ढुक्कु, ढुक्कु एक्कतरु
आउ ण खुट्टु, खुट्टु रयणायरु
जीउ ण गउ, गउ आसा पोट्टल
तुहु ण सुत्तु, सुत्तउ महिमंडल
सीय ण आणिय, आणिय जमउरि
हरि-बल कुद्ध कुद्ध ण केसरि।

इस विलाप में दिवंगत का विश्वव्यापी प्रभाव ही नहीं प्रकट होता, बल्कि विलाप करने वाले भाई के हृदय का ममत्व भी झलक रहा है। मरा हुआ व्यक्ति जितना ही प्रभावशाली होता है, उसके लिए किया गया विलाप भी उतना ही मार्मिक होता है। उसके शक्ति शौर्य, प्रताप वैभव, गुण धर्म से मिलती-जुलती एक एक चीज को देख कर हृदय भर आता है। रावण धरती पर पड़ा हुआ है उसका मुकुट एक ओर लुढ़क गया है दृष्टि नष्ट हो गई है हार टूट कर बिखर गया है हृदय विदीर्ण है मुह से शब्द नहीं निकलते। इन सभी चीजों का एक एक करके विभीषण देखता है और उसे लगता है कि यह रावण का मुकुट भग्न नहीं हुआ है, गिरि कंदर भग्न हुआ है। यह दृष्टि नष्ट नहीं हुई है, स्वयं लंकापुरी नष्ट हुई है। यह वचन नष्ट नहीं हुआ है, इस वचन का पान करने वाली मंदोदरी नष्ट हुई है। यह जो टूटकर बिखर गया है वह केवल मोतियों का हार नहीं है आकाश के सभी तारे हैं और आह, यह भिदा हुआ विशाल हृदय! यह रावण का हृदय नहीं, विश्वव्यापी आकाश है!

और इन सबके भीतर से वह जीव उड़ गया है लेकिन यह जीव मात्र नहीं है उसके साथ तो आशा की पोटली ही चली गई—एक दो आशा नहीं, आशाओं की पोटली उसके साथ बहुतों की आशाएं चली गईं। ऐसे ही विलाप

के बीच है यह अद्भुत उपमा। तुम्हारी यह आयु नहीं खत्म हुई है, कभी न घटने वाला रत्नाकर समुद्र ही खत्म हो गया है! कहाँ आयु जैसी सूक्ष्म वस्तु और कहाँ समुद्र जैसी मूर्त उपमा! आकार की समता नहीं है, समता है उस गुण की—क्षय होने की! और आयु समाप्त होने के लिए कितना जीवंत मुहावरा प्रयुक्त हुआ है 'आयु ण खुट्टु'! लोक बोली के पारखी तुलसी ने भी जनता के कंठ से इस प्रयोग को सुना था और 'आयु खुटानी' जैसा प्रयोग स्वयं भी किया।

यह सम्पूर्ण कथन कोरी अलंकार-योजना नहीं है, यह हृदय का सहज प्रवाह है जिसमें न जाने कितने अलंकार अपने आप बह आते हैं और इस तरह लहरों में पिरोए हुए बहते रहते हैं कि विविक्त करना कठिन होता है। यदि स्वयम् की अलंकार-योजना ही देखनी हो तो उनकी उपमाओं की एकावली अन्यत्र देखिए। वे एक दो उपमा देकर तृप्त नहीं होते—पाठक के गले यदि उपमाओं की एक माला न पहना दी तो वह स्वयम् क्या? उपमाएँ भी सभी तरह की। परंपरामुक्त रूढ़ उपमाएँ और एक-से एक नई उपमाएँ!

गोदावरी का वर्णन करते हुए स्वयम् कहते हैं—

फेणावलि वङ्किय-वलयालंकिय, ण महि वहुअहे तणिया।
जल णिहिं भत्तारहो मोत्तिय हारहो वाह पसारिय दाहिणिया॥

गोदावरी क्या है मानो वधू वसुधा की दाहिनी बाँह है जो वक्रिम फेनावलियों के वलय से अलंकृत है और जिसे वसुधा ने मोतियों के हार से सुशोभित अपने प्रिय पति जलनिधि की ओर फैला दिया है!

इसी प्रकार वृत्तराजि की उपमा वे कुलवधू वसुधा की रोमराजि से देते हैं—

कत्थयि थाया निह बकुल-राई
णं महि कुल वहुअहि रोम राई

उपमाएँ केवल उपमा के लिए नहीं दी गई हैं, कभी-कभी उनके द्वारा सामान्य मानव जीवन की ओर मार्मिक संकेत भी किया गया है। समुद्र का वर्णन करते-करते स्वयम् जब उसके आलाप पर पहुँचते हैं तो धीरे से कहते हैं—'णिद्धणु आलाउ' व अप्पमाणु!'

कवियों को समुद्र से दूर रहने पर भी अक्सर उसका गर्जन ही सुनाई पड़ता है, लेकिन स्वयम् को समुद्र का शोर-गुल निर्धन व्यक्ति के कथन की तरह अप्रमाण दिखाई पड़ता है! समुद्र के शोर का क्या प्रमाण है? कौन सुनने वाला है उसे! और जब सुनने वाला कोई नहीं है तो फिर वह शोर चाहे कितना ही ऊंचा क्यों न हो, उसका प्रमाण ही क्या? वह अपना रोना रोया करे! धाम से

और इसके बाद विभीषण कहता है कि यह तुम्हारा मरण अकेले एक व्यक्ति का मरण नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक बड़ी चीज़ है—

'तुहु ण जिऊसि सयलु जिउ तिहुयणु
तुहु ण मुऊसि मुयउ वंदिजणु
तुहु पडिऊसि ण, पडिउ पुरंदरु
मउडु ण भग्गु, भग्गु गिरि कंदरु
दिट्ठि ण णट्ठ, णट्ठ लंकाउरि
वयणु ण णट्ठ, णट्ठ मंदोयरि
हारु ण तुट्टु, तुट्टु तारायणु
हियय ण भिण्णु, भिण्णु गयणंगणु
चक्कु ण ढक्कु, ढक्कु एक्कंतरु
आउ ण खुट्टु, खुट्टु रयणायरु
जीउ ण गउ, गउ आसा पोट्टल
तुहु ण सुत्तु, सुत्तउ महिमंडल
तीय ण आणिय, आणिय जमउरि
हरि-बल कुद्ध कुद्ध णं केसरि।'[1]

इस विलाप में दिवंगत का विश्वव्यापी प्रभाव ही नहीं प्रकट होता, बल्कि विलाप करने वाले भाई के हृदय का ममत्व भी झलक रहा है। मरा हुआ व्यक्ति जितना ही प्रभावशाली होता है, उसके लिए किया गया विलाप भी उतना ही मार्मिक होता है। उसके शक्ति शौर्य प्रताप वैभव, गुण धर्म से मिलती-जुलती एक-एक चीज को देख कर हृदय भर आता है। रावण धरती पर पड़ा हुआ है उसका मुकुट एक ओर लुढ़क गया है दृष्टि नष्ट हो गई है हार टूट कर बिखर गया है हृदय विदीर्ण है मुंह से शब्द नहीं निकलते। इन सभी चीजों को एक एक करके विभीषण देखता है और उसे लगता है कि यह रावण का मुकुट भग्न नहीं हुआ है, गिरि-कंदर भग्न हुआ है! यह दृष्टि नष्ट नहीं हुई है, स्वयं लंकापुरी नष्ट हुई है! यह वचन नष्ट नहीं हुआ है, इस वचन का पान करने वाली मंदोदरी नष्ट हुई है! यह जो टूटकर बिखर गया है वह केवल मोतियों का हार नहीं है आकाश के सभी तारे हैं और आह, यह भिदा हुआ विशाल हृदय! यह रावण का हृदय नहीं, विश्वव्यापी आकाश है!

और इन सबके भीतर से वह जीव उड़ गया है लेकिन वह जीव मात्र नहीं है उसके साथ तो आशा की पोटली ही चली गई—एक दो आशा नहीं, आशाओं की पोटली उसके साथ बहुतों की आशाएँ चली गईं। ऐसे ही विलाप

के बीच है यह अद्भुत उपमा। तुम्हारी यह आयु नहीं खत्म हुई है, कभी न घटने वाला रत्नाकर समुद्र ही खत्म हो गया है। कहाँ आयु जैसी सूक्ष्म वस्तु और कहाँ समुद्र जैसी मूर्त उपमा! आकार की समता नहीं है, समता है उस गुण की—क्षय होने की। और आयु समाप्त होने के लिए कितना जीवंत मुहावरा प्रयुक्त हुआ है 'आयु ण खुट्टइ'। लोक बोली के पारखी तुलसी ने भी जनता के कंठ से इस प्रयोग को सुना था और 'आयु खुटानी' जैसा प्रयोग स्वयं भी किया।

यह सम्पूर्ण कथन कोरी अलंकार-योजना नहीं है, यह हृदय का सहज प्रवाह है जिसमें न जाने कितने अलंकार अपने आप बह आते हैं और इस तरह लहरों में पिरोए हुए बहते रहते हैं कि विविक्त करना कठिन होता है। यदि स्वयम् की अलंकार-योजना ही देखनी हो तो उनकी उपमाओं की एकावली अन्यत्र देखिए। वे एक दो उपमा देकर तुष्ट नहीं होते—पाठक के गले यदि उपमाओं की एक माला न पहना दी तो वह स्वयम् क्या? उपमाएँ भी सभी तरह की। परंपराभुक्त रूढ़ उपमाएँ और एक-से-एक नई उपमाएँ।

गोदावरी का वर्णन करते हुए स्वयम् कहते हैं—

फेणावलि वङ्किय-वलयालङ्किय, ण महि कुलवहुअहे तणिया।
जल णिहि भत्तारहो मोत्तिय हारहो वाह पसारिय दाहिणिया॥

गोदावरी क्या है मानो वधू वसुधा की दाहिनी बाँह है जो वक्रिम फेनावलियों के वलय से अलंकृत है और जिसे वसुधा ने मोतियों के हार से सुशोभित अपने प्रिय पति जलनिधि की ओर फैला दिया है।

इसी प्रकार वृक्षराजि की उपमा वे कुलवधू वसुधा की रोमराजि से देते हैं—

कत्थवि गाया विह रुक्ख-राइ
णं महि कुल वहुअहि रोम-राइँ

उपमाएँ केवल उपमा के लिए नहीं दी गई हैं, कभी-कभी उनके द्वारा सामान्य मानव जीवन की ओर मार्मिक संकेत भी किया गया है। समुद्र का वर्णन करते-करते स्वयम् जब उसके आलाप पर पहुँचते हैं तो धीरे से कहते हैं— 'णिद्धण आलाउ' व अप्पमाणु!'

कवियों का समुन्दर से दूर रहने पर भी अक्सर उसका गर्जन ही सुनाई पड़ता है, लेकिन स्वयम् को समुद्र का शोर-गुल निर्धन व्यक्ति के कथन की तरह अप्रमाण दिखाई पड़ता है। समुद्र के शोर का क्या प्रमाण है? कौन सुनने वाला है उसे? और जब सुनने वाला कोई नहीं है तो फिर यह शोर चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, उसका प्रमाण ही क्या? वह अपना रोना रोया करे! धाम से

गरजा कर ! लेकिन रत्नाकार समुद्र को निधन से उपमित करना भी कितना साकेतिक है ! निधन भी वस्तुत रत्नाकार ही होता है, लेकिन उसके सभी रत्न तल में पड़े हुए हैं !

समुद्र की गहराई को देखकर स्वयम्भू को महाकाव्य की गहराई याद आती है । वे कहते हैं कि समुद्र 'महकव्व णिबंधु' व सद्-गहिरु ।'

ऐसे ही महाकवि के महाकाव्य को देखकर समुद्र की गहराई याद आती है ! ऐसी उपमा आकस्मिक नहीं है । महाकाव्य की व्यापकता और गहराई के विषय में स्वयम्भू इतने सतर्क थे कि अक्सर ऐसी प्राकृतिक वस्तुओं से महाकाव्य की उपमा देते हैं । पावस प्रसंग में मेघ-जाल को फैलते देखकर उन्हें तुरन्त सुकवि के काव्य की याद आ जाती है ।

पसरइ सुकइहि कव्व जिह, मेह जाल गयणंगणे तावेहिं ।

इतनी व्यापकता और गहराई ऐसे ही कवि में आती है जो मानव-जीवन के साथ ही प्रकृति के बीच भी रमा हो । मानव प्रकृति के चित्रकार स्वयम्भू की तूलिका से एक जनपद की प्राकृतिक शोभा का भी चित्रण देखिए । मगध देश का कितना सीधा-सादा चित्र है—

जहि पक्क-कलम-कमलिणि णिसण्णु
अलहंत तरणि थरव विसण्णु
जहिं सुय-पतिउ सुपरिट्ठियाउ
णं वणसिरि मरगय कंठियाउ
जहिं उच्छु-वणइं पवणाहयाइं
कपतिव पीलणभय गयाइं
जहि णंदण-वणइं मणोहराइं
णाचति व चल-पल्लव कराइं
जहिं फाडिम-वयणइं दाडिमाइं
णज्जंति ताइं ण कइ-मुहाइं
जहि महुयर-पंतिउ सुदराउ
पज्झइ केमर रय धूसराउ
जहिं दक्खा-मंडव परियलंति
पुणु पथिय रस सलिलइ पियंति ।

इस चित्र की यथार्थता देखने योग्य है । ऐसे ऐसे सूक्ष्म द्रष्टा कवि होते हैं कि गाँवों में भी उन्हें कमलों की बहार दिखाई पड़ती है ! कहा भी तो है जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि ।इसको सार्थक करने के लिए जरूरी है कि जहाँ

रवि को भी कमल न दिखाई पड़े, वहाँ कवि देख ले। लेकिन स्वयंभू के लिए पके धान की कलमें ही कमल हैं। और ये कलम के कमल भी सूर्य को न पा सकने के कारण विपण्ण हैं। यह मगध देश ऐसा है जिसमें वनश्री की मरकत-कण्ठी की तरह शुक-पंक्ति है, जहाँ हवा के झोंकों में भयभीत गज की भाँति काँपते हुए ईख के वन हैं जहाँ वानरों के मुख की तरह फटे हुए लाल लाल दाड़िम हैं और द्राक्षा के मंडप लहराते रहते हैं। देश की संपन्नता का यह हाल है कि पथिक रस ही पाते हैं।

हनुमान जब लंका से अयोध्या की ओर जाते हैं तो उनके दृष्टि-पथ में अनेक देश और अनेक नदियाँ पड़ती हैं। स्वयंभू ने इनमें से एक एक पर विहंगम दृष्टि डाली है और दो-तीन रेखाओं में उनकी सारी विशेषताएँ आँक दी हैं। कावेरी प्रदेश के चित्र की एक रेखा देखिए—

जहि इंदणील-कर भिज्जमाणु
ससि थाइ जुण्ण दप्पण समाणु

यह वह प्रदेश है जहाँ इन्द्रनील का आधिक्य है। इसे व्यंजित करने के लिए कहा गया है कि वहाँ इन्द्रनील की किरणों से भिदकर चन्द्रमा जीर्ण दर्पण के समान हो गया है।

स्वयंभू के काव्य का परिसर बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक रनिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जलक्रीड़ा से लेकर युद्ध क्षेत्र तक जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्रकार हैं, भावों के जानकार हैं चिन्तन के आगार हैं। अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर नहीं दिखाई पड़ा। अलंकृत भाषा तो बहुतों ने लिखी लेकिन ऐसी प्रवाहमयी और लोक प्रचलित अपभ्रंश भाषा फिर नहीं लिखी गई। स्वयंभू सचमुच ही अपभ्रंश के वाल्मीकि हैं परवर्ती अपभ्रंश कवियों ने उन्हें वैसी ही श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।

त्रिभुवन राम काव्य की जो परंपरा स्वयंभू ने चलाई उसे उनके सबसे छोटे पुत्र त्रिभुवन ने आगे बढ़ाया। त्रिभुवन भी अपने पिता की ही भाँति परम पंडित तथा कवि थे। उन्होंने स्वतंत्र रूप से कोई पुस्तक न लिखकर पिता के काव्य ग्रंथ में ही परिवर्धन किया। पिता ने जिस 'पउम चरिउ' को ८३ संधि तक लिखकर छोड़ दिया था, उसमें त्रिभुवन ने सात संधियाँ और जोड़कर उसे ९० संधियों तक पहुँचा दिया। कथानक और चरित्र की दृष्टि से स्वयंभू ने 'पउम चरिउ' को चरमोत्कर्ष पर ही ले जाकर छोड़ा था, लेकिन त्रिभुवन को उसमें कुछ कमी दिखाई पड़ी। कमी यह थी कि

राम कथा की परिसमाप्ति अच्छी तरह जैन मत के अनुसार नहीं हो सकी थी—राम जिनधर्म में दीक्षित नहीं हो सके थे, उनका परिनिर्वाण शेष था, उन्हें जिनधर्म के विविध उपदेश सुनने को नहीं मिले थे, कुछ उपदेशमूलक इतर कथाएँ रह गई थीं और जन्म जन्मान्तरों की चर्चा बाकी थी। योग्य पुत्र ने इन सबको अच्छी तरह उसमें खपाया। इतना ही नहीं, उनके कथन से मालूम होता है कि उन्होंने पिता के 'महाकाव्य' के बीच-बीच में भी कुछ कडवक जोड़े हैं। इस तरह वर्तमान 'पउम चरिउ' स्वयंभू और त्रिभुवन दोनों ही की सम्मिलित कृति है, जिसमें निस्सन्देह गुण और मात्रा दोनों दृष्टियों से अधिकांश स्वयंभू का है। ध्यान से देखने पर पिता और पुत्र दोनों की रचनाओं का अंतर स्पष्ट हो जाता है। भावों का उच्छल आवेग, चित्रण की सादगी, और भाषा का लोकप्रचलित प्रवाह जो पिता की रचना में है, वह पुत्र की कृति में कहाँ। पंडिताई पुत्र में जरूर अधिक है। श्री मोदी ने 'अपभ्रंश पाठावली' ८३ वीं संधि का 'सीय दिव्व-कहाणउ' त्रिभुवन स्वयंभू के ही नाम से दिया है लेकिन सभी दृष्टियों से वह स्वयंभू की रचना प्रतीत होती है।

इतना होते हुए भी त्रिभुवन की यह गर्वोक्ति यथार्थ है कि—

'तिहुवणो जइ वि ण होंतु णंदणो सिरि सयंभु एवस्स
कव्वं कुलं कवित्तं तो पच्छा को समुद्धरइ।'

निःसन्देह योग्य पुत्र की तरह स्वयंभु पुत्र त्रिभुवन ने भी अपने पिता के अधूरे काम को पूरा करने के साथ ही उसे सुरक्षित भी रखा।

काल-क्रम से अपभ्रंश साहित्य में राम काव्य के दूसरे अथवा तीसरे महाकवि पुष्पदंत (१० वीं शताब्दी ईस्वी) हुए। इन्होंने उत्तर पुराण की ग्यारह संधियों (६९—७९) में रामकथा का वर्णन किया है। पुष्पदंत ने रामकथा आरंभ करने से पहले उसकी जो परंपरा उद्धृत की है, उससे मालूम होता है कि उन्हें स्वयंभू के काव्य का परिचय था। उन्होंने स्वयंभू का नाम बड़े आदर से लिया है। स्वयंभू के विपरीत पुष्पदंत ने अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में विशेष प्रकाश डाला है। महापुराण की उत्थानिका और उसके अंत से उनके बारे में जो कुछ मालूम होता है, उसका सारांश यह है कि ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे जन्म-स्थान उनका संभवतः बरार में कहीं था। कुछ कारणों से ये जीवन के आरंभ में उत्तर अर्काट ज़िले के मेलाडि या मेलपाटी उद्यान में रहे और फिर वहीं महामात्य भरत से परिचय होने के बाद उनके साथ राष्ट्रकूट-राजधानी मलखेड़ (मान्यखेट) चले आए। जीवन के अंतिम दिनों तक पुष्पदंत मलखेड ही रहे। महामात्य भरत के मर जाने के बाद उन्हें

पुष्पदंत

भरत के सुयोग्य पुत्र नन्न का आश्रय प्राप्त हुआ। पुष्पदंत शुरू में शैव थे लेकिन अंत में जैन हो गये। स्वयं कवि के इस विवरण से पता चलता है कि उनकी अनेक उपाधियाँ तथा उपनाम थे—इनमें से एक 'अभिमानमेरु' भी थी। बड़े गर्व से उन्होंने अपने को 'अभिमानमेरु' कहा है। निःसन्देह स्वभाव से वे बड़े ही अक्खड़ और स्पष्टवादी प्रतीत होते हैं। जिन दिनों वे मेलपाटी के उद्यान में थे, दो राजपुरुष उनके पास आये, उन्होंने कवि से विशाल पुरी छोड़कर निर्जन वनांत में रहने का कारण पूछा। इसके उत्तर में अभिमान-मेरु कहते हैं—

चमरानिल उड्डाविय-गुणाइ
अहिसेय धोय सुयणत्तणाइ
अविवेयइं दप्पुत्तालियाइं
मोहंधइं मारण सीलियाइं
विसदइ चम्मइ जउ रत्तियाइं
किं लच्छिइं विउस विरत्तियाइं
संपइ जणु णीरस णिव्विसेसु
गुणवंतउ जहिं सुरगुरु वि वेसु
तहिं अम्हइं काणणु जि सरणु
अहिमाणें सहुं वरि होउ मरणु।

राज दरबार में कोई भला आदमी कैसे रहे। चंवर की हवा से यहाँ सभी गुण उड़ जाते हैं अभिषेक-जल सारी सज्जनता को ही धोकर बहा देता है इसी तरह की और भी विवेक विरोधी बातें हैं जिन्हें देखकर वन में रहना ही अच्छा है क्योंकि उस विषाक्त वातावरण से तो कहीं अच्छा अभिमान-सहित मरना है।

पुष्पदंत की इस स्पष्टवादिता ने भरत मंत्री को आकृष्ट किया उन्होंने विघटित प्रतिभा को अपने संरक्षण में लेकर रचनात्मक कार्य की ओर लगाया।

'महापुराण' में राम की कथा पूर्वापर संबंध से सर्वथा मुक्त एक स्वतंत्र काव्य-खंड की तरह दिखाई पड़ता है। कथा के पीछे जो उद्देश्य है उसमें स्पष्टतः ब्राह्मण-परंपरा की राम कथा के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव है। साफ शब्दों में पुष्पदंत कहते हैं कि वाल्मीकि और व्यास के वचनों ने सबको प्रवंचित कर रखा है और इनके अतिरिक्त कुमार्ग के कुएँ में पड़े हुए अन्य व्यक्तियों ने भी ऐसी तरह का भ्रम फैलाने में योग दिया है। इन्हीं भ्रमों को दूर करने के लिए गौतम राम की कथा कहते हैं। पौराणिक शैली के अनुसार यह राम कथा वक्ता श्रोता के प्रश्नोत्तर के रूप में कही गई है। श्रेणिक गौतम के सामने ये शंकाएँ रखते हैं कि दशमुख दस मुखों के साथ कैसे पैदा हुआ? उसका पुनः उसके यम से बड़ा

से श्रेष्ठ कहा गया है, स्वयंभू ने संकेत भर करके रहने दिया है और मरुत्त यज्ञ विध्वंस प्रकरण का वर्णन उन्होंने बेमन से किया है।[१]

इसका मुख्य कारण यही मालूम होता है कि स्वयंभू में धार्मिक कट्टरता नहीं थी। जैसा कि खोज से पता चला है, स्वयंभू न तो दिगम्बर थे और न श्वेताम्बर बल्कि वे अति प्राचीन 'यापनीय संघ' के अनुयायी थे। यह संघ उदार विचारों का था। इस तरह धार्मिक मतभेद से कथा में भेद आ जाना स्वाभाविक है। लेकिन स्वयंभू और पुष्पदंत की राम-कथाओं में कुछ ऐसी भेदक बातें दिखाई पड़ती हैं जिनसे दो भिन्न परंपराओं का अनुमान होता है। पुष्पदंत ने विमल सूरि, रविषेण, स्वयंभू द्वारा वर्णित राम-कथा के रहते हुए भी इन सब को छोड़कर श्वेताम्बर मतावलंबी कवि गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' में वर्णित रामकथा का अनुसरण किया है। इसे देखकर प्रेमी जी ने अनुमान लगाया है कि ये कवि राम-कथा की दो भिन्न परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।[२]

इतना होते हुए भी जैन कवियों की इस रामकथा में ब्राह्मण परंपरा की की रामकथा से भिन्न कुछ उभयनिष्ठ बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इन्होंने अतिमानवीय प्रसंगों का बुद्धिसंगत और मानवीय रूप देने की चेष्टा की है जैसे गंगा उत्पत्ति, वानरों की उत्पत्ति रावण का दशानन होना आदि। इसी तरह रावण के चरित्र को जैन कवियों ने अधिक पराक्रम-युक्त दिखाया है और शूर्पणखा का चरित्र अपेक्षाकृत उज्ज्वल चित्रित किया है यहाँ तक कि स्वयंभू ने उसका नाम 'चन्द्रनखी' दिया है।

राम-काव्य के अन्य कवि

अपभ्रंश में रामकथा की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले और भी कवि हुए होंगे लेकिन जिनकी रचना का उल्लेख मिलता है वे पन्द्रहवीं शताब्दी के रइधू कवि हैं। इन्होंने अनेक प्रबंध काव्य लिखे हैं, उनमें से जिसमें संभवतः रामकथा का वर्णन है, वह 'पउम पुराण' नाम से जाना जाता है। अभी तक यह ग्रंथ सामने नहीं आ सका है, इसलिए उसके विषय में कुछ भी कहना असंभव है।

कृष्ण काव्य और स्वयंभू

जिस प्रकार राम जैनधर्म द्वारा स्वीकृत नौ बलदेवों में से एक हैं, उसी प्रकार कृष्ण भी नौ वासुदेवों में से एक हैं। फलतः कृष्ण की कथा भी जैन साहित्य में वर्णित है। यदि राम कथा 'पउम चरिउ' 'पउम पुराण' नाम वाले ग्रंथों में कही गई है तो कृष्ण-कथा कहने वाले ग्रंथ 'हरिवंश पुराण' कहे जाते हैं। अपभ्रंश में रामकथा

१ स्वयंभू का पउमचरिउ प्रथम भाग भूमिका पृ० १५
२ जैन साहित्य और इतिहास पृ २७७-८५

की तरह कृष्ण-कथा के सूत्रपात का भी श्रेय स्वयम्भू को ही है। स्वयंभू ने 'पउम चरिउ' के साथ ही 'हरिवंश पुराण' की भी रचना की है। इस समय 'भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट' में 'हरिवंश पुराण' की जो प्रति सुरक्षित है, उसमें कुल ११२ संधियाँ हैं। अध्ययन करने से पता चलता है कि स्वयंभू ने केवल ९२ संधियों की ही रचना की थी, जिसमें १३ संधियों का यादव कांड, १६ संधियों का कुरु कांड और ६० संधियों का युद्धकांड है। बानवे संधियों के बाद ग्रंथ अपूर्ण रूप में शेष रह गया। इसके बाद उनके पुत्र त्रिभुवन ने १७ संधियाँ और जोड़ीं। शेष ६ संधियाँ यश:कीर्ति की रचना मालूम होती हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी के आस-पास हुए थे।[1]

इतना सब जोड़ने के बावजूद हरिवंश पुराण का अधिकांश स्वयंभू की ही कृति है। स्वयम्भू के 'हरिवंश पुराण' के जितने अंश प्रकाश में आए हैं, उनसे उनकी काव्य प्रतिभा की ओर भी पुष्टि होती है। श्री मोदी ने 'अपभ्रंश पाठावली' में 'हरिवंश पुराण' की क्रमशः २८वीं और १ ३री संधि उद्धृत की है जिनमें से एक महाभारत के विराट पर्व की 'कीचकवध' कथा पर आधारित है और दूसरी एक तरह की धार्मिक प्रश्नोत्तरी है जो जैनधर्म के उपदेश के लिए गढ़ी गयी है।

यहाँ भी स्वयम्भू द्वारा रचित प्रसंग में जो कथा-रस और सहज भावोद्‌गार है, वह त्रिभुवन के तत्वचिंतन में नहीं है। मत्स्यराज का साला कीचक जिस समय सबके सामने सैरन्ध्री बनी हुई द्रौपदी का अपमान करता है, स्वयम्भू उस प्रसंग को मूर्त कर देते हैं—

तो तेण विलक्खी हूयएण
अणुलग्गें जिह जमदूयएण
चिहुरेहिं धरेवि चवखोहि हय
पेक्खतह रायह मुच्छ गय
मणि राम पवड्ढिय वल्लवहो
किर देइ दिट्ठ तरु-पल्लवहो
"मरु मारमि, मच्छु स-मेहुणउ
पट्ठवमि कयंतहो पाहुणउ"
तो तव-सुएण आयड्ढएण
विणिवारिउ चलणंगुट्टएण

1. हेमचन्द्र मोदी अपभ्रंश पाठावली (१९३५ ई०) टिप्पणी पृ० २३-२५

ओसरिउ विओयरु सणियायउ
पुर-वर-णारिउ आदरियायउ
"धि धि दड्ढ सरीरें काइ किउ
कुल जायहु आयइ मरणु थिउ
जहिं पहु दुच्चरिउ समायरइ
तहिं जणु सामण्णु काइ करइ।"

यमदूत की तरह कीचक ने द्रौपदी का केशपाश पकड़कर खींचा और उसे लात मारी। यह देखकर राजा युधिष्ठिर मूर्छित हो गये और भीम राय के मारे तरु की ओर देखने लगे कि इसे किस तरह मारें। लेकिन युधिष्ठिर ने पैर के अँगूठे से उन्हें दबाकर मना किया। उधर पुर की नारियाँ व्याकुल होकर बोल उठीं कि "इस दग्ध-शरीर का धिक्कार है। इसने यह क्या किया ? कुलीन नारियों का तो मरण ही गया। जहाँ राजा ही इतना दुराचार करता हो, वहाँ भला सामान्य जन क्या करेंगे !"

नारी के प्रति स्वयंभू के मन में कितना बड़ा सम्मान है ! जहाँ भी वे नारी को किंचित् अपमानित होते देखते हैं, उनकी संपूर्ण मानवता कालाग्नि के समान धधक उठती है। यही नहीं, अवसर आते ही वे शक्तिमती नारी की शक्ति का उद्घाटन किये बिना नहीं रहते। अपमानिता द्रौपदी दिन का सारा काम-काज खत्म करके जब रात में भीम के पास जाती है और वे उसके दुःख का कारण पूछते हैं तो उस समय द्रौपदी का अमर्षपूर्ण कथन सुनने योग्य है—

"महु कवणु सुहु च्छइ कवण दिहि
जहिं तुम्ह वि वट्टइ एह विहि
जो सामि-सालु महि मंडलहो
थिउ हरिवि लच्छि आहंडलहो
सो विहि परिणामें सवरइ
घरि मच्छहो णिच्च सेव करइ
जो मुट्ठि-पहारें दलइ गिरि
उ लणु नि ण मेल्लइ सुहड-सिरि
सो वणु हिडिंबु किम्मीरु जिउ
सो हुउ विहि-वसिण महाणसिउ

जो महु लद्धवरु खंडव डह-डामर-य।
कम्मइ विहि-वसिया सो जायइ भलइ सरीय।

जमलाऽस-वास धणवाल चहि
सद्दलिपि हउं मि मुद्द कवण तहिं
महि मडलि सयलि गमिहाइ
केम नि खल दइवें दिहाइं
देसें देसंतरु भमियाइ
यणि वारह वरिसइं गमियाइं
अहियइ मासिहिं एयारहिहि
अवरहिं वासर-परयारहिहिं
तो वि दुक्ख किलेसहो छेउ ण वि
वरि मरणु न जीविए सु हल क वि।"

ऐसे-ऐसे शूर-वीर और सुधी पतियों के रहते हुए भी द्रौपदी ने अब तक क्या सुख पाना ! सुख पाना तो दूर, उल्टे वह इस तरह उनके सामने ही अपमानित हो रही है ! यदि इसी का नाम जीवन है तो फिर मरण क्या है !

और इस पर भीम द्रौपदी के आँसुओं को, अपने स्वभाव के प्रतिकूल दर्शन के कड़ और रूखे हाथों पोंछते हैं—'संसार धर्म नहीं देखता ! कहीं सुख है तो कहीं दुख। पूर्व कर्मों का चक्र दो फल देता है। रावण द्वारा हरी जाने पर भी सीता को क्या थोड़ा सा भी दुःख हुआ था !"

संसार धम्मु ण णिरिक्खियउ
सुहु केत्तिउ केत्तिउ दुक्खियउ
देइ दुवि वि फलइं पंचालि पुराइय रुक्ख !
जहिं णिय रायणिए कि सीयहिं थोडउ दुक्खु ॥

त्रिभुवन में यही दार्शनिकता चरम सीमा पर पहुँची हुई है। द्वारिका में नेमिनाथ का शुभागमन बड़े ही भव्य ढंग से होता है सभी यादवों के साथ वासुदेव और बलदेव उनका स्वागत करते हैं और अंत में अवसर निकाल कर बलदेव नेमिनाथ से जीवन और जगत के विषय में बड़े-बड़े गूढ़ सवाल पूछते हैं और सर्वज्ञ नेमिनाथ एक एक कर उनका उत्तर देते हैं। प्रश्नोत्तर इस प्रकार है।

"किं इह तिहुयणे सारु भडारा !"
"धम्मु-रयणु भा महिहर धारा।
"किं दुल्लहु भव-सत्तिहिं जिणवर !
"पन्जा णिम्मु हे सिरि हर।
"किं सुहु णाणा माह महागुरु !'
"याह रहिउ अहो दुमुमूरिय मुरु।"

"के जीवहो सहरिय तित्थंकर ?"
"कोह-माह-मय अच्छी हरि हर ।"
"किं पालसिव पत्थु सव्वरहं ?"
"धुअ सम्मत्तु सील थाइ विएहं ।"
"किं सुंदरु करशिज्जु दयारह ?"
"दाणु पुज्ज हो देवइ-तणु-रुह ।"
"के दू-सह तियसेसर-सामिय ?"
"पवर परीसह खगयइ गामिय ।"
"किं बलवतउ समर विमद्दण ?"
"जीव हो चिर कय कम्म-अणद्दण ?"
"कवणु देउ केवल-वर लायण ।"
"दास वियजिउ हो मह सुयण ।"
"कवणु धम्मु जगि णाणुप्पायण ?"
"जीव दया-वरु इ णारायण ?"
"कि ,वसार हो मूढु णिरासव ?"
"गरुड पमाउ-गुणहिंमणि केसव ।"
"किं बहु-यव सिद्धि अ भावइ ?"
"अयणाणत्तणु जउ-वइ माहव ।"
"जीव णिकायहो किं दद-चंधणु भुवयुत्तम ?"
"विविह-परिग्गहु गहिणि-सयोहु पुरिसोत्तम ।"

जैसा विषय, वैसी भाषा । ऐसी ज्ञान-चर्चा में भाषा का थोड़ा बोमिल हो उठना अवश्यंभावी है । त्रिभुवन का जो कुछ भी सामने आ सका है, उसमें पांडित्य का गरिमा के साथ ही भाषा का भारीपन भी जुड़ा हुआ है । धार्मिक रुचि वालों के लिए त्रिभुवन के साहित्य में अधिक सामग्री मिल सकती है । जगह जगह उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों को पद्यबद्ध कर दिया है बीच-बीच में सुन्दर स्तोत्र भी आ जाते हैं, जिसमें एक धार्मिक व्यक्ति का विह्वल हृदय स्पष्ट दिखाई पड़ता है ।

स्वयंभू के बाद कृष्ण-काव्य की परंपरा को आगे बढ़ाने वालों में पुष्पदन्त का नाम अग्रणी है । 'उत्तर पुराण' की बारह संधियों (८१-६२) में उन्होंने हरिवंश पुराण की रचना की है । रामकथा की अपेक्षा पुष्पदन्त ने कृष्ण-कथा

कृष्ण लीला और पुष्पदन्त

में विशेष रस लिया है। इसमें महाभारत की कथा से भेद भी कम है, और कथा प्रवाह के बीच काव्यात्मक स्थलों के चित्रण में भी उन्हें काफी सफलता मिली है। पुष्पदन्त ने रुचि के साथ कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन किया है। किशोर-कृष्ण और गोपियों की लीला का एक दृश्य इस प्रकार है —

धूली धूसरेण वर-मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा।
कीला रस-वसेण गोवालय-गोवी हियय-हारिणा ॥
रंगतेण रमंत रमंतें
मथउ धरिउ ममंत अणंतें
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं
अद्ध विरोलिउ दहिउं पलोट्टिउ
कावि गोवि गोविंदहु लग्गी
एण महारी मंथणि भग्गी
एयहि मोल्लु देउ आलिंगणु
णं तो मा मेल्लहु मे पंगणु
काहिवि गोविहि पड्डुव चेल्लउं
हरि-तणु तेयं जायउ कालउं
मूढ जलेण काइं पक्खालइ
णियं गइणु सहियहिं दक्खालइ
थण-रसि छिछ्छ छायावंतउ
मायहिं सगुहं परिधावंतउ
महिस-सिलवउ हरिणा धरियउ
णं कर णिबंधणाउ परिसरियउ
दाहउ गाहय-हथु समारइ
मुह मुह माहय कीलिउ पूरइ
कं पइ अगण मयण-सुद्धउ
बाल-धन्नु व लग्गि सिरद्धउ।

इस तरह पुष्पदन्त के कृष्ण भी कम नटखट नहीं हैं। कभी मथानी तोड़ देते हैं तो कभी आधा-बिलोया हुआ दही लुढ़का देते हैं, आंगन में बछड़ों के साथ दौड़ते फिरते हैं और हवा में दूध दुहने का अभिनय करते हैं। उधर गोपियाँ भी कम प्रगल्भ नहीं हैं। वे टूटी हुई मथानी का मूल्य आलिंगन माँगती हैं और जब कृष्ण के आलिंगन से उनका पाण्डुर चोली काली पड़ जाती है तो मालिन के

कारण उसकी कालिमा दूर करने के लिए पानी से धोती हैं। यह प्रगल्भता और मुग्धता का अद्भुत धूप छाँहीं मिश्रण है।

कोमल प्रसंगों के अतिरिक्त पुष्पदंत ने कृष्ण की 'कालियदमन', 'गोवर्द्धन धारण' जैसी पौरुषमयी लीलाओं का भी चित्रण किया है। गोवर्द्धनधारण से पूर्व की प्रलयोपम वृष्टि का यह बड़ा ही नादानुरंजित चित्र है—

जलु गलइ झलझलइ। दरि भरइ, सरि सरइ।
तडयडइ, तडि पडइ। गिरि फुडइ, सिहि णडइ।
मरुचलइ, तरु घुलइ। जलु थलु, वि गोउलु' वि।
णिरु रसिउ, भय-तसिउ। थरहरइ, किरमरइ।
जाव ताव, थिर भाव। धीरेण वीरेण।
सर लच्छि जयलच्छि। तण्हेण, कण्हेण।
भुर भुरण, भुयजुरण। सिरिथरिउ, उद्धरिउ।
महिहरउ दिण्णियरउ। तम-जडिउ पायडिउ।
महि विवरु, फणि णियरु। फुप्फुवइ, विसु मुयइ।
परि घुलइ, चलवलइ। तरुणाइ, हरिणाइँ।
तठाइँ, णठाइँ। कायरइँ थरथरइँ।
हिंताल चडाल। चडाइँ, कडाइँ।
तासइ, परवसइँ। दरियाइँ जरियाइँ।
गो-वद्धण परेण गो-गामि-णिमासु म जाइउ।
गिरि गोवद्धणउ गोवद्धणेण उच्चाइयउ।

कुल मिलाकर अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा रचित रामकाव्य और कृष्ण काव्य एकदम ऐहिक रंग का चरित काव्य ही है जिसमें कहीं-कहीं धार्मिकता का पुट आ गया है, लेकिन दिव्यता और अलौकिकता का रंग प्रायः नहीं है और भक्ति भावना का तो उसमें सर्वथा अभाव है। हिंदी के भक्त कवियों के रामकाव्य और कृष्ण-काव्य से उनकी कोई तुलना नहीं है।

जैन कवियों द्वारा रचे हुए पुराण-साहित्य में रामायण और महाभारत की कथाओं से कहीं अधिक विस्तार उनके अपने तीर्थंकरों की जीवन-गाथाओं का है।

पुष्पदंत का आदिपुराण

पुष्पदंत का अधिक काव्य-कौशल उनके 'आदि पुराण' में व्यय हुआ है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ उन्होंने राम के लिए केवल ११ संधियाँ दी हैं और कृष्ण के लिए १२ संधियाँ, वहाँ उन्होंने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के लिए ३७ संधियाँ लगा दी हैं। यह स्वाभाविक ही था। आदि पुराण

में ऋषभदेव के जन्म से लेकर महानिर्वाण तक की कथा के अतिरिक्त उनके दो पुत्र भरत और बाहुबलि के भी क्रिया-कलापों का वर्णन है।

प्रथम दो संधियों में परंपरानुसार कवि का आत्म निवेदन, विनय प्रदर्शन, आश्रयदाता की प्रशस्ति, दुर्जन निंदा, सज्जन-प्रशंसा, ग्रंथ-रचना का उद्देश्य वर्णित करने के साथ-साथ ऋषभदेव के अवतार लेने के पूर्व का मंच भूमिका बाँधा गया है। इसके बाद ऋषभ अयोध्या नरेश के घर जन्म लेने का निश्चय करते हैं, इन्द्रादि देवता पहले से ही बड़े पैमाने पर तैयारियाँ करते हैं। ऋषभ के गर्भ में आने के साथ उनकी माँ परंपरानुसार विराट स्वप्न देखती हैं और इन सब के बाद दिव्य शक्ति पुन बालक ऋषभ का जन्म होता है। जब वे बड़े होते हैं तो अन्य राजकुमारों की प्रवृत्ति के विपरीत वे विवाह करना नहीं चाहते लेकिन सभी राजकुमारों की तरह आज्ञाकारी पुत्र होने के कारण वे पिता की आज्ञा नहीं टाल पाते और एक की जगह दो विवाह करते हैं—एक जसवई से और दूसरा सुनंदा से। थोड़े दिनों बाद जसवई से भरत पैदा होते हैं और सुनंदा से बाहुबलि। ऋषभ अपने पुत्रों को सभी विद्याएँ और कलाएँ सिखाते हैं। ऋषभ संभवत इसी तरह सुखोपभोग में जीवन बिताते रह जाते, यदि एक दिन स्वयं इन्द्र उनको उनके अवतार ग्रहण करने के महान उद्देश्य की याद न दिलाते। इस समय एक ऐसी घटना घटती है कि ऋषभदेव को जगत् से वैराग्य हो जाता है। एक दिन राजसभा में नीलांजसा अप्सरा नाचने आती है और नाचते नाचते सहसा गिर पड़ती है और मर जाती है। ऋषभदेव को जीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान होता है। वे भरत को अयोध्या का तथा बाहुबलि को पोयणपुर का राजा बनाकर सन्यास ले लेते हैं और साधना के द्वारा कैवल्य ज्ञान प्राप्त करके जिन-धर्म के प्रचार में लग जाते हैं। उधर वे जैन धर्म का प्रचार करते हैं और इधर भरत तथा बाहुबलि चारों ओर अपने प्रताप का विस्तार करते हैं। इस तरह ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि भरत और बाहुबलि में युद्ध होना है। बारी-बारी से एक दूसरे को हराने के बाद अंत में बाहुबलि को हार माननी पड़ती है। बाहुबलि बड़े भाई को निष्कंटक राज करने के लिए छोड़कर पिता के परामर्श पर जैन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं। इसके बाद भरत प्राय अपने पिता के पास उपदेश लेने के लिए कैलाश जाया करते हैं। अंत में एक दिन भरत को स्वप्न होता है कि कैलाश शिखर हिल रहा है। और अब वह गिरने ही वाला है। जानकार लोगों से जब वे इस स्वप्न का अर्थ पूछते हैं तो मालूम होता है कि यह ऋषभदेव के महानिर्वाण का प्रतीक है। भरत सब को लेकर कैलाश जाते हैं और वहाँ ही मग्न मन से पिता का महा-निर्वाण मनाते हैं। 'आदि पुराण' यहीं समाप्त होता है।

कथा प्रसंग में अनेक युद्धों, विजयों और देश देशान्तरों के वर्णन के साथ ही राजनीति, धर्म, दर्शन और विविध विद्या विषयक गंभीर बातें हैं। कुल मिलाकर यह संपूर्ण पुराण अनेक सामाजिक राजनीतिक बातों का एक विश्व कोश है। जिस तरह 'महाभारत' समाप्त करने के बाद व्यास ने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ कहा कि यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्', उसी तरह 'महापुराण' के अंत में पुष्पदंत ने भी कहा है कि 'इस रचना में प्रकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलंकार, रस, तत्वार्थ, निर्णय—सब कुछ आ गया है, यहाँ तक कि जो यहाँ है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। धन्य हैं वे पुष्पदंत और भरत जिनको ऐसी सिद्धि मिली।'

इस तरह स्वयंभू और पुष्पदंत दोनों ही कवि अपभ्रंश साहित्य के सिरमौर हैं। यदि स्वयंभू में भावों का सहज सौन्दर्य है तो पुष्पदंत में बंकिम भंगिमा है। स्वयंभू की भाषा में प्रसन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत झाँकी, एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का उदाहरण।

इस अंतर के पीछे दोनों कवियों की जीवन-चर्या है। स्वयंभू सुखी संपन्न गृहस्थ, संयत चित्त पुरुष और संतुलित मनोवी थे। वे भरे पूरे परिवार के बीच जीवन का पूर्ण उपभोग करने वाले मनुष्य थे। इसके विपरीत पुष्पदंत का आरंभिक जीवन अभावों और संघर्षों में बीता और सुखद आश्रय मिलने के बाद भी वे प्रायः एकाकी और निःसंग रहे। असंतोष ने उनके जीवन में अद्भुत ढंग की तिक्तता, कटुता, आक्रोश और प्रतिक्रिया की भावना भर दी थी। यही सब देखते हुए स्वयंभू-कृत 'पउम चरिउ' के संपादक डा० भायाणी ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास कहा है और पुष्पदंत को भवभूति।

स्वयंभू के काव्य की श्रेष्ठता का एक कारण संभवतः यह भी हो सकता है कि उनका दृष्टिकोण पुष्पदंत की तरह संकीर्ण और साम्प्रदायिक न था जैन मत को मानते हुए भी उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का पालन किया। जीवन की वास्तविकता का उन्होंने भरसक पूर्वाग्रह-रहित होकर यथार्थ रूप में चित्रित करने की चेष्टा की। आदर्श की इस उच्चता और मानवता ने उनके काव्य को अत्यधिक व्यापकता तथा सर्व हृदय स्पर्शिता की शक्ति प्रदान की। पुष्पदंत की तरह उन्होंने हर जगह जिन-शासन की ही प्रधानता नहीं दिखाई है। स्वयंभू के अभिमन्यु ने मरते समय जिस देव की वंदना की वह सभी प्रकार के धार्मिक विग्रहों से ऊपर है—

'सउहदेण एम चवन्तएण, सो सुमिरिउ देउ मरन्तएण।
जो सव्वहं देवहं अग्गलउ, तइलोक्क सिहरे जसु धवलउ।

जें अट्ठ वि कम्मइँ णिम्मियइँ, जें पचेंदियइ परज्जियइँ।
ज धरिवि महारिस मोक्खु गय, जसु तणए धम्मे थिय जीव दय।
जें णासिउ जाइ-जरा-मरणु, सो सव्वहो तिहुयणहो जे सरणु।
जो वहइ णिरंजण परम छवि, जसु सोउ विओउ विणासु णवि।
जो ण इय णउँसउ णइय तिय, ण पयड एक्क वि जासु किय।
जो णिक्कलु सन्तु पराहिपरु।
णारायणु दिणयरु वइसवणु, सिउ वरुणु हुवासणु ससि पवणु।
जो होउ सु होउ सुणन्तु थिउ, एक्कन्तें करेप्पिणु कालु किउ।[1]
—(रिट्ठ० ५५।१०।१ १०)

"अभिमन्यु ने उस देव को स्मरण किया जो सभी देवों में अग्रणी है, जिसका स्थान त्रैलोक्य शिखर पर है, जिसने आठों कर्मों को जीत लिया है, जिसने पंचेन्द्रियों को पराजित कर डाला है, जिसे आधार बनाकर महर्षियों ने मोक्ष प्राप्त किया, जिसके धर्म में जीवदया का स्थान है, जिसने जन्म-जरा-मरण का नाश कर दिया है, जो सभी त्रिभुवन की शरण है, जो निरंजन परम छवि वहन करता है, जिसे शोक-वियोग-विनाश नहीं होता, जो न नर है न स्त्री है और न नपुंसक है, जो एक भी क्रिया में भाग नहीं लेता, जो निष्कल (अविभाज्य) है, सन्त है, परात्पर है, जो नारायण दिनकर वैश्रवण, शिव वरुण हुताशन शशि पवन है। वह चाहे जो हो अभिमन्यु उसे एकान्त भाव से स्मरण करके मर गया।"

इन पंक्तियों में अभिमन्यु ने परम देव के विषय में जो बातें कही हैं वह स्वयंभू के विचार भले ही न हों, परंतु इनसे पता चलता है कि स्वयंभू अपनी रचना के पात्रों के धार्मिक विचारों पर अपने मत का आरोप करना अच्छा नहीं समझते थे। अपने निजी विचारों से अपने पात्रों का स्वतंत्र रखने से बढ़ कर पूर्वग्रहहीनता और क्या हो सकती है! वास्तववादी कवि ही ऐसा कर पाते हैं। स्वयंभू की उदाराशयता इसी बात में है। उनकी श्रेष्ठता का यही रहस्य है।

जिस तरह 'महाभारत' और 'रामायण' के एक-एक चरित्र को लेकर संस्कृत के परवर्ती कवियों ने प्रबंध काव्यों की रचना की, उसी प्रकार पुष्पदंत के 'महापुराण' के मुख्य-मुख्य शलाका पुरुषों के जीवन चरित को लेकर अपभ्रंश के जैन कवियों ने चरित-काव्य लिखे। इनमें तीर्थंकर नेमिनाथ, चक्रवर्ती बाहुबली तथा शालिभद्र का चरित्र ऐसा ही है। नेमिनाथ को लेकर लिखा हुआ

जैन परंपरा के अन्य पौराणिक पुरुषों संबंधी काव्य

[1] डा० भायाणी द्वारा पउमचरिउ भूमिका पृ० १२ पर उद्धृत।

सबसे प्रसिद्ध अपभ्रंश काव्य हरिभद्र सूरि (११५९ ई०) का लिखा हुआ 'नेमिनाथ चरिउ'[1] है। हरिभद्र सूरि का 'नेमिनाथ चरिउ' लगभग सात संधियों और ८०३ श्लोकों का छोटा सा प्रबंध काव्य है। इसकी भाषा अत्यधिक अलकृत है और समास-बहुल है। प्राय प्रकृति चित्रणों में पुरानी रूढ़ियों का ही पालन अधिक है, जैसे प्रभात वर्णन का यह अंश—

तवणु वियलिर तिमिर धम्मिल्लु परिल्हसिर
तारय-वसणु कलयलंत तव सिहर पक्खिवय।
परिसदिर कुसुम-महु विंदु मिसिणिए पड महुक्खिय।

अर्थात् तिमिर धम्मिल (केश) तपन से विदलित हो गये, तारक-वसन खिसक गये, तरु शिखरों के पक्षी कुलकुल करने लगे और बड़ी-बड़ी आँखों जैसे कमलों से मधुबिंदु टपकने लगे।

लेकिन राग रङ्ग के वर्णनों में इस भाषा ने वातावरण उपस्थित करने में विशेष सफलता दिखलाई है जैसे—

वज्जंत गज्जंत बहु मेय तूरं
लब्भिन्ता दिज्जंत कप्पूर पूरं
पणच्चंत गायंत वेसा-समूहं
दविज्जंत हिंडंत वायवणहं
पत्त गच्छंत विहंत बहुसज्जणं
लेंत वियरंत सुयसंत जण रंजणं
न्हंत पिज्जंत दिज्जंत बहुमक्खय
लोय उल्लसिय बहु मेय मणसुक्खय
धावंत फीलंत खगात खुज्जयगणं
धत उट्ठंत निवडंत बालयजणं

नेमिनाथ के चरित पर जो दूसरा अपभ्रंश ग्रंथ प्राप्त है, वह है विनयचन्द्र सूरि (१२०० ई) की 'नेमिनाथ चउपइ'।[2] विनयचन्द्र ने संपूर्ण काव्य चौपाइयों में लिखा है। रचना बहुत बाद की मालूम पड़ती है, फिर भी काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश की यह पहली कृति है जिसमें 'बारहमासा' मिलता है। इससे पहले संस्कृत और प्राकृत की परंपरा के अनुसार प्रायः 'षड्ऋतु

---

[1] डा याकोबी द्वारा उसका एक अंश सणंकुमार चरिउ संपादित, १९२१ ई०

[2] प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह १९२० में संग्रहीत।

वर्णन' ही दिखाई पड़ता है। हिंदी में यह 'बारहमासा' ही अधिक लोकप्रिय हुआ। नेमिनाथ जब वैराग्य ले लेते हैं तो उनके वियोग में उनकी पत्नी राजल देवी अथवा राजमती विलाप करती है। ऐसे ही मार्मिक विरह विलाप का पुंज 'नेमिनाथ चउपई' का यह 'बारहमासा' है। यह 'बारह-मासा' श्रावन से शुरू होकर अषाढ़ में समाप्त होता है। इसके कुछ महीनों के वर्णन की बानगी देखिए—

श्रावणि सरवणि कडुय मेहु
गज्जइ, विरहिनि झिज्जइ देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेवँ
नेमिहि विणु सहि सहियइ केंव
भाद्रवि भरिया सर पिक्खेवि
सकरुण रोअइ राजल देवि।
हा एकलडी मइ निरधार
किम ऊवेखिसि करुणासार।
भणइ सखी राजल मन रोइ
नीठुरु नेमि न अप्पणु होइ।
सिंचिय तरुवर पारि पलवंति
गिरिवर पुणि कउ डेरा हुंति।
साँचउ सखि वरि गिरि भिज्जंति
किमइ न भिज्जइ सामल कंति।
घण वरिसंतइ सर फुट्टन्ति
सायर पुण घण ओहइ हुलंति।
कत्तिग खित्तिग उग्गइ संझ
रत्नमति भिंभिउ हुइ अति झंझ।
फागुण वागुणि पन्न पडंति
राजल दुक्खि कि तरु रोयंति।
चैत्र मासि वणसइ पगुरइ
वणि वणि कोयल टहका करइ।

सावन में बिजली का झबकना, भादों में आँखों के सामने भरे ताल का लहराना, कार्तिक में क्षितिज पर उगती हुई साँझ, फागुन में पेड़ों से पत्तों के आँसू भरना, और चैत्र में वन वन कोयल का टहका करना—ये सभी ऐसी बातें हैं जो विरही तो विरही, स्वस्थ मन को भी अनमना बना देती हैं। विनयचन्द्र ने एकदम हल्की फुल्की भाषा में प्रकृति का चित्र खड़ा कर दिया है, साथ ही साथ

सादे ढंग से नारी-हृदय की व्यथा भी कह दी है। वियोग के ऐसे मार्मिक वर्णन अपभ्रंश साहित्य में कम हैं।

नेमिनाथ की ही तरह बाहुबली का भी चरित्र अत्यंत काव्योपम है, परंतु नेमिनाथ का चरित जहाँ कोमल भावों का आलंबन है, वहाँ बाहुबली का व्यक्तित्व शौर्य का प्रतीक है। बाहुबली को लेकर लिखे हुए अपभ्रंश-काव्यों में शालिभद्र सूरि (११८४ ई०) का बाहुबलि रास अत्यंत प्रसिद्ध है।[१] शालिभद्र ने बाहुबलि की सेना की जययात्रा का बड़ा ही ओजपूर्ण वर्णन किया है शौर्य का ऐसा ओजस्वी वर्णन जैनों के धार्मिक साहित्य में कम मिलता है। चपल घोड़ों की यह चाल देखिए—

हींसइँ हसिमिसि हणहणइँ तरवर तार तोषार।
खडइँ खुरलइँ खेडविय, मन मानइ असुवार॥
पाखर पखि कि पंखरुय, ऊडाऊडिहि जाइ।
हुंफइ तलपइँ सवइँ धसइँ, जडइ जकारिय धाइ॥
फिरइँ फेकारइ फारणइँ, फुड फेयाउलि फार।
तरणि-तुरंगम समतुलइँ, देखिय सरल ततार॥

और इस वर्णन के साथ ही गजों, भटों और घोड़ों के कारनामों का भी एक चित्र—

गड गडंत गय गडिय गेलि गिरिवर सिर टालइँ।
गुगलीय गुलगइँ चलत करिय कलालइँ॥
बुडइँ भिडइँ भड़ हडइँ खेदि खडखडइ खडालडि।
घणिय धुणिय घोसयइँ दड़ दो दड़ा तड़ा तडि॥
खुरतलि खालि खणंति खेदि तेजिय तरवरिया।
समइँ धसइँ धसमसइँ साहि पय सइ पाषरिया॥

इस में चेष्टित अनुप्रास और कोरी नादानुकृति की ही छटा नहीं, बल्कि चित्र की गतिशीलता और सक्रियता भी है।

चरित-काव्य

पौराणिक पुरुषों पर लिखे गये काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश के जैन-साहित्य में कुछ ऐसे चरित-काव्य हैं जो उस परंपरा के कुछ लोक प्रिय व्यक्तियों को लेकर लिखे गये हैं। नागकुमार, यशोधर, करकंडु आदि कुछ ऐसे ही विशिष्ट व्यक्ति हैं

---

१ मुनि जिन विजय द्वारा भारतीय विद्या (वर्ष २, अंक १) में प्रकाशित।

जिनको लेकर जैन कवियों ने बहुत कुछ लिखा है। अपभ्रंश में नागकुमार के चरित से सबंधित सबसे प्रसिद्ध काव्य पुष्पदंत का नागकुमार चरित[1] अथवा णायकुमार चरिउ है। 'नागकुमार चरित' पुष्पदंत की दूसरी रचना है इसे उन्होंने 'महापुराण' के बाद भरत-मंत्री के पुत्र नन्न के आश्रय में लिखा था। नौ संधियों के इस छोटे से प्रबन्ध काव्य में 'श्रुत पंचमी' का माहात्म्य बतलाने के लिए नागकुमार की कथा सुनायी गयी है। नागकुमार मगधदेशीय कनकपुर के राजा जयधर की दूसरी रानी पृथिवी देवी के पुत्र थे। जयधर की पहली रानी विशालनेत्रा थीं और उससे उन्हें श्रीधर नाम का एक पुत्र भी हुआ था। राजा ने दूसरी शादी यों की कि उनके यहाँ एक दिन एक अद्भुत व्यापारी आया और उसने राजा को गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वी देवी का चित्र दिया। चित्र राजा को इतना पसंद आया कि उन्होंने उस राजकुमारी से शादी कर ली। बाद में मालूम हुआ कि व्यापारी के वेश में स्वयं वासव ही आये थे।

नागकुमार चरित

पृथ्वी देवी रानी होकर आई तो लेकिन पहली रानी विशालनेत्रा के वैभव से उन्हें ईर्ष्या होने लगी। एक दिन जब विशालनेत्रा राजा के साथ उद्यान में क्रीड़ा के लिए गयी तो पृथ्वीदेवी जिन-मंदिर चली आई। यहाँ मुनि पिहिताश्रव ने उन्हें धर्मोपदेश दिया और साथ ही पुत्रवती होने का आशीर्वाद भी। नागकुमार इसी आशीर्वाद के फल-स्वरूप पैदा हुआ। नागकुमार उस पुत्र का नाम इसलिए पड़ा कि पुत्र उत्पन्न होने के बाद राजा और रानी पुत्र को लेकर फिर मुनि के दर्शन के लिए गये। इधर राजा-रानी मुनि से बातें कर रहे थे उधर पुत्र कुएं में गिर पड़ा। कुएँ में एक नाग ने उस राजकुमार की रक्षा की और वहाँ से वह राजकुमार को नाग-लोक ले गया। वहीं उसका नाम नागकुमार हुआ और उसने एक नाग कन्या से शादी भी की। कुछ दिन नागलोक में रहने के बाद नागकुमार पृथ्वी पर आया। यहाँ उसने अपनी माँ की दुर्दशा देखी। राजा ने उसे दण्ड देकर उसके सभी आभूषण छीन लिये थे। नागकुमार अपनी माँ का आभूषण पहनाने के लिए जुआ खेलने गया और जीत कर बहुत सा आभूषण ले भी आया। जब राजा ने यह सुना तो स्वयं भी उसे जुआ खेलने के लिए बुलाया और अपने पुत्र से जुए में सारा राज-पाट हार बैठा। नागकुमार ने केवल अपनी माँ के गहने लेकर बाकी सब कुछ पिता को लौटा दिया।

नागकुमार के ऐसे ही प्रतापी कार्यों से उसके सौतेले भाई श्रीधर को ईर्ष्या हुई। उसने नागकुमार की हत्या करने का प्रयत्न किया लेकिन सफल न हो सका।

---

१ श्री हीरालाल जैन द्वारा 'कारंजा सीरीज' में सम्पादित १९३३ ई०

इसके विपरीत नागकुमार ने बिगड़ैल हाथी को ठीक करने जैसे जीवट के कार्यों से लेकर वशीवादन जैसे कलापूर्ण कार्यों में भी उसके ऊपर विजय प्राप्त की। इस सिलसिले में नागकुमार ने अनेक शादियाँ कीं लेकिन सभी रानियों में उसे लक्ष्मीमती ही प्रिय थी। एक दिन उसने मुनि पिहताश्रव से इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि पूर्व जन्म में दोनों ने 'श्रुतपञ्चमी' व्रत किया था। इसपर मुनि 'श्रुत-पञ्चमी व्रत' का विधान बताते हैं। नागकुमार बहुत दिनों तक सुखपूर्वक जीवन बिताने के बाद अंत में तपस्या करने चले जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं।

कथा में ईर्ष्या-कलह शौर्य, स्नेह आदि अनेक लौकिक दशाओं के अतिरिक्त पाताल पुरी नागलोक आदि की बहुत सी अलौकिक घटनाएँ भी वर्णित हैं। वर्णन कहीं कहीं बड़ा ही यथार्थवादी दिखाई पड़ता है जैसे एक स्थान पर वेश्या बाजार का इस प्रकार चित्रण है—

कावि वेस चिंतइ गय सुण्णा
प धण एयहो गइहिं ण भिण्णा।
कावि वेस चिंतइ किं थद्धिय
पीलालय एएण ण कड्डिय।
कावि वेस चिंतइ किं हारें
कडु न छिण्णउ एण कुमारें।
कवि वेस अहरग्गु समप्पइ
भिज्जइ खिज्जइ तप्पइ कंपइ।
कावि वेस रस सलिलें सिंचिय
वेवइ वलइ घुलइ रोमंचिय।
ता वीणा-कलरव मासिणिए देवदत्तए रायविलासिणिए
हिय उल्लए कामदेउ ठविय कय पंजलि-हत्थें विण्णविउ।
'परमेसर कारणु वियप्पहि
जिय मणु तिहु घर-पंगणु चप्पहि।"

यशोधर अथवा जसहर के जीवन चरित को लेकर भी जितने काव्य लिखे गये हैं उनमें पुष्पदंत का ही जसहर चरिउ[1] सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

'जसहर चरिउ' पुष्पदन्त की तीसरी और अंतिम कृति है। इसे उन्होंने मान्यखेट की लूट के समय ९७२ ई० के आस पास लिखा था। चार संधियों के इस छोटे से खण्ड काव्य में

जसहर चरिउ

१ डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य द्वारा 'करंजा सीरीज' में सम्पादित १९३१ ई०

कापालिक मत के ऊपर जैन धर्म के विजय की कहानी बड़े ही प्रभावशाली ढङ्ग से कही गयी है। यौधेय-देशीय राजपुर नगर में एक दिन कापालिकाचार्य भैरवानद पधारे। उनकी महिमा सुनकर राजा ने उन्हें पास बुलाया और आकाश में उड़ने की सिद्धि माँगी। भैरवानन्द ने इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए देवी की विधिवत् पूजा का विधान बताया। पूजा विधि का मुख्य अग था नर-युग्म की बलि। राज पुरुषों को तत्काल आज्ञा हुई और वे नगर में घूमते हुए दो बालक और बालिका क्षुल्लकों को पकड़ लाये। ये क्षुल्लक सुदत्त नामक तपस्वी के शिष्य थे। राजा के सामने जब ये क्षुल्लक लाये गये तो उनके मुख पर कुछ ऐसे सामुद्रिक चिन्ह दिखाई पड़े कि राजा ने उनके वध की आज्ञा देने की जगह उनका परिचय पूछा। क्षुल्लकों ने अपने गुरु से जैसा सुना था उसी के अनुसार उन्होंने अपने पूर्व-जन्मों की सारी कहानी सुना दी। कथा प्रसग में भेद खुला कि इनमें एक पूर्व जन्म का यशोधर है और दूसरी बालिका उसकी माँ है। विविध कर्मों के अनुसार ये कभी पशु योनि म पैदा हुये और कभी नर योनि म—कभी पति-पत्नी क रूप म, कभी भाई-बहन के रूप में और कभी माँ-बेटे क रूप में। वतमान राजा और रानी भी उनके साथ पूर्व जन्मों में अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे।

यह सब सुनकर राजा को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और अत में भैरवानद क साथ राजा-रानी क्षुल्लकों के गुरु सुदत्त के पास जाकर जैन धर्म में दाखिल हो गये।

पूरी कथा बड़ी ही पचीदी है—केले के पात-पात म पात की तरह इसमें कहानी क भीतर कहानी है नाना जन्मान्तरों की ऐसी पेचीदी कहानी अपभ्रंश में कोई नहीं है। आदि और अत म धार्मिकता क पुट के अतिरिक्त बीच की सारी कथा अत्यन्त यथार्थवादी है जिसमें राजाओं के नाना कूट-छल, पर-स्त्री आसक्ति, पर पुरुष अनुरक्ति, धोखा-धड़ी, हत्या चोरी आदि मानवीय दुर्बलताओं का निर्मम उद्घाटन है। काव्य में जगह-जगह महाकवि पुष्पदन्त की वर्णनशक्ति का पता चलता है। आरभ में उन्होंने भैरवानन्द कापालिक का बड़ा ही सटीक चित्रण किया है।

> बहु सिक्खहिं सहियउ डंभधारि
> घरि घरि हिंडइ हुंकार कारि
> सिर टोप्पी दिण्ण रउण्ण वण्ण
> सा भ्रमरि सन्निय कालिण कण्ण
> अगुल दुत्तास परिमाणु दडु
> हत्थें उप्पालिवि गहइ चडु

गलि जोगवट्टु रजिउ विचित्तु
पाउडिय जम्मु पइदिएणु दत्तु
तड तड तड तड तड तडिय सिंगु
भिगमयु छेवि किउतेण चंगु।

भैरवानन्द का क्या ही सुन्दर वेश है। दोनों कानों को ढके हुए अनेक रत्नों वाली टोपी, हाथों में उछलता हुआ बत्तीस अंगुल लंबा डंडा, गले में विविध योगपट्ट। गली गली चंग खड़काते और सिंगा बजाते हुए दंभपूर्ण ढङ्ग से घूमना।

इसी तरह 'राज प्रांगण' का भी एक जगह यथार्थ चित्र उपस्थित किया गया है। कवि वहाँ के आडंबरपूर्ण निर्जीव और नीरस वातावरण को देखकर विषएण हो उठता है और अपने इस भाव को खुलकर प्रकट कर देता है।

अत्थाण भूमि गउ मणि विसएणु।
कणय-मय-रयण विहरि णिसएणु।
दो पासइँ चमरइँ महु पडति
पहु दुकल-सहासइ ण घटति।
सहमडवि खुज्जय-वावणाइ
णच्चंतइ णिव कोड्डावणाइ।
पयाइ जइवि णिव सुहयराइ
महु पुणु सुविरत्त हो दुहयराइँ।
पोत्थय-वायणु आम्म्त सरसु
मण-रवणाइ ज जणि जणइ हरिसु।
अवलोइय वार-वहु महँ थावंत
पडियायवाइँ थावइ कुमित्त।

करकण्डु के जीवन चरित पर लिखी गई कहानियों में कनकामर मुनि (१०६५ ई०) का करकंड चरित[१] ही अपभ्रंश में इस समय तक प्राप्त है। 'करकंडु चरित' कई लोगों ने लिखा है रइधू लिखित 'करकंडु-चरित' का भी उल्लेख मिलता है लेकिन अभी तक उसका पता नहीं चल सका है। जैन परंपरा के अनुसार करकंडु ईसा से लगभग आठ सौ वर्ष हुए थे। इनका मान दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों में है। बौद्ध जातकों में भी ये 'प्रत्येक-बुद्ध' रूप में स्वीकृत एक महात्मा हैं। मुनि कनकामर ने ऐसे ही महापुरुष को अपना चरित-नायक बनाया है। कनकामर के विषय में इतना ही मालूम है कि वे 'आसाइय' नगरी के रहने

१ श्री हीरालाल जैन द्वारा 'कारंजा जैन ग्रंथमाला' में सम्पादित (१९३४ ई०)

पास थे, या संभवत बुन्देलखंड में कहीं था।

दस संधियों में इस प्रबंध काव्य के तीन-चौथाई भाग में करकंडु की मुख्य कथा है और शेष चौथाई भाग में नौ अवांतर कथाएँ हैं इन अवांतर कथाओं में से एक कथा नरवाहन दत्त की है जो संस्कृत में प्रचलित कथा से थोड़ी भिन्न है। ये आवान्तर कथाएँ राजा को नीति की शिक्षा देने के बहाने कही गयी हैं।

मुख्य कथा इस प्रकार है। एक बार चंपाधीश धाड़ीवाहन अपनी रानी मदनावती के दोहद निमित्त हाथी से कहीं जा रहे थे कि सहसा हाथी मदोन्मत्त होकर भागने लगा। ऐसे संकट में रानी की सलाह से राजा तो एक डाल के सहारे बच निकले, लेकिन रानी एक मुरघट स्थान पर पहुँच गई और वहीं उन्होंने पुत्र प्रसव किया। पुत्र को एक माला ने पाला और आगे चलकर हाथी द्वारा पराहृत के बाद उसे चक्रवर्ती समझकर दंतिपुर का राजा बनाया गया। वहीं से उसने सौराष्ट्र की राजकुमारी से विवाह किया। उस राजकुमार का नाम करकंडु इसलिए पड़ा कि बचपन में उसके कर में कंडु अथवा खुजली हो गयी थी। कुछ दिनों बाद चंपा के राजा ने करकंडु के पास अधीनता स्वीकार कर लेने की धमकी भेजी, परंतु इस धमकी की परवा न करके करकंडु ने युद्ध का निश्चय किया। युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान में पिता ने पुत्र को पहचान लिया और तुरन्त अपना सारा राज-पाट सौंप दिया। इसके बाद करकंडु ने दक्षिण के चोल, चेर, पांड्य राज्यों पर भी चढ़ाई की। इस अभियान में उसकी रानी मदनावती हर ली गई। दुखी राजा को एक सुर ने आकर रानी के मिलने का आश्वासन दिया। करकंडु वहाँ से सिंहल गये। सिंहल नरेश ने उनके साथ अपनी पुत्री ब्याह दी। नई रानी के साथ करकंडु जब समुद्र-मार्ग से लौट रहा था तो एक मत्स्य ने बाधा दी। राजा ने उस मत्स्य को मार दिया लेकिन फिर स्वयं एक विद्याधर द्वारा हर लिया गया। रानी ने काफी व्रत वगैरह करके उसे प्राप्त किया। लौटते वक्त करकंडु ने दक्षिण के राज्यों को जीत लिया और राह में उसे पहली रानी भी प्राप्त हो गई। अन्त में एक दिन मुनि शील गुप्त से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनकर राजा करकंडु तपस्या के लिए निकल पड़ा।

नाना देश देशान्तरों में भ्रमण के कारण कथा में प्रसार और वर्णन में व्यापकता आ गयी है। कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से इस काव्य की कथा अत्यन्त समृद्ध है अनेक स्थलों पर कहानी में लोक-कथाओं की झलक मिलती है। काव्य सौष्ठव की दृष्टि से रचना सामान्य कोटि की है।

कथा-काव्य

पौराणिक पुरुषों का गाथाओं और जनश्रुतियों में प्रसिद्ध राजकुमारों के चरित-काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश में कुछ ऐसे भी प्रबन्ध-काव्य रचे गये जिनकी कहानी कवि की एकदम कल्पित वस्तु है अथवा किसी लोक कथा के आधार पर कवि द्वारा स्वतंत्र रूप से गढ़ी गयी है। ऐसे आख्यान-काव्य का चरित-नायक कोई प्रसिद्ध राजा अथवा राजकुमार नहीं होता, बल्कि सामान्य वणिक पुत्र होता है।

भविस्सयत्त कहा

अपभ्रंश में इस तरह का एक कथा-काव्य मिलता है। यह है धनपाल (१० वीं शताब्दी ई०) रचित भविसयत्तकहा[1] अथवा भविष्यदत्त कथा। इसका दूसरा नाम 'सुयपंचमी कहा' भी है क्योंकि 'सुयपंचमी' महात्म्य के लिए यह कही गयी है। बाइस संधियों के इस प्रबन्ध काव्य में एक तरह से तीन तरह की कथाएँ जुड़ी हुई हैं। कथा का पहला भाग शुद्ध घरेलू ढंग की कहानी है जिसमें दो विवाहों के दुखद पक्ष को उजागर किया गया है। इसमें वणिकपुत्र भविष्यदत्त के भाग्य का गाथा है जो अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के द्वारा कई बार छले जाने पर भी अन्त में जिन-महिमा के कारण सुखी होता है। इस काव्य की कथा का मुख्य अंश यही है और कवि ने इसे आराम से चौदह संधियों में कहा है। चौदहवीं संधि के आरंभ में उसने स्वयं इस कहानी का सारांश इस प्रकार दिया है—

> उप्पण्णउ विरु वणि वरहँ गोत्ति
> परिवड्ढिउ मामहँ सालि पुत्ति।
> वाणिज्जें गउ सव्भायरेण
> छलिउ सावत्ति भायरेण।
> परिहविया गंपि नरनाहु विहु
> तेणवि सम्माणिउ किउ वरिहु।
> हुअ बहु मडलवइ नर-वरिंदु
> उच्चाइउ निय-सुहि-सयण-विंदु।
> पढउ जायवेण्णु मच्चलाइ
> म करहु गव्व संपय विहाइ।
> वारंपर-कम्मह लद्धिउ भेउ
> भइ भरिउ सरसइ वणिया एउ।

१ श्री दलाल और गुणे द्वारा 'गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज' में सम्पादित १६२३ ई०

पूरी कथा इस प्रकार है कि राजपुर में धनपति नामक एक नगरसेठ रहता था। उसने उसी नगर के एक दूसरे वणिक हरिबल की कन्या कमल श्री से विवाह किया जिससे कुछ दिनों के बाद भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। न जाने पूर्व जन्म के किस कर्म के कारण धनपति का प्रेम कमलश्री से हट गया और उसने कमलश्री को पीहर भेजकर सरूपा नामक एक दूसरी लड़की से शादी कर ली। शीघ्र ही सरूपा से बंधुदत्त नामक पुत्र हुआ। जब बधुदत्त सयाना हुआ तो पिता ने उसे वाणिज्य के लिए देशान्तर जाने की आज्ञा दी। बंधुदत्त ने अन्य अनेक वणिक-पुत्रों के साथ कंचनदेश की यात्रा की। भाई को व्यापार के लिए जाते देख भविष्यदत्त ने भी साथ हो लेना चाहा। कमलश्री ने पुत्र को बहुत मना किया कि बंधुदत्त के साथ मत जाओ लेकिन भविष्यदत्त ने बंधुदत्त पर विश्वास करके यात्रा आरम्भ कर दी। यात्रा पर जाने से पहले बंधुदत्त की माँ ने पुत्र को उपदेश दिया कि भविष्यदत्त को उठाकर समुद्र में फेंक देना और भविष्यदत्त की माँ ने सदाचार-पालन का उपदेश दिया। यात्रा आरम्भ होने के कुछ ही दिनों बाद अचानक तूफान आ गया और इस साथ की नौकाएँ तिलक द्वीप से जा लगीं। वहाँ उतरने पर जब भविष्यदत्त फूल आदि लेने कहीं चला गया तो बंधुदत्त उसे उस द्वीप में अकेले छोड़कर चल पड़ा।

अकेला भविष्यदत्त इधर-उधर भटकते हुए एक ऐसी वैभवशाली नगरी में पहुँचा जो जनशून्य थी। वहाँ उसे एक सुन्दरी मिली और वहीं एक राक्षस भी आ टपका उसने उन दोनों का विवाह करा दिया। बारह वर्ष तक उस नगरी में सुख-पूर्वक जीवन बिताने के बाद भविष्यदत्त अंत में अपार धनराशि लेकर अपनी पत्नी के साथ घर चलने को प्रस्तुत हुआ। ज्योंही वह किनारे पहुँचा, उसका भाई बंधुदत्त भी आ पहुँचा और उसने अपने किये पर पश्चात्ताप प्रकट किया। चलने से पहले भविष्यदत्त ज्योंही जिन-मंदिर में प्रणाम करने गया, बंधुदत्त उसकी पत्नी सहित सारी धनराशि लेकर निकल गया। घर आकर बंधुदत्त ने भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी पत्नी बतलाया और विवाह इत्यादि की विधि निश्चित कर ली। इधर भविष्यदत्त की माँ 'सुय पंचमी' व्रत रहती है और उधर भविष्यदत्त जिन की पूजा करता है। इन दोनों के फलस्वरूप उसकी मदद के लिए एक देव उपस्थित हुआ और उसने अपार धनराशि के साथ भविष्यदत्त को घर पहुँचा दिया। भविष्यदत्त ने घर पहुँच कर सारा भेद खोल दिया और राजा के पास न्याय की माँग की। राजा ने बंधुदत्त को दण्ड देकर भविष्यदत्त को उसकी पत्नी वापस करा दी। यहीं प्रथम खंड समाप्त होता है।

दूसरे खंड में क्रमशः दो प्रकार की कहानियाँ हैं। पहली तो यह कि

कुरुराज और तक्षशिला नरेश में लड़ाई हुई जिसमें भविष्यदत्त ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया और उसी के पराक्रम से कुरुराज की जीत हुई। पुरस्कार स्वरूप राजा ने आधा राज्य और अपनी लड़की भविष्यदत्त को दी। कहानी का अंतिम मोड़ यह है जिसमें भविष्यदत्त के विविध पूर्व जन्मों की अद्भुत कहानियाँ कही गयी हैं और जिनके सुनने पर यह अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य देकर तपस्या के लिए निकल पड़ा। इस प्रकार दूसरे खंड की कहानी ऊपर से जोड़ी हुई अथवा कवि द्वारा जान-बूझ कर सोद्देश्य विकृत की हुई मालूम पड़ती है। कहानी के पहले खंड में लोक-कथा का जो सहज रस है, वह अंतिम खंड के सोद्देश्य मोड़ से नष्ट हो जाता है। संभवत इसीलिए धनपाल ने स्वयं ही इस कथा के दो खण्ड कर दिये हैं।

काव्य में कई मार्मिक स्थल हैं जहाँ धनपाल की काव्य प्रतिभा स्फुट हुई है। लेकिन अनेक दृष्टियों से वह प्रसंग सर्वोत्तम है जब भविष्यदत्त तिलक द्वीप में अकेला छोड़ दिया जाता है और व्याकुल होकर इधर-उधर घूमता है। न जाने कितने बड़े-बड़े हौसले लेकर वह घर से निकला था, माँ को कितने कितने वादे उसने किए थे। लेकिन अब सभी आशाओं पर पानी फिर गया। वह अकेले पड़ा-पड़ा सोच रहा है—

गय णिप्फल ताम सव्वं वणिज्ज।
हुव अम्ह गोतम्मि लज्जावणिज्ज॥
ण जत्ता ण वित्त ण मित्त ण गेह।
ण धम्म, ण कम्म, ण जीयं, ण देहं॥
ण पुत्तं कलत्तं, ण इट्टं ण दिट्टं।
गयं गयउरे दूर देसे पइट्टं॥

और ऐसे ही विपण्ण मन वाले व्यक्ति की आँखों के सामने वह उजाड़ नगरी पड़ती है जिसमें सब कुछ है लेकिन कोई जीवित व्यक्ति नहीं है। देखकर लगता है कि सब कुछ सजा हुआ छोड़कर कोई कहीं चला गया है। वह देखता है कि—

वावि-कूव-सुप्पहूव सुप्पसण्ण वण्णय
मढ विहार देउलेहि सुट्ठ तं रवण्णय।
दस-मंदिरेसु तेसु अंतर णियच्छुए
सो ण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छुए।
सुरहि-गंध-परिमल पसुणेहि पंसए
सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए।

गिफ्फ सालि षएगयं पराहयम्मि ताणए।
सो ग वि धु जो घरम्मि लेवि सं पराणए।
सर-वरम्मि पकयाइ ममिर-ममर-कदिरे
सो ग वि धु जा खुण्पिवि णेइ ताइ मदिरे।
इत्य गिफ्फ वर-फ्लाइ विमएग गिस्त्रए
षेण कारणेण को वि तोडिउं ण मक्खए।

कितना बड़ा अभिशाप है कि प्रसून सुरभि-गंध-परिमल से स्पर्श कर रहे हैं लेकिन उन्हें हाथ से लेकर सूँघने वाला कोई नहीं है पके हुये धान के दाने बिखर रहे हैं, लेकिन उन्हें घर ले आकर उपभोग करने वाला कोई नहीं है सरोवरों में गूँजते हुये भौंरों से कमल घिरे हैं, लेकिन उन्हें तोड़कर मन्दिर में ले आनेवाला कोई नहीं है और फलों के भार से पेड़ स्वयं ही झुक आये हैं, लेकिन आश्चर्य है कि उन्हें चखने वाला कोई नहीं है।

और उपवन से आगे चलकर वह राजभवन के पास पहुँचता है तो उसका हृदय (मुँह नहीं) एक एक चीज को देखकर भर आता है। गवाक्षों को आधा खुला छोड़कर कोई चला गया है जैसे ये किसी नव वधू का अधखुली आँखें हों। फलक पर शुभ्र अन्तर्देश हैं लगता है जैसे ये वनिताओं के अधखुले ऊरु प्रदेश हों। भरे पूरे समृद्ध भाण्ड स्वयं अपना अन्तर्भाग दिखला रहे हैं जैसे नागिन के मुकुट के चिन्ह हों। रध्रों में एकघनाभिलाषी पुष्पों की तरह दीपक जल रहे हैं। योगियों की तरह अविचलित खम्भे खड़े हैं, जैसे सुरतारम्भ के समय मिथुन निवसन हो गये हों। गोपदों से परिवर्तित मार्गों वाले गोपुर दिखाई पड़ रहे हैं। जो महत्तर भवन बहुत दिनों तक जनाकुल थे, वे भी अब सुरत समाप्ति के मिथुनों की तरह निष्पन्दित हो गये हैं। जो घाट पनिहारिनियों के निरन्तर आने-जाने से नूपुरों की झनकार से गुंजित रहते थे, वे अब विधिवश निःशब्द हो गये हैं। यह सब देखते देखते भविष्यदत्त के अंग उन्मथित हो उठे और वह अपने शरीर के प्रतिबिंब को देखता हुआ धीरे धीरे सवरण करने लगा।

णिग्गइ मंदिराइ फल अद्धुग्धाडिय-भाभ-गवक्खइ
अद्ध पलाइराइ ण णार-वहु-णयण कडक्खइँ।
अह फलहंतरेण हरिसिय-मुभंतर-देसइ
अद्ध-पर्यसियाइ विलयाण व ऊरु-पएसइँ।
णिग्गइ भायणाइ भरियंतर भड-समिद्धइ
दयडिय-पएगयाइ ण णाइणि-मउडइं चिंधइ।

एनइ धणविलास पुरिसाइं व रधि पलित्तइ
वरइत्त-कुराणइं ण वहइ कुमारिहु चित्तइ।
जोएसर विवाय करणाइं व जाइय थंभइ
विहडिय-वेसणाइं मिहुणाण व सुरयारम्भइ
दिक्खइ गोउराइं परिवज्जिय-गायय-मग्गइं
पासायंतराइं पवणुद्धुअ धवल-धयग्गइं।
जाइं जणाउलाइं चिरु आसि महल्लरं भवणइँ
ताइ मि णि-म्मणुआइ सुरयइ सम्मत्तइ मिहुणइं
जाइ णिरन्तराइं चिरु पाणिय हारिहु तित्थइ
ताइ वि विहियसेण हूअइ णीसद्द सु दुत्थइं।
सियथंत णियाणइ णिहवि तहा उम्माहउ अगइ भरइ।
निरलतु णियय-पडिबिंब-तणु सणिणउ सणिणउ सचरइ॥

इस उजाड़ नगरी का वर्णन पढ़ते-पढ़ते लोक-कथाओं की उस नगरी याद आ जाती है जो विपत्ति पड़ने के कारण रातों-रात क्या से क्या हो जाती है। हाथी हथिसारे मर जाते हैं और घोड़ा घुड़सारे सारा सोना कोयला हो जाता है और सभी नगर निवासी जहाँ के तहाँ पत्थर [illegible] जाते हैं।

'भविसयत्त कहा' जैसी लोक-कथाओं पर आधारित काव्य, सम्भव है, अपभ्रंश में और भी लिखे गये हों और धीरे धीरे विद्वानों के प्रयत्न से प्रकाश में आएँ।

जैन मुनियों का रहस्यवादी काव्य

जैन मतावलम्बी कवियों के इन प्रबन्ध काव्यों से भिन्न जैन मुनियों की कुछ मुक्तक रचनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें जैन प्रबन्ध काव्यों की सी साम्प्रदायिक गंध नहीं मिलती। जोइंदु (१ वीं शताब्दी ईस्वी) का परमात्म प्रकाश[1] और योगसार[1] तथा रामसिंह (११०० ई० के आसपास) का पाहुड़ दोहा[2] ऐसी ही रचनाएँ हैं। साम्प्रदायिक सीमा में रहते हुए भी इनके रचयिता जैन मुनि उस सीमा से ऊपर उठकर अत्यन्त उदार ढङ्ग से अपनी बातें कहते दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार वैष्णव भक्त कवियों ने ब्राह्मण धर्म की सीमा में रहते हुए भी उससे ऊपर उठकर प्रायः ब्राह्मण धर्म की शास्त्रीय तथा आचार-संबंधी संकीर्णताओं के विरुद्ध विचार व्यक्त किया था, उसी प्रकार इन जैन मुनियों ने भी जैन धर्म की शास्त्रीय

---

१ डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा 'रायचंद्र जैन ग्रंथमाला' में सम्पादित १९३७ ई०

२ श्री हीरालाल जैन द्वारा कारंजा सीरीज में सम्पादित, १९२१ ई०

रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों के विरुद्ध लोक सामान्य के लिए सरल और उदार ढङ्ग से जीव-मुक्ति का संदेश दिया। उद्देश्य में व्यापकता और विचारों में सहिष्णुता होने के कारण इन मुनियों की पारिभाषिक पदावली और काव्य की शैली भी सहज, सामान्य और लोक प्रचलित हो गया।

जोइन्दु और रामसिंह दोनों ही जैन मुनियों के विचारों में अद्भुत साम्य है, यहाँ तक कि किसी समय उपर्युक्त तीनों रचनाएँ एक ही कवि जोइन्दु की कृति मानी जाती थीं। पर अनेक ठोस प्रमाणों के आधार पर यह पुष्ट हो गया है कि ये दो भिन्न कवियों की कृतियाँ हैं। यों भी यदि 'परमात्म प्रकाश' और 'पाहुड़ दोहा' की भाषा शैली की तुलना की जाय तो स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ेगा। 'परमात्म प्रकाश' की भाषा अधिक समास-बहुल, जटिल तथा 'सत्व' विधान-बहुल दिखाई पड़ती है, जब कि 'पाहुड़ दोहा' की भाषा पुरानी हिंदी के निकट की तथा बोलचाल की सरल उक्ति प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त 'परमात्म प्रकाश' ज्ञान-गरिष्ठ और विचार प्रधान है जब कि 'पाहुड़ दोहा' में लोक प्रचलित दैनंदिन जीवन के उदाहरणों के सहारे बड़े सजीव और मार्मिक ढंग से तत्व ज्ञान की ऊँची-ऊँची बातें अनायास कह दी गयी हैं।

परमात्म प्रकाश

'परमात्म प्रकाश' दो अधिकारों में विभक्त ३३७ छन्दों में योजनानुसार लिखा हुआ रचना है। इसमें तत्वज्ञान को विविध विषयों में बाँटकर एक-एक करके समझाया गया है पहले अधिकार के विषय सामान्यतः आत्मा परमात्म, द्रव्य गुण, पर्याय, कर्म, निश्चय, सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व आदि हैं और दूसरे अधिकार में मोक्ष के स्वरूप, मोक्ष के फल निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव, पाप पुण्य की समानता, शुद्धोपयोग तथा परमसमाधि की चर्चा है।

योगसार

'योगसार' 'परमात्म प्रकाश' की अपेक्षा अधिक सरल और मुक्त रचना है। विषय विवेचन में स्पष्टतः किसी प्रकार की योजना अथवा क्रम का पता नहीं चलता। परमात्म प्रकाश की ही बातों को इसमें सुबोध तथा काव्योचित ढंग से कहने की कोशिश की गयी है। 'परमात्म प्रकाश' से यह छोटी रचना है। इसमें कुल मिलाकर १०८ छंद हैं। जोइन्दु की दोनों ही कृतियाँ अधिकांशतः दोहा छंद में ही हैं।

'पाहुड़ दोहा' दो सौ बाइस दोहों (यद्यपि इसमें दोहा के अतिरिक्त कुछ दूसरे छंद भी हैं) की छोटी सी रचना है। इसके संपादक श्री हीरालाल जैन के अनुसार जैनियों ने पाहुड़ शब्द का प्रयोग किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के अर्थ में किया है। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रायः सभी ग्रंथ 'पाहुड़' कहलाते हैं यथा

समयसार-पाहुड, प्रवचन-सार-पाहुड, भाव-पाहुड, बोध-पाहुड आदि। गोम्मटसार जीवकांड की ३४१वीं गाथा में इस शब्द का अर्थ 'अधिकार' बतलाया गया है 'अहियारो पाहुडयं'। उसी ग्रंथ में आगे समस्त 'श्रुतज्ञान' को पाहुड कहा गया है[१]। इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त-संग्रह को पाहुड कहते थे। 'पाहुड' का संस्कृत रूपान्तर 'प्राभृत' किया जाता है जिसका अर्थ उपहार है। इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रंथ के नाम का अर्थ 'दोहा का उपहार' ऐसा ले सकते हैं।"

पाहुड दोहा

रामसिंह राजस्थान के रहने वाले थे, इसलिए उनकी उपमाओं पर भी स्थानीय प्रभाव स्पष्ट है। अन्य कवियों ने चंचल मन की उपमा जिन पदार्थों से दी है, रामसिंह ने उन उपमाओं को छोड़कर मन की उपमा करहा (ऊंट) से दी है—शायद इसलिए कि उनके लिए गति की तीव्रता का प्रतीक 'करहा' ही हो।

'पाहुड दोहा' के रहस्यवाद पर विचार करते हुए श्री हीरालाल जैन ने लिखा है कि "इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित चित, देह देवली, शिव शक्ति, संकल्प विकल्प, सगुण निगुण, अक्षर बोध विबोध, वाम दक्षिण मध्य, दो पथ, रवि, शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तान्त्रिक ग्रंथों का स्मरण आये बिना नहीं रहता। इनकी भाषा सांकेतिक है और सांकेतिकता में इनकी समानता बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों और दोहा-कोषों से दिखाई पड़ती है।

लेकिन 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार' और 'पाहुड दोहा' तीनों को एक साथ रखकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस तरह की रहस्यात्मक प्रवृत्ति[२] उन सबमें विद्यमान है। और यदि इन जैन मुनियों के दायरे से आगे बढ़कर उस समय के अन्य धर्मावलम्बी संतों की रचनाओं पर दृष्टिपात किया जाय तो दिखाई पड़ेगा कि ऐतिहासिक रूप से वह युग ही ऐसा था जिसमें प्रत्येक धर्म के भीतर इस तरह के उदारमना चिन्तक कवि पैदा हुए थे जो अपने मत और समाज की

---

१ पाहुड दोहा भूमिका, पृ० १३

२ इन कवियों की रचनाओं के लिए 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग किसी अधिक उचित शब्द के अभाव में ही किया जा रहा है। अंग्रेजी में इस तरह की रचनाओं के लिए मिस्टिक और मिस्टिसिज्म शब्दों के प्रयोग की परंपरा सी चल पड़ी है। नाथ सिद्ध और संत कवियों पर भी यही शब्द चस्पा किया जाता है और आधुनिक रोमैंटिक कवियों के लिए भी लागू होता है। व्यक्तिगत रूप से लेखक इस तरह के पुराने कवियों के लिए मिस्टिक शब्द को अनुपयुक्त और भ्रामक समझता है।

रूढ़ियों का विरोध करते हुए मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर एक साथ खड़े थे। भारतीय समाज में एक ओर स्थिति-स्थापक पुराण-पंथा रूढ़िवादी प्रवृत्ति और दूसरी ओर रूढ़ि-विरोधी नवोन्मेष शालिनी शक्तियों का जो संघर्ष दिखाई पड़ता है उसकी अभिव्यक्ति धार्मिक पदावली में उस युग के साहित्य में भी होती है। ये जैन-मुनि उसी नवोन्मेष की अभिव्यक्ति हैं। मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर खड़े होने के कारण ही इनका अन्य मतों से कोई विरोध नहीं है सबके प्रति ये सहिष्णु हैं और इनका विश्वास है कि सभी मत एक ही दिशा की ओर ले जाते हैं और एक ही परम तत्व को विविध नाम से पुकारते हैं—

जो परमप्पउ परम-पउ, हरि हरु-बम्भुवि बुद्ध।
परम पयासु भणंति मुणि, सो जिण-देउ विसुद्ध॥

(परमात्म प्रकाश, ३२३)

सो सिउ-संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बम्भु सो, सो अणंतु सो सिद्ध॥

(योगसार, १ ५)

ये इतने मुक्तमन थे कि प्रकाश जहाँ से भी मिले उसे स्वीकार करने के पक्ष में थे। ग्रंथ के आरम्भ में प्रायः कविगण अपने अपने आराध्य देव साम्प्रदायिक देव अथवा गुरु की वंदना करते हैं लेकिन रामसिंह ने प्रकाश दाता-मात्र को अपना गुरु माना है चाहे वह सूर्य हो, चाहे चन्द्रमा, चाहे ज्ञानी। इसी तरह जोइन्दु ने भी ज्ञान-मात्र को सर्वोपरि मानकर उस परमात्म की वन्दना सबसे पहले की है जो 'नित्य निरंजन-ज्ञानमय' है।

प्रकाश और ज्ञान के ऐसे खोजियों के लिए स्वाभाविक है कि पुस्तकों के तथाकथित ज्ञान को ही ज्ञान न समझें। शास्त्र ज्ञान-शोध के लिए अधिक से अधिक सहायक हो सकता है, वह ज्ञान की पराकाष्ठा नहीं हो सकता। साम्प्रदायिकता शास्त्रों से ही बनती है, संकीर्ण मर्यादाएं विभिन्न मत के ग्रंथों से ही निर्धारित होती हैं। फलतः इन मुनियों ने अक्षर ज्ञान तथा पुस्तक ज्ञान का विरोध किया।

'सत्थु पढंतुवि होइ जडु' (प० प्र०, २०६), अथवा
'चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिं, तूसइ मुढु णिभंतु।' (प० प्र०, २११), या
'धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु, धम्मु ण पोत्था पिच्छियइ।'

(योगसार, ४७)

और 'बहुयहिं पढियइँ मूढ पर, तालू सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खरु तं पढहु, सिवपुरि गम्मइ जेण॥ (पा० दो०, ९७)

'षड्दर्शन' का विरोध जो रामसिंह आदि ने किया है, वह इसलिए कि उन्होंने एक ही देव के छह भेद कर दिये और इस तरह उनसे भेद भावना का प्रसार होता है। व्यवहार के क्षेत्र में यह शास्त्र विरोध और अक्षर-खण्डन धर्म के ठेकेदार पंडितों और पुरोहितों पर सीधा प्रहार था दूसरी ओर इसके द्वारा उस जन-साधारण के लिए ज्ञान का सहज द्वार खुल गया, जिन्हें पढ़ने लिखने की सुविधा प्राप्त न हो सकी थी।

अब प्रश्न यह है कि कोरे अक्षर ज्ञान का विरोध करके इन मुनियों ने जो एक अक्षर' पढ़ने की राय दी वह एक अक्षर क्या है? कोई मंत्र है या किसी का नाम है जिसका जाप किया जाय?

मुनियों ने कहा कि आत्म ज्ञान ही वह एक अक्षर है, जिसके बाद और कुछ जानना नहीं रहता। आत्मा ही आत्मा को प्रकाशित करती है जैसे रवि का राग अंबर को।

'अप्पु पयासइ अप्पु पर, जिम अंबरि रवि राउ।

सिद्धों ने जिसे स्वक् संवित्ति' अथवा 'स्वसंवेद्य ज्ञान' कहा है, उसे ही इन मुनियों ने आत्म ज्ञान नाम दिया है। शास्त्र ज्ञान से अनुभव ज्ञान बड़ा है, यह घोषणा करके इन मुनियों ने सामान्य जन को ज्ञान का बहुत बड़ा आत्म बल दे दिया।

जब आत्म ज्ञान तथा अनुभव साक्षिक ज्ञान ही सर्वोपरि है तो वह सबके बूते की बात हो सकती है। यह अनुभव-साक्षिक-ज्ञान इसी देह और मन से संभव है। इसलिए यह देह-मन उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। यही कारण है कि इन मुनियों ने धर्मोपदेशकों द्वारा अपवित्र कही जाने वाली देह को 'देवल' अथवा देव मन्दिर की गरिमा प्रदान की।

देहा देवलि जो वसइ, देउ अणाइ अणंतु। (प० प्र०, ३३)
मूढा, देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समचित्ति॥ (योगसार, ४४)
देहा देवलि जो वसइ, सत्तिहिं सहियउ देउ।
को तहिं जोइय सत्तसिउ, सिग्घु गवेसहिं भेउ॥
(पा० दो०, ५३)

ऐसी स्थिति में जब कि यह देह-मंदिर ही उस परमात्मा का निवास-स्थान हो, अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता है? आवश्यकता तो इस बात की है कि परमात्मा के आवास इस देह मंदिर को स्वच्छ और पवित्र रखा जाय। चित्त की निर्मलता पर जोर देने का यही कारण है, क्योंकि निर्मल मन में ही उस देव का

निवास संभव है उसी तरह जैसे सरोवर में हंस लीन रहता है—

> णिय-मणि णिम्मलि णाणियह, णिवसइ देउ अणाइ।
> हंसा सरिवरि लीणु जिम, महु एहउ पडिहाइ॥
>
> (प० प्र०, १२२)

देह और मन की पवित्रता तभी सम्भव है जब इनके तथा इनके कार्यों में आसक्ति न हो। जो देह मन में वास करता हुआ भी उसमें वास न करे, उससे कार्य करता हुआ भी न करे उसे जोइंदु और रामसिंह दोनों ने 'उव्वस वसिया' कहा है। यह मन की वह स्थिति है जिसमें पाप और पुण्य दोनों के प्रति आसक्ति नहीं रहती।

आत्मा की इसी स्थिति को इन मुनियों ने 'समरस भाव' कहा है। उस स्थिति में आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं रह जाता आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है दूसरे शब्दों में आत्मा परमात्मा हो जाता है।

> मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसरु वि मणस्स।
> विण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुज्ज चडावउँ कस्स॥
>
> (पा० दो०, ४६)
>
> जो परमप्पा सो जि हउं, जो हउं सो परमप्पु।
>
> (प० प्र० २२)

यही परम ज्ञान है और यही परम मोक्ष है क्योंकि ज्ञान ही मोक्ष है—

> 'णाणि मुक्ख न भंति (प प्र० १६६)।

ज्ञान की सूक्ष्म शब्दावली में कही हुई यह बात व्यवहार में सामान्य जन के लिए बहुत बड़ा सहारा साबित हुई। आत्मा-परमात्मा का गूढ़ ज्ञान न समझते हुए भी इन दोहों को पढ़कर अथवा सुनकर साधारण आदमी जो शक्ति का अनुभव करता है, उसका यही रहस्य है कि वह शरीर को ही परमात्मा का निवास समझकर आत्म-गौरव अनुभव करता है वह अनुभव करता है कि यदि एक ही परमात्मा बिना किसी वर्ण जाति भेद के सभी देह-मन्दिरों में निवास कर सकता है, तो उसमें समरस भाव बनाए रखने के लिए शुचिता का आचरण क्यों न किया जाय। इस प्रकार वह शुचिता और समरसता की ओर अग्रसर होता हुआ आत्म गौरव का अनुभव करता है। पूजा-पाठ का अधिकार, मन्दिर प्रवेश की अनुमति, तीर्थ-यात्रा के स्थान, शास्त्र अध्ययन की सुविधा आदि न मिलने पर भी पवित्रता के द्वारा परमात्मा को पाने का संदेश कितने बड़े आश्वासन का विषय हो सकता है, इसे सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इन मुनियों ने यही महान संदेश दिया था।

बौद्ध सिद्ध कवियों की रहस्य-साधना

जैन मुनियों की तरह लगभग उन्हीं के समकालीन पूर्वी प्रदेशों में रहने वाले बौद्ध सिद्धों ने भी रहस्यवादी कविताएं लिखीं। इनमें से सरह पा अथवा 'सरोरुह वज्र' (८वीं शताब्दी ईस्वी) तथा काण्ह पा या कृष्ण पाद आचार्य (९वीं शताब्दी ईस्वी) के दोहा कोष[1] अधिक प्रसिद्ध हैं। दोहा कोषों के अतिरिक्त इन दोनों सिद्ध आचार्यों की और भी कई रचनाएं मिलती हैं, किंतु सब की भाषा ठीक ठीक अपभ्रंश ही नहीं कही जा सकती। इनकी गीतियाँ प्राय: देश्य मिश्रित अपभ्रंश में लिखी गयी प्रतीत होती हैं। दोहों की भाषा पर भी पूर्वी प्रदेशों की स्थानीय बोली की गहरी छाप है, फिर भी उनका ढाँचा मूलतः साहित्यिक अपभ्रंश का ही है। फिर भी आधुनिक विद्वानों ने सिद्धों की भाषा को लेकर कभी उन्हें पुरानी बंगला का कवि कहा है और कभी पुरानी हिंदी का।

जैन मुनियों की तरह सिद्धों ने भी शास्त्र ज्ञान, मंत्र, मंदिर, तीर्थाटन आदि बाह्याचारों का खंडन किया है। अपने संस्कार के अनुकूल इस खंडन-कार्य में जैन-मुनियों का स्वर जहाँ मद्धिम दिखाई पड़ता है, वहाँ सरह और काण्ह अत्यन्त उग्र दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने बड़े ही लट्ठमार ढंग से अपनी बातें कही हैं। जैसे पाखंड का खंडन करते हुए सरह कहते हैं—

> बाम्हणहिं म जाणन्त हि भेउ।
> एवइ पढ़िअउ ए चउ बेउ॥
> मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त।
> घरहीं बइसी अग्गि हुणंत॥
> कज्जे विरहइ हुअवह होमें।
> अक्खि डहाविअ कडुए धूमें॥
> एंडी-मुंडी अण्णा, वि वेसें।
> दिक्खिज्जइ दक्खिण उद्देसें॥
> जइ णग्गाविअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह।
> लोम उपाडणे अत्थि सिद्धि, ता जुवइ णिअम्बह॥
> पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मारह चमरह।
> उन्छ भोअणे होइ जाण, ता करिह तुरंगह॥

शास्त्र ज्ञान के विरुद्ध ये सिद्ध कवि भी 'स्व-संवेद्य ज्ञान' को सर्वोपरि मानते हैं। सरह ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'सअ-सविता तत्तफलु' अर्थात् 'स्वक-संवित्'

[1] डा॰ प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल ऑव दि डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स जिल्द २८ में सम्पादित १९३५ ई०

ही तत्त्वफल है। शास्त्र का पढ़ना वे उसी हद तक उचित समझते थे जिससे शास्त्र से मुक्त हुआ जा सके। सरह के अनुसार 'तर्क से अक्खर धानिआ जाव णिरक्खर होइ।'

इन सिद्ध कवियों का भी आदर्श 'समरसता' है। जरामरण से मुक्ति तभी मिलती है, जब सहज भाव से चित्त को निश्चल करके 'समरस' से राग किया जाय। कण्हपा के अनुसार—

सहज णिचल जेण किय, समरसें णिअ-मण-राअ।
सिद्धो सो पुणि तक्खणे, णउ जरामरणह भाअ॥

लेकिन जैनियों से इनमें विशेषता यह थी कि 'सहज' मार्ग पर ये विशेष बल देते थे। काय-क्लेश इन्हें पसंद न था। सरह ने अशन से शरीर मल का खंडन करने वाले तथा ज्ञान विडंबित भेष वाले क्षपणकों की खूब खिल्ली उड़ाई है और अंत में—

सरह भणइ खवणाण मोक्ख, महु किम्पि न भावइ।
तत्त-रहिअ काआ ण ताव, पर केवल साहइ॥

कभी वे सहज मार्ग से जीवनयापन का आग्रह करते हुए पशुओं की तरह वन्य जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा करते हैं।

सरह गहण गुहिर भग कहिआ।
पसु लोअ निब्बोहि जिम रहिआ॥

इस अभिधा में न लेकर सामाजिक आडंबर की तीव्र प्रतिक्रिया ही समझना चाहिए। इससे उनके सामाजिक असंतोष का अनुमान लगाया जा सकता है। जीवन में सहज की व्यावहारिक रूप था गृहस्थ और संन्यस्त स्थितियों के दो छोरों के बीच गृहस्थ जीवन में ही अनासक्त होने का प्रयत्न करना। इसी बात को 'घर' और 'वन' के प्रतीकों द्वारा सरह कहते हैं—

घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण।

जैन मुनियों ने जीवन के इस रागपूर्ण पक्ष पर जोर नहीं दिया था। वे अधिक से अधिक देह को केवल कड़ुकर ही कर सके। बौद्ध सिद्धों ने राग में विराग की स्थापना की और राग को विराग का आवश्यक साधन माना। सरह का कहना है—

घरवइ मज्जइ, सहजे रज्जइ, किज्जइ राअ विराअ।
णिअ पास बइट्ठा चित्ते भट्ठा जोइणि महु पडिहाइ॥

इसी भाव को कण्ह ने 'घरणी' के रूपक से कहा है। इस तरह इन सिद्ध कवियों ने जीवन के राग विराग में भी समरसता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस सहज समरसता को ही उन्होंने 'परम महासुख' कहा है।

कुल मिलाकर सिद्धों की रचनाओं में जीवन के प्रति बहुत बड़ा स्वीकारात्मक दृष्टिकोण है। उनके दर्शन का यही रचनात्मक पक्ष है जो उन्हें आशावादी बनाए रखता है। इतने अधिक विरोधों के सम्मुख अडिग रहना उनके आशावाद का पक्का प्रमाण है।

उनके कथन में रहस्य कहीं नहीं है, जो है सब स्पष्ट है हाँ यदि कहीं-कहीं गुह्य शब्दावली दिखाई पड़ती है तो उसे उनकी अनिर्वचनीयता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के रूप में ही समझना चाहिए। कुछ पारिभाषिक शब्द प्राय सभी लोगों के तकियाकलाम बन जाते हैं सिद्धों के साथ भी यह कमजोरी लगी रही। कभी कभी अपने 'परम महासुख' की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए जब वह कहते हैं कि जहाँ मन, पवन का संचार न हो, जहाँ रवि शशि का प्रवेश न हो अथवा जब वे 'गगनगिरि की नदी में जल पीने की' चर्चा करते हैं तो इनके द्वारा असीम और अलौकिक की ओर अस्पष्ट रूप से संकेत करना चाहते हैं। कुल मिलाकर इनके कहने में एक शक्ति है, प्रहार में निर्भीकता है, भावों में सीधे दिल को छूने की ताकत है और भाषा में अमन्द सौन्दर्य है।

शृङ्गार और शौर्य का रोमांस काव्य

अपभ्रंश में जैन पण्डितों, मुनियों और बौद्ध सिद्धों के धार्मिक साहित्य के बीच ऐहिक जीवन को लेकर लिखी हुई वीर और शृंगार की ललित रचनाएँ भी मिलती हैं। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में संकलित रचनाओं का अधिकांश ऐसा ही है। कहा नहीं जा सकता कि हेमचन्द्र ने यह मधुर मधुचक्र किन किन काव्य ग्रंथों से तैयार किया है। इनके रचयिता कवियों का नाम अज्ञात है। हेमचन्द्र के व्याकरण में जो नीति अन्योक्ति अथवा धर्म संबंधी रचनाएँ हैं उनमें से कुछ का आदि स्रोत तो जैन काव्य-ग्रन्थों में मिल गया है। लेकिन शौर्य और शृङ्गार के ऐसे बहुत से दोहे हैं जिनका आदि स्रोत अभी तक अज्ञात है। चाहे इनके रचयिता जैन कवि हों अथवा जैनेतर लोक कवि, इतना निश्चित है कि संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य में इनका सौन्दर्य सबसे अलग है। जैन मुनियों का आचार प्रधान उक्तियों के बीच उत्साह और दर्प से भरे हुए उस काव्य को देखकर साफ मालूम होता है कि वह आभीर, भाप, गुजर आदि युद्धप्रिय जातियों का उन्मुक्त हृदयोद्गार है। युद्धों का बयान तो अपभ्रंश के अनेक चरित काव्यों और पुराणों में भी मिलता है, लेकिन उनमें हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों के टाप की आवाज और शस्त्रों के नाम की लम्बी सूची ही अधिक मिलती है सच्चे वीर-हृदय का उत्साह वहाँ कहाँ? यदि ऐसा शौर्य देखना हो तो हेम व्याकरण के इन उदाहरणों को देखें। यहाँ

हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण के दोहे

पुरुष का पौरुष ही नहीं, उसके पार्श्व में नारी रमणी का रूप भरा प्रोत्साहन भी मिलेगा—यदि एक ओर शिव का ताण्डव है तो दूसरी ओर उनके पार्श्व में शक्ति का लास्य भी है। कहाँ हैं ऐसी औरतें जिन्हें युद्ध के बिना उदास लगता है।

ती हैं कि किसी तरह प्रिय लड़ाई भिड़ाई के कामों से तले ओंक कर रखें और सुख शान्ति पूर्वक कुछ कहती हैं—

एहि लहहुँ, प्रिय तहि देसहि जाहुँ।
गाइ, प्रिय जुज्झें न जलाहुँ॥

गय ! जब से यहाँ आये युद्ध का अकाल पड़ा चलो जहाँ खड्ग का व्यवसाय होता हो। हम तो न बिना युद्ध के स्वस्थ न होंगे।
क शस्त्र-व्यवसायी वहीं ऐसा न समझ लें कि यह की बात-चीत है।

औरतें गौरी पार्वती से न जाने क्या क्या वरदान माँगती हैं ! अक्सर तो बेटा-बेटा ही माँगती हैं और यदि बेटा-बेटा हैं तो धन माँगती हैं और यदि धन भी हुआ तो अचल सुहाग माँगती हैं लेकिन इस काव्य-लोक की यह नारी अद्भुत है। माँगती क्या है कि—

आयहि जम्महि अन्नहि वि, गोरि सु दिज्जहि कन्तु।
गय मत्तहं चत्तंकुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु॥

और वह घर बैठे-बैठे वरदान ही नहीं माँगा करती, स्वयं भी लड़ाई के मैदान में जाकर पति को समय-समय पर परामर्श देती रहती है। देखती है कि पति तलवार से भटों का सिर भग्न करता चला जा रहा है। उसे सहसा बेचारे कापालिकों की याद आ जाती है कि वे अभग्न कपाल के अभाव में अपनी साधना कैसे करेंगे ! इसलिए झट कहती है—

प्रिय, एम्वहिं करे सेल्लु करि, छड्डहि तुहुँ करवालु।
जं कावालिय बप्पुडा लेहिं अभग्गु कवालु॥

उधर पति देव कैसे हैं ! युद्ध में लड़ते-लड़ते पाँवों में अपनी अँतड़ियाँ उलझ गया है, सिर कंधे पर झूल गया है फिर भी हाथ तलवार से नहीं हटा है—

पाइ विलग्गी अन्त्र, सिरु ल्हसिउ खन्धस्सु।
तो वि कटारइ हत्थडउ, बलि किज्जउ कन्तस्सु॥

इतना ही नहीं, कभी-कभी उनका ध्यान इस सीमा तक पहुँच जाता है कि घर का सब कुछ देते देते केवल प्रिया बच रहती है और युद्ध में तो अपने आप का

भी लुटा देते हैं, केवल तलवार बच रहती है—कितनी समानता है ! इधर तलवार बची और उधर उससे भी पैनी प्रिया। केवल उन दोनों का सहारा हाथ चला गया। और इतने बड़े सत्य का नायक स्वयं नहीं कहता, कहती है उसकी यही प्रिया—

देक्खहो हउँ परि उव्वरिअ, जुज्झन्तहो करवालु।

नायिका कहती है कि मेरे कंत के ये दो दाप हैं! सच!

यहाँ ऐसे ऐसे स्वामिभक्त भट दिखाई पड़ते हैं कि युद्ध के मैदान में *स्वामिकार्य के लिए कौन पहले जूझे—इसी होड़ में वे आपस में ही जूझ मरते हैं* स्वामी का काम धरा रह जाता है। कवि कहता है कि ऐसे उत्साही भटों का बोझा देना भी बेकार है—

ते मुग्गडा हराविआ, जे परिविट्ठा ताह।
अवरोप्परु जोअंताह, सामिउ गंजिउ जाह॥

इस काव्य जगत में उत्साह का भाव केवल रण-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में चलने वाले संघर्ष में भी उसी प्रकार की प्रेरणा पाई जाती है। किसान जीवन भर अपना छीना गई जमीन को फिर से पाने के लिए लड़ता रहा लेकिन नहीं ले सका। अंत में जब उसने अपने लड़के को सयाना होते देखा और यह भी देखा कि यह उस भूमि के लिए प्रतिकार नहीं करता तो मरते मरते धिक्कारता गया—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुहडी, चम्पिज्जइ अवरेण॥

ऐसे ही शूरवीर, उत्साही और कर्मठ नरनारियों का प्रेम भी उस मुक्तक माला में व्यक्त हुआ है। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे स्वस्थ तन और स्वस्थ मन वालों का स्नेह कैसा हो सकता है! पलङ्ग पर पड़े-पड़े विरह में कराहने वाले नागर जनों का यह प्रेम नहीं है और नहीं है दिन दहाड़े घर में घात लगाये बैठे रहने वाले छैलों का यह रति-रङ्ग। यहाँ विरह-तप्त नायिका के ऊपर गुलाब जल और इत्र की शीशी नहीं खाली की जाती। इस काव्य-लोक की नायिकाएं भी आभूषणों और वस्त्रों का दुकान नहीं हैं। नायिका के वेश विन्यास का तो यह हाल है कि—

सिरि जरि-खंडी लोअडी, गलि मणियडा न वीस।

फिर भी उसके रूप गुन का जादू तो देखिए कि—

सा वि गोट्ठडा करावित्रा मुद्धए उठ बइस।

इस सीधे-सादे निर्धन लोक-जीवन का सौन्दर्य ही ऐसा है कि इसके गाठ

न अपने को बहुत लगाने वाले जवान रसिकों को भी उठक-बैठक करनी पड़ती है। कौन कहे, यह कविता भी ऐसी ही है, जिसमें न झीना आवरण है न अलङ्कृत आभरण, फिर भी इसने बड़े-बड़े अलंकारवादी पण्डितों को अपने जादू से उठ-बईस करा दिया।

नायिका अभी अच्छी तरह वयस्क नहीं हुई है। शरीर पर जो कुछ है, सब तुच्छ ही है। मध्य भाग तुच्छ है और रोमावली तुच्छ है इस पर से तुच्छ हास और तुच्छ जल्पना लेकिन इसके बाद जो सबसे तुच्छ वस्तु है वह तो कहने में भी नहीं आ सकती।

कटरि थणतरु मुद्धहे जें मणु विच्चि ण माइ

स्तनों के बीच की दूरी की कमी तो बहुत जगह देखी गयी लेकिन यह जगह इतनी कम होगी कि उसमें नायक का मन भी न समाएगा—यह तो यहीं सुना और इसी मुग्धा के यहाँ देखा।

धीरे धीरे ये स्तन इतने उत्तुंग हो जाते हैं कि नायिका उनसे परेशान हो उठती है क्योंकि अब उनसे लाभ की जगह हानि होने लगी है—उनके कारण प्रिय उसके अधरों तक पहुँच ही नहीं पाता। बेचारी इतनी भोली है कि प्रिय के अधरों का तो दोष दे नहीं सकती है कि वे गन्तव्य तक पहुँचने से पहले ही क्यों विरम जाते हैं, इसलिए वह अपने ही अंगों पर खीझ प्रकट करती है—

अइ तुंगत्तणु जं थणह, सो छेयउ, न हु लाहु।
सहि, जइ कव्वइ तुडि-वसेण अहरि पहुच्चइ नाहु॥

ऐसी ही नायिका प्रिय का गाँठ होती है, लेकिन मामूली प्रिय की गाँठ नहीं, 'नवखी कवि विस-गंठि'। इसका नोखापन यह है कि—

भड़ पच्चलिओ सो मरइ, जासु न लग्गइ कंठि।

यह नोखापन शरीर तक ही सीमित नहीं रहता इसका प्रसार हृदय के विविध व्यापारों तक दिखाई पड़ता है। नायिका का प्रिय दोषी है—यह बात वह न जाने कितने मुँह से सुन चुकी है और उन युक्तियों के विरुद्ध उसके पास कुछ भी तर्क नहीं है। वह अपने मन से लाचार है। जब एक सखी फिर कहने आती है, तो नायिका उससे नम्रता के साथ कहती है—

मइ सहि निहुअउँ तेम्व मइ, जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जेव न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु॥

जब प्रिय सदोष है तो ऐसी बात एकांत में कहो, लेकिन ऐसे एकांत में कि मेरा मन भी न जानने पाये क्योंकि वह तो प्रिय का पक्षपाती है। भला ऐसी नायिका को एकांत कहाँ!

पुरुष युगों से स्वेच्छाचारी होते ही आये हैं। कहीं के कहीं रम गए! लेकिन नारी उसे कैसे छोड़ दे? आग से घर जलता जरूर है, फिर भी उससे काम लेना कोई कैसे छोड़ दे?

विप्पिअ आरउ जइवि पिउ, तोवि त आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु, तो तें अग्गि कज्जु॥

प्रिय की अनुपस्थिति में नायिका मन ही मन नाना प्रकार के संकल्प करती है। इस बार उसने एसी क्रीड़ा करने का इरादा किया, जैसी कभी नहीं की थी। क्रीड़ा यही कि जिस तरह मिट्टी के नये बरतन में रखते ही पानी उसके कण कण में भिद जाता है, उसी तरह मैं उसके सर्वाङ्ग में प्रवेश कर जाऊँगी।

जइ केवइँ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिध सव्वंगें पइसीसु॥

लेकिन पहले वह मिले तो सही।

वह मन ही मन सकल्प करती है कि प्रिय आएगा, मैं रूठूँगी और मुझ रूठी हुई को वह मनाएगा लेकिन उसकी सारी रातें ऐसे ही मनोरथों में नित्य बीत जाती हैं। आखिर प्रिय आता है तो सारे मनोरथ ताक पर धरे रह जाते हैं—

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिंतिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण, को चेअइ अप्पाणु॥

मन किस तरह धोखा दे गया। मान वह करे जिसकी अवस्था स्वस्थ हो। यहाँ तो प्रिय को देखते ही हड़बड़ी में अपना ही बिसर जाता है।

इस तरह प्रणयी जीवन के इन दोहों में वह सादगी, सरलता और ताज़गी है जो हिंदी के समूचे रीति काव्य में भी मुश्किल से मिलेगी। कला वहाँ जरूर है, चातुरी वहाँ खूब है, एक एक शब्द में अधिक से अधिक चमत्कृत करने की शक्ति भी हो सकती है, मतलब यह कि वहाँ गागर में सागर भरने की करामात हो सकती है लेकिन गागर में गागर जितना ही अमृत भरने की जो चेष्टा यहाँ है—उस पर रीझने वाले सुजान भी कम नहीं हैं। कठिन काम गागर में सागर भरना हो सकता है लेकिन गागर में अपना हृदय भर देना कहीं अधिक कठिन है। हेम [व्याकरण के इन दोहों की गागर एसी ही है। आर्या और गाहा सतसई की तरह इस दोहावली के भी एक-एक दोहे पर दर्जनों प्रबन्ध काव्य निछावर किये जा सकते हैं।

ऐसे ही मनोहर मुक्तक प्रबन्ध चिंतामणि में सङ्कलित मुंज के अपभ्रंश दोहे हैं। पता नहीं ये दोहे मुंज के जीवन पर लिखे हुए किसी प्रबन्ध-काव्य के

कुछ अवशिष्ट मणि हैं, अथवा मुक्तक रूप में ही लोक-परम्परा में चल पड़े थे। फिर भी एक-एक दोहे में पूरे प्रसंग का मार्मिक निष्कर्ष भरा पड़ा है। मुंज की कहानी अपने आप में इतनी कारुणिक है कि ये सीधे-सादे दोहे भी प्रसंग-गर्भत्व के कारण हृदय पर सीधे चोट करते हैं। तैलपराज की कैद में पड़ा हुआ मुंज अपने किए पर पछता रहा है। एक तो उसने अपने मंत्री रुद्रादित्य मेहता के मना करने पर भी गोदावरी पार कर तैलप पर चढ़ाई की और अपने उस शुभचिंतक मंत्री को खो दिया, दूसरे यहाँ आने पर तैलप भगिनी मृणालवती पर विश्वास करके भाग निकलने की सारी बनाई योजना उससे कह दी और इस तरह अपनी जान ही नहीं, अपने साथियों की भी जान खतरे में डाली। इतनी भूलों का फल उसे भोगना पड़ा और वह भी इस रूप में कि उसे रस्सी में बाँध कर घर-घर उससे भीख मँगवाई गया। मुंज के दोहों में उसके इन्हीं अनुभवों की पीड़ा है। दो-एक दोहे बानगी के लिए—

मुंज के दोहे

> झाली तुट्टि किं न मुअउ, किं हुअउ न छारह पुंज।
> हिण्डइ दोरा दोरियउ, जिम मक्कडु तिम मुंज॥
> गय गय, रह गय, तुरय गय, पायक्कडानि भिच्च।
> सग्गट्ठिय करि मंतिणउ महता रुद्दाइच्च॥

ऐसे ही बिखरे हुए मुक्तकों की कथा के महान सूत्र में पिरोकर अब्दुल रहमान (१२वीं शताब्दी ईस्वी) ने संदेश रासक नामक सुन्दर गीत-हार रचा है। यह तीन 'प्रक्रमों' में विभाजित दो सौ तेइस छंदों की छोटी सी रचना है। प्रथम प्रक्रम में मंगलाचरण, कवि का व्यक्तिगत परिचय, ग्रंथ-रचना का उद्देश्य तथा कुछ आत्मनिवेदन है। इस तरह कवि ने आरंभ के तेइस छंदों में भूमिका बाँधने के बाद दूसरे प्रक्रम में मूल ग्रंथ आरंभ किया है। कथा-सूत्र इतना ही है कि विजयनगर की एक प्रोषित-पतिका अपने प्रिय के वियोग में रोती हुई एक दिन राजमार्ग से जाते हुए एक बटोही को देखती है और दौड़कर उसे रोकती है। पथिक को रोककर वह पूछती है कि कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे? पथिक बतलाता है कि मैं सामोर से आ रहा हूँ और स्तम्भतीर्थ जा रहा हूँ। इसी सिलसिले में वह सामोर नगर के घर-पौरों और नागरिक जीवन का वर्णन करता है। स्तम्भतीर्थ का नाम सुनते ही नायिका भाव विह्वल हो उठती है और पथिक से निवेदन करती है कि अर्थ लोभ के कारण मेरा प्रिय मुझे छोड़कर वहीं चला गया है इसलिए कृपा करके उसके पास मेरा सन्देश लेते जाओ। इस तरह वह थम थम कर धीरे धीरे अपनी

संदेश रासक

रह व्यथा कहती जाती है। पथिक बीच-बीच में जाने की जल्दी मचाता है, फिर
ी नायिका के रुदन पर रुक जाता है और कुछ बातें और सुन लेता है। अंत म
पूछता है कि तुम्हारा पति किस ऋतु में तुमसे अलग हुआ ? यह प्रश्न नायिका
मर्म को छू लेता है उसे याद आता है कि वह ग्रीष्म ऋतु थी जब उसका प्रिय
से छोड़कर परदेश गया। तब से पूरे साल भर हो गये। यह सब स्मरण आते ही
ह क्रमशः छहों ऋतुओं म अपनी दशा का वर्णन कर जाती है। काव्य का तीसरा
क्रम इसी षट्ऋतु-वर्णन के लिए रचा गया प्रतीत होता है।

पथिक को सन्देश देकर नायिका ज्यों ही विदा करती है कि दक्षिण दिशा
उसका प्रिय आता हुआ दिखाई पड़ जाता है। ग्रंथ का अंत करते हुए कवि
हता है कि जिस प्रकार उसका काय अचानक सिद्ध हो गया, उसी प्रकार इस
ाव्य को पढ़ने सुनने वालों का भी सिद्ध हो। जो अनादि और अनंत है, उसकी
य हो।

'संदेश रासक' के कथा-सूत्र से स्पष्ट है कवि को कथा से कोई विशेष
तलब नहीं है उसे सामोर नगर के जीवन, पेड़-पौधों तथा षड् ऋतु वर्णन के
ाथ मुख्यत एक प्रोषित-पतिका नायिका की विरह वेदना का वर्णन करना है
न सभी वर्णनों को एक सूत्र में बाँधने के लिए ही उसने पथिक की अवतारणा की
अन्यथा सभी छंद अपने आप में स्वतंत्र हैं और मुक्तक का सा रस उत्पन्न करते
। कालिदास के 'मेघदूत' की भाँति संदेश रासक भी विभिन्न मुक्तकों की एक
ुष्पमाला है।

'रासक' अथवा 'रास' नाम से लिखे हुए काव्य ग्रंथ अपभ्रंश में तथा
सके बाद पुरानी राजस्थानी और हिंदी में भी मिलते हैं लेकिन विषय को देखते
ंदेश रास' उन सबसे भिन्न है। इससे मिलता-जुलता केवल एक 'रास-काव्य'
जस्थानी में है—'बीसल देव रास'। अन्यथा अन्य रास-काव्य एक तरह से 'चरित-
ाव्य' हैं जिनमें किसी राजा के युद्ध और विवाह की कहानी वर्णित दिखाई
ड़ती है।

अपभ्रंश में 'संदेश रास' अपने ढंग का अकेला काव्य भले हो, परंतु
सके पीछे इस तरह के काव्यों की परंपरा का आभास मिलता है क्योंकि 'रास'
ाव्य के जो लक्षण अपभ्रंश के आचार्यों ने दिये हैं, उनमें से एक लक्षण 'संदेश
ास' पर भी लागू होता है। 'स्वयंभूछन्द' में 'रास' का लक्षण बतलाते हुए कहा
या है—

घत्ता-छड्डुणिआहिं पद्धडिआहिं सु-अण्णरूएहिं ।
रासाबंधो कव्वो जण मण अहिरामओ होइ ॥[१]

अर्थात् घत्ता, छड्डुणिआ, पद्धड़िया तथा ऐसे ही अन्य सुन्दर छंदों से युक्त रासा बंध काव्य जन-मन के लिए अभिराम होता है। इसके बाद ही २१ मात्रा वाले 'रासा' छंद का लक्षण दिया गया, जिससे अनुमान होता है कि इसे भी 'रासा बंध काव्य' का विशेष छंद माना गया है। यदि यह सच है तो 'संदेश रास' उस लक्षण पर खरा उतरता है क्योंकि इसमें जिस छंद का सबसे अधिक प्रयोग किया गया है, वह रासक छंद है।

काव्य की दृष्टि से 'संदेश रास' का अपभ्रंश-साहित्य में विशेष स्थान है। इस विरह-काव्य का आरंभ ही बड़े आकर्षक ढंग से होता है।

पथिक को देखकर विरहिणी जब उतावली से चली तो उसके कटिप्रदेश से रशनावलि छूट गया और किंकिणियाँ किण किण ध्वनि करती हुई बिखर गयीं। किसी तरह उन्हें समेट गाँठ बाँधकर वह बेचारी आगे बढ़ी तो उसकी मोतियों का लड़ ही बिखर गयी और उसे सँभालते-सँभालते नूपुरों से चरण उलझ गये और वह गिर पड़ी। इसके बाद भी जब वह सम्भ्रम के साथ लजाती हुई उठी तो उसने देखा कि उसका स्वच्छ श्वेत आँचल ही खिसक गया है और कंचुकी भी मसक गयी है। फिर भी अपने हाथों से किसी प्रकार स्तनों को ढककर वह बेचारी पथिक के पास पहुँची। निम्नलिखित छंद में इस उतावली का एक चित्र द्रष्टव्य है—

तं जु मेहल ठवइ गंठि णिट्ठुर सुहय
तुडिय ताव थूलावलि णवसर हारलय।
सा तिवि किवि सवरिवि चइवि कि वे सचरिय
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पखुडिय ॥

करुणा उत्पन्न करने के लिए ही कवि ने विरहिणी का यह चित्र खींचा है। इसके बाद विरहिणी जब संदेश-कथन की भूमिका देती है, उसमें नारी-हृदय की परवशता, आकुलता और विदग्धता एक साथ मुखरित हो उठी है—प्रिय के पास इससे बढ़कर लगने वाली बात और क्या कही जा सकती है कि—

गरवउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अंगिहि तू विलसिया, ते दद्धा विरहेण ॥

तुम्हारे जैसे पौरुष-सम्पन्न पति के रहते हुए भी मैं ऐसा पराभव कैसे न सहूँ! जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, आज वही अंग विरह द्वारा जलाए जा

---

१ स्वयम्भूछन्द ८।४९ (श्री भायाणी द्वारा सं० रा० भूमिका पृ० ७७ पर उद्धृत)

... ! किसी पुरुष के लिए उसके पौरुष को चुनौती देने से बढ़कर और क्या बात ... सकती है ! यदि सचमुच ही उसमें पौरुष है तो कम से कम अपने उस प्रतिद्वंद्वी ... पराजित करने के लिए अवश्य उठ खड़ा होगा जो उसके द्वारा मांगे हुए अंगों ... स्वयं अपना विषय बना रहा है।

संदेश कहते कहते विरहिणी इतना रोने लगती है कि पथिक से सहा नहीं ... जाता। यह देखकर वह कहता है कि हे देवि, किसी प्रकार अपने आँसुओं को ... रोको और जाते हुए पथिक का अमंगल मत करो। इस पर वह अत्यंत सरल ढंग ... से कहती है—

'महु न रुनु विरहग्गि धूम लोयण सवणु।'

अर्थात् मैं थोड़े ही रो रहा हूँ, यह तो विरहाग्नि के धुएँ से आँखें सजल हो आयी हैं।

व्यथा हृदय में सरलता लाती है, तो उसकी टीस कभी कभी उतनी ही ... विदग्धता भी उत्पन्न करती है। प्रिय ने उसका सारा सुख छीन लिया, इस बात को सागर और मंदर के रूपक से विरहिणी इस प्रकार कहती है—

मह हियय रयणनिहि, महिय गुरु मंदरेण त णिच्च।

उम्मूलिय असेस, सुहरयणं कड्ढियं च तुह पिम्मे॥

अर्थात् हमारे रत्ननिधि हृदय को विरह-मंदर ने मथकर तमाम सुख रत्नों का निकाल लिया।

शरत् ऋतु का वर्णन करते हुए नायिका कहती है कि क्या उस देश ... ज्योत्स्ना का निर्मल चन्द्र नहीं उगता ! क्या वहाँ अरविंदों के पास हंस कल क... ध्वनि नहीं करते ! क्या वहाँ कोई ललित ढंग से प्राकृत काव्य नहीं पढ़ता ! क... वहाँ कोकिल पंचम स्वर में नहीं गाता ! क्या वहाँ सूर्योदय के कारण खिले हुए कुसुमों से वातावरण महक नहीं उठता ! होता तो यह सब होगा लेकिन लगता है कि प्रिय ही अरसिक है जो इस शरत् काल में भी घर का स्मरण नहीं करता।

किं तहि देसि णहु फुरइ जुह णिसि णिम्मल चंदह।

अह कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविंदह।

अह पायउ णहु पढइ कोइ सुललिय पुण राइण

अह पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण

महमहइ अहव पच्चूसि णहु, ओससिउ घणु कुसुमभरु।

अह मुणिउ पहिय। अणरसिउ पिउ, सरइ समइ जु न सरइ घरु॥

'संदेश रासक' को पढ़ते समय यह नहीं मालूम होता है कि किसी अहिंदु... कृति है इसका कारण यह है कि संदेश रासक में संस्कृत और प्राकृत काव्यों...

अनेक रूढ़ियों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है। ग्रीष्मादि के वर्णन में फल फूल वाले वृक्षों की सूची तथा षड्ऋतु वर्णन में कवि-समयों और रूढ़ियों का स्पष्ट पालन किया गया है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं कवि ने संस्कृत के प्रसिद्ध छंदों का अपभ्रंश में अनुवाद करके रख दिया है जैसे—

णहयल णिरंतर पिंछियाइं भमरंद णयण गुड हाइं।
हरिवि सायर-सरिया गिरि-तरु-दुग्गाइं अंतरिया ॥ (सं० रा० ६)

'हनुमन्नाटक' (५।२५) के इस छंद का अनुवाद है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः सरित्सागरभूधराः ॥

इन सबसे यही प्रमाणित होता है कि अब्दुल रहमान को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की परंपरा का बहुत अच्छा ज्ञान था और उन्होंने इस काव्य में अपने अध्ययन अनुभव का सारा निचोड़ रख देने की चेष्टा की। यह समझना भ्रान्ति है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश में लिखा हुआ काव्य है। वस्तुतः इसके भाव और भाषा दोनों पर नागरता की छाप है। छंदोनिबद्धता और अलंकार-सज्जा दोनों ही दृष्टियों से 'सन्देश रासक' अत्यंत परिमार्जित रचना है।

नीति सूक्ति
अन्योक्ति आदि

अपभ्रंश साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग नीति सूक्ति अन्योक्ति स्तुति आदि ढंग के काव्यों से भरा हुआ है। हेम-व्याकरण, देवसेन (११वीं सदी) का 'सावयधम्म दोहा', सोमप्रभ (१२वीं सदी ईस्वी) रचित कुमारपाल प्रतिबोध आदि में अनेक मार्मिक सूक्तियाँ अनुभव पूर्ण नीति के दोहे तथा सरस अन्योक्तियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों से भी सूक्तियों का चयन किया जा सकता है। 'हेम व्याकरण' में भ्रमर, कुंजर, करभ केहरि धवल, महाद्रुम आदि को लेकर बड़ी ही हृदयहारी अन्योक्तियाँ कही गयी हैं। जैसे 'धवल' सम्बन्धी अन्योक्ति—

धवलु विसूरइ सामिअहो, गरुआ भरु पिक्खेवि।
हउँ कि न जुत्तउ दुहुँ दिसिहिं, खंडइँ दोण्णि करेवि ॥

उसी तरह वहीं से यह सूक्ति उद्धृत की जा सकती है—

सरिहिं न सरेहिं न सरवरेहिं न वि उज्जाण वणेहिं।
देस रवण्णा होंति वढ निवसन्तेहिं सुअणेहिं ॥

यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य का अधिकांश छंदोबद्ध काव्य है, फिर भी खोज करने से कुछ गद्य की भी रचनाएँ मिली हैं तथा क्रमशः मिलती जा रही हैं।

गद्य साहित्य

उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कहा के अपभ्रंश गद्य की चर्चा तो बहुत दिनों से होती आ रही है श्री अगरचन्द नाहटा ने इधर परवर्ती अपभ्रंश साहित्य की कई गद्य-रचनाएं खोज निकाली हैं। १४वीं शताब्दी ईस्वी की एक ऐसी ही रचना 'षडावश्यक बालावबोध' के एक गद्यांश का उद्धरण उन्होंने १९४६ ई० के 'यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसायटी के जर्नल' में दिया था। इन बिखरे उद्धरणों से अपभ्रंश साहित्य में गद्य रचना के प्रयत्नों का प्रमाण मिलता है।

अपभ्रंश-साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व

स्वयम्भू (आठवीं शताब्दी ईस्वी) से लेकर रइधू (१५वीं शताब्दी ईस्वी) तक के इस अपभ्रंश साहित्य का संपूर्ण भारतीय साहित्य में बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि जिस व्यापकता और विशालता के साथ इसका आरम्भ हुआ था वह अंत तक न रही बल्कि परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य के विषय और शैली में एक प्रकार की जड़ता दिखाई पड़ती है फिर भी समग्र रूप में यह साहित्य उस युग के जातीय नवोन्मेष का प्रतिनिधि होकर ऊपर उठा। अपभ्रंश की प्रत्यग्रता का ठीक ठीक अनुभव परवर्ती संस्कृत-साहित्य की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के परिपार्श्व में ही हो सकता है।

अपभ्रंश-कालीन संस्कृत-साहित्य उस नागर समाज की बँधी हुई विचार धारा को प्रतिबिंबित करता है जो अपना ऐतिहासिक कार्य समाप्त कर चुकने पर सामाजिक विकास में बाधक हो रहा था। इस जड़ता से तत्कालीन संस्कृत साहित्य भी ग्रस्त दिखाई पड़ता है। क्या दर्शन क्या काव्य सर्वत्र पुराने तथ्यों की पुनरावृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। मौलिक उद्भावना की अपेक्षा टीका और व्याख्याओं में रस लिया जा रहा था। प्रमेय दूर था प्रमाण-चर्चा अधिक थी। दार्शनिक दुरूहता नव्य-न्याय के वाद विवादों में मुखर हो रही थी। समस्त चिंतन तर्क-जाल में उलझा था। संस्कृत-काव्य हृदय के सहज उच्छ्वास को छोड़कर पाण्डित्य प्रदर्शन तथा श्रमसाध्य आलंकारिक चेष्टाओं में लीन था। लक्षण ग्रन्थों का बाहुल्य था। रस के मान शब्द शक्तियों से आक्रांत थे। प्रकृति चित्रण नाम-परिगणन और औपम्यविधान से बोझिल था। मानव अनुभूतियों की अर्थभूमि संकुचित होकर शृंगारिक लालसाओं से पंकिल हो रही थी। राज दरबारों के उजड़ वैभव की बासी पुनरावृत्ति से वस्तु-वर्णन धूमिल हो रहा था। चरित-काव्यों में चरित्रों का व्यक्तित्व बँधे-बँधाए टाइपों के रूप में ही प्रकट हो रहा था। मुक्तक काव्य कृत्रिम और अलंकृत थे प्रबन्ध-काव्य आकार में विपुल होते हुए भी जीवन-हीन थे। गद्य बोल-चाल की भाषा से दूर हटकर समासों का बीहड़ जंगल

हो गया था। सर्वत्र एक प्रकार की जड़ता और निष्प्राणता के दर्शन होते थे।

अपभ्रंश-साहित्य का उद्भव संस्कृत के इस परिपार्श्व में हुआ। निःसन्देह उस पर भी संस्कृत-साहित्य की ह्रासोन्मुखी छाया कहीं-कहीं पड़ गयी। अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में संस्कृत की कथानक-रूढ़ियों, काव्य-रूढ़ियों तथा वस्तु-वर्णन सम्बन्धी रूढ़ियों का पालन कहीं-कहीं अवश्य दिखाई पड़ता है फिर भी इन सबके बीच अपभ्रंश के धार्मिक और ऐहिक काव्य में नये जीवन का उत्साह और आवेग, सरलता और सादगी, शक्ति और सौन्दर्य, जीवतता और प्रत्यग्रता का अनुभव होता है। उसमें लोककथाओं और लोक-गीतों का नूतन स्पर्श मिलता है। इन सब विशेषताओं का यही कारण है कि जैन विद्वानों और मुनियों बौद्धों सिद्धों और इतर मतानुयायी कवियों द्वारा लिखे जाने पर भी अपभ्रंश-साहित्य सामान्य लोक जीवन के गहरे संपर्क में था। यह जिन लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त कर रहा था, उन्हें बहुत दिनों के बाद अपनी देसी भाषा में हृदय की बात कहने का अवसर मिला था। संस्कृत के माध्यम से उस समय उस लोक-जीवन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। पृथ्वी-पुत्रों की यह सारी भाव-सम्पदा साथ अपभ्रंश को ही पहली बार प्राप्त हुई। अपभ्रंश-साहित्य की शक्ति का यही रहस्य है। इसी लोक-तत्व के द्वारा अपभ्रंश साहित्य ने भारतीय साहित्य में अपना ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया और इसी लोक-तत्व से उसमें युग युग तक मानव-हृदय को आनन्दित करने की शक्ति आयी।



अपभ्रंश और हिन्दी का साहित्यिक सम्बन्ध

अपभ्रंश से हिन्दी-साहित्य का क्या संबंध है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हिंदी-साहित्य के प्राय सभी इतिहासकारों ने आदि काल के अन्तर्गत अपभ्रंश-साहित्य को भी रखा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में 'हिंदी साहित्य का विकास' (जनवरी १६२६ ई०) नाम से जो विस्तृत निबंध लिखा उसमें किसी कारण से अपभ्रंश साहित्य का समावेश नहीं हो सका था। लेकिन उसी साल उस भूमिका को स्वतंत्र पुस्तक का रूप देते समय शुक्ल जी को यह कमी महसूस हुई। इसलिए 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के आदिकाल में अपभ्रंश-साहित्य को स्थान देते हुए उन्होंने कहा कि "आदि काल के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से 'भाषा काव्य' के अन्तर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा-काव्यों के नाम गिनाती चली आयी है, जो अपभ्रंश में हैं जैसे, कुमारपाल चरित और शार्ङ्गधरकृत हम्मीर रासो।'[१]

अपभ्रंश और हिंदी साहित्य के इतिहासकार

इसी परिपाटी का पालन 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने भी कहा कि 'अर्धमागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिंदी के प्रारंभिक रूप की छाप लिये हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।'[२]

इस कार्य का समर्थन करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिंदी साहित्य उसका उद्भव और विकास' में कहते हैं कि "यदि हिंदी-साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश-साहित्य को हिंदी का ही मूलरूप समझा है तो ठीक ही किया है।"

लेकिन हिंदी-साहित्य के आदि काल में अपभ्रंश को स्थान देते हुए भी इन सभी इतिहासकारों में अपभ्रंश विषयक दृष्टिकोण में अन्तर है। शुक्ल जी ने

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रथम संस्करण का वक्तव्य

२ आलोचनात्मक इतिहास पृ० ६८ (द्वितीय संस्करण, १६४८ ई०)

जब अपभ्रंश की रचनाओं को 'भाषा-काव्य' समझ कर हिन्दी-साहित्य में अपना लिया तो उस समय तक अपभ्रंश का विशाल साहित्य प्रकाश में नहीं आया था। स्वयम्, पुष्पदंत, धनपाल, जोइन्दु, रामसिंह आदि की कृतियाँ अभी सामने आने को थीं। शुक्ल जी इन ग्रंथों को देखने का अवसर पाते तो शायद अपभ्रंश नाम से ख्यात इन सभी रचनाओं को 'भाषा-काव्य' कहकर हिंदी में न समेट लेते। शुक्ल जी ने कुमारपाल चरित, हम्मीर रासो आदि ग्रंथों को भाषा की दृष्टि से ही हिन्दी साहित्य में स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त उन्हें अपभ्रंश और हिंदी में और कोई सम्बंध नहीं दिखाई पड़ता था।

डा० वर्मा ने अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में जिस अपभ्रंश-साहित्य को स्थान दिया है वह अब तक का लगभग संपूर्ण विज्ञापित साहित्य है। उसमें स्वयम्, पुष्पदंत, धनपाल, जोइन्दु आदि जैन तथा सरह पा, कण्ह पा आदि सिद्ध और अब्दुल रहमान जैसे इतर मतवाले सभी अपभ्रंश कवियों का समावेश किया गया है। डा० वर्मा ने भी भाषा की दृष्टि से ही इस अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी के अन्तर्गत लिया है। उनके अनुसार इन रचनाओं की भाषा 'हिन्दी के प्रारंभिक रूप की छाप लिये हुए है' इसीलिए वह हिंदी साहित्य में लिए जाने की अधिकारी है। एकदम हिंदी न होने के कारण ही उन्होंने इन रचनाओं को 'संधिकाल' के अन्तर्गत रक्खा है।

लेकिन डा० द्विवेदी ने अपभ्रंश-साहित्य को हिंदी-साहित्य का अंग नहीं माना है उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य को हिंदी-साहित्य का मूल रूप समझा है। अपभ्रंश और हिंदी का संबंध उनकी दृष्टि में केवल भाषा का ही नहीं है बल्कि 'साहित्यिक परंपरा' का है। 'हिंदी साहित्य में (अपभ्रंश की) प्रायः पूरी परंपराएं ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी की सारी विशेषताएं इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश-साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाय तो इस साहित्य की प्राण धारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्ती हिंदी साहित्य में प्रवाहित होती रही है।'[२]

अपभ्रंश को हिंदी-साहित्य का अंग मानना एक बात है और मूल रूप मानना बिल्कुल दूसरी बात। अपभ्रंश को हिंदी-साहित्य का मूल रूप या मूल

---

१ हिंदी साहित्य पृ० १७ (१९५२ ई०)

२ हिन्दी साहित्य पृ० १५

अपभ्रंश और हिंदी का ऐतिहासिक संबंध

स्रोत मानने का अर्थ यह है कि अपभ्रंश और हिंदी का संबंध ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक सम्बन्ध को थोड़ा और समझने की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने हिंदी-साहित्य पर अपभ्रंश का 'प्रभाव' दिखलाया है। लेकिन 'प्रभाव' और ऐतिहासिक 'सम्बन्ध' एक ही चीज नहीं है। हिंदी-साहित्य पर संस्कृत के प्रभाव की बात तो समझ में आती है लेकिन जिस साहित्य का अपभ्रंश के गर्भ से ही क्रमशः उद्भव और विकास हुआ है, उसे अपभ्रंश से 'प्रभावित' मात्र कहना अवैज्ञानिक है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी के संबंध की मौलिक समस्या यह नहीं है कि हिंदी के कुछ काव्य-रूपों, काव्य रूढ़ियों, उपमाओं और छंदों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब तो ऊपरी बातें हैं। अपभ्रंश से हिंदी का सम्बन्ध इससे कहीं अधिक आन्तरिक और गहरा है। संभव है कि विश्लेषण करने पर इस तरह फिर ऊपरी समानताएँ इन दोनों साहित्यों के बीच उतनी न मिलें लेकिन इसी से दोनों के सम्बन्धों का निर्णय नहीं हो जाता। मुख्य बात है साहित्यिक चेतना का तारतम्य और भावधारा का नैरन्तर्य जिसे डा० द्विवेदी ने 'प्राणधारा' कहा है। यदि इन दोनों साहित्यिक अवस्थाओं के बीच मौलिक प्राण धारा के पौर्वापर्य का कुछ भी निर्णय हो जाता है तो ऐतिहासिक सम्बन्ध की पुष्टि होती है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी-साहित्य के संबंध की मौलिक समस्या यह है कि अपभ्रंश के गर्भ से हिंदी-साहित्य का उद्भव किस प्रकार हुआ और अपभ्रंश से उत्पन्न होने के बाद विकास-क्रम में हिंदी-साहित्य किस हद तक अपभ्रंश से अभिन्न तथा किस हद तक उससे भिन्न तथा स्वतन्त्र हो गया ?

अपभ्रंश की यह कौन सी प्राण धारा थी जिसका विकास हिंदी में हुआ, इसका निर्णय इस बात पर निर्भर है कि हिंदी के आदि काल की मुख्य प्रवृत्ति क्या है ? इस विषय में आमतौर से लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि हिंदी का आरम्भ वीरगाथाओं से हुआ है।

हिंदी-साहित्य का आदिकाल और अपभ्रंश

इस धारणा के सूत्रपात का श्रेय मुख्यतः आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' को है। शुक्ल जी ने हिंदी-साहित्य के आदिकाल का सामान्य परिचय देते हुये लिखा है कि "आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति

एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राज्याश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति शृंगार, आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यह प्रबंधपरम्परा रासो नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।[१] आगे इस कथन की पुष्टि ऐतिहासिक परिस्थितियों के द्वारा करते हुये शुक्ल जी ने कहा कि "जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अभ्युदय होता है वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था वीरता के गौरव का समय था। और बातें पीछे पड़ गई थीं।"[२] यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से इस कथन की पुष्टि करना चाहें तो कह सकते हैं कि चारण कवियों की वीर गाथाएं परवर्ती अपभ्रंश की परम्परा के अनुसार ही थीं। इस तरह आसानी से यह कहा जा सकता है कि वीरगाथा ही वह प्राणधारा है जिसका विकास अपभ्रंश से हिंदी में हुआ।

ऊपर ऊपर से देखने पर इस कथन में सन्देह की गुञ्जाइश नहीं होनी चाहिए। लेकिन प्राण धारा का प्रश्न 'आदिकाल' तक ही नहीं समाप्त हो जाता है। यदि वीरगाथा ही अपभ्रंश और हिंदी के आदिकाल की प्राणधारा थी तो आगे उसका विकास भी होना चाहिये। लेकिन इतिहास से उस प्राण धारा के विकास का समर्थन नहीं होता। तथा-कथित वीर-गाथाओं के बाद हिंदी में तुरन्त संत और भक्ति काव्य का अभ्युदय हो जाता है और विकास की इन दोनों भाव धाराओं में इतना अधिक अन्तर है कि विकास की कोई एकसूत्रता ढूंढ़ निकालना कठिन है। फिर भी जब बुद्धि है तो संगति भी बैठाना ही है। फलतः शुक्ल जी ने युक्ति दी कि "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?[३]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी साहित्य की आदिकालीन वीरता की भावना वाली प्राणधारा प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण समाप्त हो गई और उसके बाद हिंदी साहित्य में उदासी छा गई। मतलब यह कि संत

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ३४ (पाँचवाँ संस्करण १९४९ ई०)

२ वही पृ० ३०

३ वही पृ० ६०

अपभ्रंश और हिंदी का ऐतिहासिक संबंध

सात मानने का अर्थ यह है कि अपभ्रंश और हिंदी का संब ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक सम्बन्ध को थोड़ा और समझ की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने हिंदी-साहित्य प अपभ्रंश का 'प्रभाव' दिखलाया है। लेकिन 'प्रभाव' औ ऐतिहासिक 'संबंध' एक ही चीज नहीं है। हिंदी-साहित्य प संस्कृत के प्रभाव की बात तो समझ में आती है लेकिन जिस साहित्य का अपभ्र के गर्भ से ही क्रमशः उद्भव और विकास हुआ है, उसे अपभ्रंश से 'प्रभावित मात्र कहना अवैज्ञानिक है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी के संबंध की मौलि समस्या यह नहीं है कि हिंदी के कुछ काव्य-रूपों, काव्य रूढ़ियों, उपमाओं औ छंदों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब तो ऊपरी बातें हैं अपभ्रंश से हिंदी का सम्बन्ध इससे कहीं अधिक आन्तरिक और गहरा है। संभ है कि विश्लेषण करने पर इस तरह फिर ऊपरी समानताएँ इन दोनों साहित्यों के बीच उतनी न मिलें लेकिन इसी से दोनों के सम्बन्धों का निर्णय नहीं हो जाता मुख्य बात है साहित्यिक चेतना का तारतम्य और भावधारा का नैरन्तर्य जिसे डा द्विवेदी ने 'प्राणधारा' कहा है। यदि इन दोनों साहित्यिक अवस्थाओं के बीच मौलिक प्राण धारा के पौर्वापर्य का कुछ भी निर्णय हो जाता है तो ऐतिहासिक सम्बन्ध की पुष्टि होती है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी-साहित्य के संबंध की मौलिक समस्या यह है कि अपभ्रंश के गर्भ से हिंदी-साहित्य का उद्भव किस प्रकार हुआ और अपभ्रंश से उत्पन्न होने के बाद विकास क्रम में हिंदी-साहित्य किस हद तक अपभ्रंश से अभिन्न तथा किस हद तक उससे भिन्न तथा स्वतन्त्र हो गया?

हिंदी-साहित्य का आदिकाल और अपभ्रंश

अपभ्रंश की वह कौन सी प्राण धारा थी जिसका विकास हिंदी में हुआ, इसका निर्णय इस बात पर निर्भर है कि हिंदी के आदि काल की मुख्य प्रवृत्ति क्या है? इस विषय में आमतौर से लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि हिंदी का आरम्भ वीरगाथाओं से हुआ है। इस धारणा के सूत्रपात का श्रेय मुख्यतः आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' का है। शुक्ल जी ने हिंदी-साहित्य के आदिकाल का सामान्य परिचय देते हुये लिखा है कि "आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ दो सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति

एक विशेष रूप में रँगती हुई पाते हैं। राज्याश्रित कवि और चारण, जिस प्रकार नीति, शृंगार, आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यह प्रबन्ध-परम्परा रासो नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।"[1] आगे इस कथन की पुष्टि ऐतिहासिक परिस्थितियों के द्वारा करते हुये शुक्ल जी ने कहा कि "जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था। और बातें पीछे पड़ गई थीं।"[2] यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से इस कथन की पुष्टि करना चाहें तो कह सकते हैं कि चारण कवियों की वीर गाथाएं परवर्ती अपभ्रंश की परम्परा के अनुसार ही थीं। इस तरह आसानी से यह कहा जा सकता है कि वीरगाथा ही वह प्राणधारा है जिसका विकास अपभ्रंश से हिंदी में हुआ।

ऊपर ऊपर से देखने पर इस कथन में सन्देह की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। लेकिन भाव धारा का प्रश्न आदिकाल तक ही नहीं समाप्त हो जाता है। यदि वीरगाथा ही अपभ्रंश और हिंदी के आदिकाल की प्राणधारा थी तो आगे उसका विकास भी होना चाहिए। लेकिन इतिहास से इस प्राणधारा के विकास का समर्थन नहीं होता। तथाकथित वीरगाथाओं के बाद हिंदी में तुरन्त सन्त और भक्ति काव्य का अभ्युदय हो जाता है और [illegible] धाराओं में इतना अधिक अन्तर है कि [illegible] कठिन है। फिर भी जब [illegible] है तो [illegible] है। [illegible] ने युक्ति दी कि 'देश में मुसलमानों का [illegible] प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। [illegible] दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे [illegible] हुए सुन ही सकते थे। [illegible] और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?'[3]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिंदी [illegible] वीरता की भावना वाली प्राणधारा प्रतिकूल परिस्थितियों [illegible] गई और उसके बाद हिंदी साहित्य में दिखाई [illegible]। [illegible]

१ हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० ३८ (पाँचवाँ संस्करण [illegible])
२ वही पृ० ३०
३ वही पृ० ६०

भक्ति साहित्य आरम्भिक वीरगाथाओं की अपेक्षा कम प्राणवान है। यह सही कि अपनी युक्तियों से शुक्ल जी ने एकदम यही निष्कर्ष नहीं निकाला है लेकिन उनकी युक्ति की तर्कसंगत परिणति यही हो सकती है। लेकिन शुक्ल जी ने भक्ति काव्य का जो मूल्यांकन किया है, उससे स्पष्ट है कि वे भक्तिकाव्य को वीरगाथा से कहीं अधिक श्रेष्ठ मानते थे यही नहीं, भक्ति काव्य को उन्होंने हिन्दी का स्वर्ण-युग कहा है। वीर-गाथाओं के मूल्यांकन के विषय में मतभेद हो सकता है, लेकिन भक्ति काव्य को एक स्वर से साधारण जन और विद्वान सर्वश्रेष्ठ मानते हैं—उसे भारतीय समाज की आत्मा, शक्ति, प्राणधारा आदि सब कुछ अनुभव करते हैं।

ऐसी दशा में इस विषय में फिर से विचार करने की आवश्यकता है कि हिंदी के भक्तिकाव्य की मूल चेतना का स्वरूप 'आदिकाल' में क्या था और उससे भी पहले अपभ्रंश में उसके बीज किस दशा में मिलते हैं।

आदिकालीन हिंदी साहित्य के अन्तर्गत अन्तर्विरोध

अब प्रायः सभी लोग यह मानने लग गए हैं कि भक्ति काव्य वीर-गाथाओं की हताश प्रतिक्रिया नहीं है। शुक्ल जी की यह युक्ति बहुत पहले ही इतिहासकारों को खटक गई थी। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी पहले आदमी हैं जिन्होंने शुक्ल जी की उस स्थापना का प्रतिवाद किया।[१] यदि भक्ति काव्य वीरगाथाओं की हताश प्रतिक्रिया न था, तो उसके बीज 'आदि काल' में अवश्य मिलने चाहिए। जो विद्वान हर चीज को बाहरी प्रभाव के रूप में देखने के अभ्यस्त होते हैं वे तो 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' जैसी पंक्तियों के सहारे भक्ति काव्य को सहसा बाहर से आई हुई चीज कहकर निश्चिन्त हो सकते हैं। लेकिन जिनके मन में किसी जातीय चेतना की समझन की थोड़ी भी भी शक्ति है वे उस प्रभाव को ग्रहण करने योग्य परिस्थितियों को स्वयं हिन्दी जाति के जीवन में ढूंढा करते हैं ऐसी स्थिति में इस बात की पूरी सम्भावना है कि हिन्दी साहित्य के 'आदि काल' में वीर गाथाओं के साथ-साथ भक्ति के भी मूल रहे होंगे। लेकिन यह सम्भावना कोरा अनुमान नहीं है। वीर गाथाओं की प्रामाणिकता के विषय में तो संदेह भी किया जाता है लेकिन आदि काल में जो सिद्धों और नाथों का काव्य मिलता है उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रायः सभी विद्वान काफी संतुष्ट हैं।

इस विषय में स्वयं शुक्ल जी की भी यही राय थी कि असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी है।" और "प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो

१ देखिये हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २

पुरान काव्य जैसे बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो—आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं।"[१] फिर भी आश्चर्य है कि वे उसी संदिग्ध सामग्री को लेकर विचार करते हैं, उसके आधार पर आदिकाल की मुख्य प्रवृत्ति का निर्णय करते हैं और इस तरह स्वीकार करते हैं।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कारण स्पष्ट है। शुक्ल जी को सिद्धों और नाथों के काव्य की साहित्यिकता पर घोर आपत्ति थी। अपनी यह आपत्ति उन्होंने बार-बार प्रकट की। प्रथम संस्करण के वक्तव्य में उन्होंने कहा कि अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्त्वनिरूपण सम्बन्धी हैं जो साहित्य-कोटि में नहीं आतीं।' और संशोधित तथा प्रवर्द्धित संस्करण के वक्तव्य में दो बातें कहते हुए उन्होंने फिर भार दिया कि 'सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं। अपभ्रंश के जैन काव्यों के विषय में शुक्ल जी ने जो असाहित्यिकता की बात कही है, वह तो सम्भवतः इसलिए कि उन्हें स्वयम्भू, पुष्पदंत, धनपाल आदि के काव्य देखने को मिले ही नहीं। लेकिन सिद्धों और योगियों की रचनाओं के काव्यत्व पर उन्होंने जो आपत्ति उठाई उसे उनके काव्य-सम्बन्धी विशेष दृष्टिकोण का परिणाम समझना चाहिए। विचित्र स्थिति है। जो रचनायें साहित्यिक हैं, वे संदिग्ध हैं और जो असंदिग्ध हैं वे असाहित्यिक हैं। साहित्यिकता और असंदिग्धता के इस विरोध में इतिहासकार को असंदिग्धता का ही पक्ष लेना पड़ेगा क्योंकि विचार से तथ्य प्रबल होता है। किसी रचना की साहित्यिकता एक दृष्टिकोण है और इस पर मतभेद हो सकता है, लेकिन किसी रचना की असंदिग्धता एक स्थापित तथ्य है और उसे मान मारकर स्वीकार करना पड़ेगा। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर डा० द्विवेदी ने उदारता पूर्वक आग्रह किया है कि इस अंधकार युग को प्रकाशित करने वाला जो भी मिल जाय उसे सावधानी से जिला रखना कर्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के उन्नेक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्-पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता होती है। इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकता। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी न किसी महत्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती है।"[२]

मतलब यह है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में वीरगाथाओं के साथ धार्मिक

१ हि॰ सा॰ इतिहास पृ० ४ २६

२ हिन्दी साहित्य का आदि काल पृ० २५ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९५२ ई०)

रचनाएँ भी हो रही थीं। दूसरे शब्दों में यह युग अन्तर्विरोधों का था। इसी को डा० द्विवेदी ने 'स्वतो-व्याघातों' का युग कहा है और शुक्ल जी ने 'अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति' का युग कहा है। लेकिन अन्तर्विरोध अथवा स्वतोव्याघात एक चीज है और उस लोक प्रवृत्ति को अनिर्दिष्ट कहना बिल्कुल दूसरी चीज़। हिंदी साहित्य के आदिकाल में प्रवृत्ति की अराजकता नहीं थी, उसमें बेतरतीब उगी हुई प्रवृत्तियों का जंगल नहीं था। उस विविधता में भी व्यवस्था थी और वह व्यवस्था यह थी कि दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। एक प्रवृत्ति वह थी जो क्रमशः क्षीयमाण थी दूसरी वह थी जो क्रमशः वर्धमान थी। पहली का सम्बन्ध राजस्तुति, सामंतों के चरितवर्णन, युद्धवर्णन, केलि विलास, बहुविवाह के लिए विजयाभियान आदि से था और दूसरी का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक असंतोष, रूढ़ि विरोध, बाह्याडंबर खंडन, जाति भेद की आलोचना, उच्चतर आचार, व्यापक भगवत्प्रेम, मानवीय आत्म गौरव आदि से था। एक का नाम तथाकथित वीरगाथा काव्य है और दूसरी का तथाकथित योगधारा।

वीर गाथाओं को क्षीयमाण मनोवृत्ति का प्रतिबिंब कहने से, संभव है, इनके प्रति श्रद्धालु हृदयों को किंचित् ठेस पहुँचे और पूर्व-स्थापित धारणाओं को धक्का लगे लेकिन इतिहास विधाता का निर्णय निर्मम हुआ करता है। आचार्य शुक्ल जैसे रस सिद्ध सहृदय समीक्षक ने जब 'रासो' ग्रन्थों को सच्ची वीर गाथा के रूप में निरूपित किया तो इसे आचार्य की सहृदयता का अतिरिक्त आरोपण ही समझना चाहिए। उन्हें यदि इन काव्यों में मध्ययुगीन यूरोप के बैलेड काव्य की झलक दिखाई पड़ी तो इसे उनके अतीत प्रेम का प्रमाण-पत्र मानना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि 'रासो' काव्यों में कहीं कहीं सामन्तों के शौर्य का सुन्दर प्रदर्शन है और उनकी रसिकता का भी मार्मिक चित्रण हुआ है, परन्तु इन सभी वर्णनों में पुरानी रूढ़ियों और परिपाटियों का इतना भंडार है कि उनमें नवोन्मेष कम, प्राचीन निपुणता का संचय अधिक दिखाई पड़ता है। ऐसी वीर गाथाओं को तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन कैसे स्वीकार किया जाय जब कि बख्तियार खिलजी ने केवल दो सौ घोड़ों से समूचे अंग-बंग के राजाओं को एक लपेट में स्वाहा कर लिया और जनता के कानों पर जूँ नहीं रेंगी। ज़ाहिर है कि सामान्य जनता की भावना का उन सामन्ती वीर गाथाओं से कोई मतलब नहीं था।

जनता की आशाएँ आकांक्षाएँ अपने ढंग से व्यक्त हो रही थीं। जिस समाज में दुःख दर्द, अत्याचार का स्वरूप जात-पाँत जैसी धार्मिक और नैतिक *मान्यताओं* के माध्यम से प्रकट होता है, उस समाज में सामान्य जनता का असंतोष स्वभावतः धार्मिक-नैतिक रूप में ही व्यक्त हो सकता है। इसलिए तत्कालीन हिंदी जनता की

भावनाओं का धार्मिक प्रतीकों में व्यक्त होना स्वाभाविक है। उन भावनाओं पर लोक जीवन के अंध-विश्वासों, टोना-टोटका आदि प्रथाओं तथा निम्नस्तर का अन्य असंस्कृत और ग्राम्य बातों की छाप हो सकती है, फिर भी उन सबके बीच से उनके दुःख दर्द अन्तर्हार तथा कभी-कभी कल्पना-लोक में आनन्द प्राप्त करने की आकांक्षा प्रकट होती है।

दरबारों में रचे गए परिमार्जित और अलंकृत काव्यों की तुलना में ये ग्रामीण काव्य अनगढ़, कच्चे और सीधे सादे लग सकते हैं लेकिन इनमें शक्ति की संभावनाएँ अधिक हैं। यदि रुचिर प्राचीन का अपना सौंदर्य है तो सुराट नवीन का भी अपना आकर्षण है। ऐसी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों में इतिहासकार साहित्य की प्राणधारा गर्वित प्राचीन किंतु सुंदर प्राचीन में नहीं बल्कि विकासोन्मुख किन्तु अनगढ़ नवीन में देखता है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य के आदिकाल की वीर गाथाएँ रचना-काल और आकार-प्रकार की दृष्टि से संदिग्ध होने के साथ ही निष्प्राण भी हैं। अब देखना यह है कि आदि कालीन हिंदी-साहित्य की इन दोनों धाराओं के बीज अपभ्रंश में किस रूप में मिलते हैं।

अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत अन्तर्विरोध

शिष्ट और ग्राम्य, रूढ़ और नवीन काव्य की दो विरोधी प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश साहित्य में भी मिलती हैं। लेकिन विद्वानों ने इस भेद को अपने-अपने ढंग से समझा है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे लक्षित करते हुए कहा है कि "हिंदी में दो प्रकार की भिन्न जातियों की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई हैं। (१) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकता-मूलक शृंगारी काव्य, नीति विषयक फुटकल रचनाएँ और लोक प्रचलित कथानक और (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिया सन्तों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र-विचार धारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज-शून्य की साधना योग पद्धति और भक्ति-मूलक रचनाएँ।"[1] इनमें से उन्होंने पहली प्रवृत्ति को रूढ़िवादी तथा दूसरी को रूढ़ि-विरोधी कहा है। परन्तु वस्तु इस व्याख्या के विपरीत जाते हैं। रूढ़ियों का विरोध करने में पश्चिमी प्रदेशों के अपभ्रंश कवि अद्दहमाण और रामसिंह उतने ही तत्पर हैं जितने पूर्वी प्रदेशों के सरहपा और कण्हपा। इसके अतिरिक्त पश्चिमी अपभ्रंश में रचना करने वाले मान्यखेट के स्वयंभू और पुष्पदंत जैन प्रबन्ध कवियों को रूढ़ियों का पोषक किसी भी मानी में नहीं माना जा सकता। उन दोनों महाकवियों की रचनाएँ धर्म विशेष के विचारों से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु उनके चरित काव्यों में अनेक प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक रूढ़ियों का विरोध किया गया। राम-कथा सदा से ब्राह्मण धर्म द्वारा

---

1 हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० २६

प्रवर्तित रूढ़ियों का साहस पूर्वक खंडन स्वयंभू और पुष्पदन्त ने ही किया। राजदरबारों के अशुभ प्रभाव का उल्लेख भी उन्होंने ही किया। भौतिक सुख विलास के आसक्तिपूर्ण जीवन की असारता बतलाकर एक उच्चतर आध्यात्मिक आचरण की प्रेरणा देने में उनके काव्य अग्रणी रहे हैं। पुरुष के अत्याचारों के विरुद्ध नारी के आत्मगौरव को उस युग में स्वयंभू ने जितने साहस के साथ प्रतिष्ठित किया, उतना साहस और किसी ने नहीं दिखाया। इस हद तक रूढ़ियों का विरोध पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही अपभ्रंश के कवियों ने किया। इसके अतिरिक्त जहाँ तक उस युग द्वारा निर्मित आदर्शों और मर्यादाओं के पालन का प्रश्न है, उसमें भी जैन और सिद्ध दोनों कवि एक से दिखाई पड़ते हैं। कर्म-फल का बन्धन तोड़ने में इनमें से कोई सफल न हो सका था। यह अवश्य है कि जैन मत में कर्मों का बन्धन अत्यन्त उग्र माना जाता था। पूर्व जन्म के कर्मों के कारण नाना जन्म जन्मान्तरों में भटकने की कथाएँ किसी न किसी रूप में स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, कनकामर आदि सभी जैन कवियों के चरित काव्यों में मिलती हैं। जोइन्दु और रामसिंह जैसे स्वतन्त्र चेता जैन-मुनि भी कर्म सिद्धान्त से मुक्त नहीं हैं। उधर सरहपा और कायहपा जैसे उग्र सिद्ध भी इस संस्कार से ऊपर उठने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार मूल चेतना की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश की रचनाओं में कोई आधारभूत अंतर नहीं दिखाई पड़ता।

पंडितों के मस्तिष्क में जो यह धारणा घर कर गई है, उसका आधार जातीय (रेशल) है। डा० द्विवेदी इस सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के कथन को दुहराते हुये कहते हैं कि "पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुये आर्य, पूर्वी प्रदेशों में बसे हुये आर्यों से भिन्न प्रकृति के हैं। भाषाशास्त्रियों ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि ये दो भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग थे। यह भी ध्यान रखने की बात है कि पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदि काल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले संत होते रहे हैं। वैदिक कर्मकांड के मृदु विरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुये थे।"[१] भारतीय समाज और साहित्य के विषय में इस प्रकार की क्षेत्रीय और जातीय धारणा फैलाने का कार्य याय याकोबी, स्यूमान, गार्थे, रीज डैविड्स, विंटरनित्स आदि योरोपीय पंडितों ने किया है। इस भेद को कभी पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों में बाँटा गया है, कभी आर्य और आर्येतर जातियों में, कभी ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर धर्मों में और कभी एक ही आर्य जाति के भीतर दो प्रकृति वाले आर्यों के रूप में।

१ हिंदी साहित्य की भूमिका पृ० २६

जहाँ तक क्षेत्रीय भेद का प्रश्न है, यह युक्ति समझ में नहीं आती कि रूढ़ियाँ एक प्रदेश में रहें और उनका विरोध दूसरे प्रदेश में पैदा हो। पश्चिमी भारत में रूढ़ियाँ जड़ जमाएँ और पूर्वी भारत के रहने वालों को उनसे असंतोष हो यह बहुत दूर का ज्ञान मालूम होता है। दरअसल, रूढ़ियों का विरोध वहीं होता है जहाँ रूढ़ियाँ मौजूद होती हैं। प्राचीन काल से ही काशी और मगध में यदि रूढ़ि विरोधी आचार्य और पंडित होते आए हैं, तो उनके साथ ही रूढ़ि-पोषक विद्वानों का भी गुट रहता आया है।

और यदि आर्य और आर्येतर जैसे जातीय भेद के आधार पर इस साहित्यिक भेद को खड़ा किया जाता है तो पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही प्रदेशों में आर्येतर जातियों के मिश्रण के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। बाहर से आने वाला आक्रामक वर्ग सब पूरब में ही जाकर नहीं बस गया। पूर्वी भारत से कहीं अधिक जातीय मिश्रण पश्चिमी भारत में होता रहा है। शकों, हूणों के अतिरिक्त आभीर, गुर्जर आदि पश्चिमी प्रदेशों में ही सबसे पहले आकर बसे। इसलिए पश्चिमी प्रदेशों के रहने वालों में प्राचीन संस्कारों के रूढ़ि-बद्ध होने की सम्भावना कम से कम होनी चाहिए।

भारतीय समाज और साहित्य में आर्य आर्येतर जातियों के अनुसार दो विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष की बात हो सकती है, लेकिन अपभ्रंश-साहित्य में यह भेद किस हद तक मौजूद था यह बात अभी विचारणीय है। यह सही है कि समय समय पर बाहर से आने वाली जातियों के सामाजिक संस्कार के कारण भारतीय समाज में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहा है। भारतीयों ने एक ओर उनको अपनी सामाजिक व्यवस्था में समेटने की कोशिश की और दूसरी ओर उनके अनुसार अपने को थोड़ा सा बदलकर संतुलन स्थापित करने की ओर भी ध्यान दिया। सामाजिक संगठन में जातीय मिश्रण की इस प्रक्रिया के कारण साहित्यिक परंपरा में भी लोकतत्त्वों का प्रवेश होता रहा है। इस तरह भारतीय साहित्य में समय समय पर नवजीवन की लहरें आती रही हैं। भारतीय साहित्य के विषय में सामान्य रूप से यह बात लागू होती है परन्तु अपभ्रंश-साहित्य के विषय में विशेष रूप से इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए कितने तथ्य मिलते हैं—यह आसानी से नहीं बताया जा सकता। जैन कवियों की रामकथा में जो ब्राह्मणेतर अंश मिलते हैं तथा पुराणों के चरित नायकों की जो विशिष्ट परम्परा दिखाई पड़ती है—संभव है, वह सब ही लोकतत्त्वों की उपज हो। इसी तरह शृंगार और शौर्य के फुटकल दोहों को भी सब ही लोकजीवन के प्रवेश का परिणाम कहा जा सकता है। लेकिन यह सब शुद्ध अनुमान ही है। जब तक इसके लिए ठोस प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक

निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है।

फिर भी अपभ्रंश-साहित्य के भीतर रूढ़ि-पोषक और नवोन्मेषशालिनी दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अस्तित्व निःसंदिग्ध है। ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ दो विभिन्न प्रदेशों और भिन्न कवियों में नहीं बल्कि एक ही कवि की एक ही रचना के अंतर्गत देखी जा सकती हैं। स्वयंभू की रामायण में संस्कृत और प्राकृत की बहुत सी काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह है, अलंकारों का संभार है, प्राचीन मान्यताओं का आग्रह है फिर भी उनकी मूल चेतना नवीन है। यही बात पुष्पदंत के महापुराण के बारे में भी कही जा सकती है। महापुराण में जन्मरे परिपाटी विहित वर्णनों की भरमार है—विवाह-वर्णन में, जन्मोत्सव में, राज प्रासाद की शोभा में, उद्यानक्रीड़ा में, युद्ध में—सर्वत्र प्राचीन काव्यों की सी एकरसता मिलेगी फिर भी उनके बीच काव्य-रत रहने वाले पुरुषों का चरित्र अपना है और उसके निर्माण में कवि अपने नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा करना नहीं भूलता। लोक-काव्य के रूप में विख्यात 'संदेश रासक' जैसे काव्य के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उसमें सामोर का वर्णन करते समय जिन फल-फूलों की सूची दी गयी है और षड् ऋतु वर्णन जिस ढंग से किया गया है, वह सब एक दम परिपाटीविहित है। फिर भी 'संदेश रासक' में विरहिणी के हृदय के जो उद्गार हैं उनकी भाव-सम्पदा कवि की अपनी है—यह अपभ्रंश की नवीनता है।

धीरे धीरे अपभ्रंश-काव्य की यह नवचेतना भी रूढ़ि बनती गयी। परवर्ती अपभ्रंश-काव्य की इतिवृत्तात्मकता और निष्प्राणता इस रूढ़ि का प्रमाण है। तीर्थंकर वही हैं, शलाका पुरुष वही हैं लेकिन उनके बारे में लिखे हुए काव्य निर्जीव हैं। जैन धर्म के सिद्धान्त वही हैं, लेकिन परवर्ती कवियों के कथन में वह सजीवता नहीं है कि उन सिद्धान्तों को जीवित चरित्रों में ढाल सकें। जिनदत्त सूरि, जिनप्रभ सूरि आदि के लिखे हुए परवर्ती काव्यों में इस जड़ता का दर्शन किया जा सकता है। अपभ्रंश के इन परिपाटी विहित रूढ़ काव्यों का सिलसिला पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा अर्थात् उस समय तक भी इनकी रचना होती रही जब ब्रज, अवधी आदि लोक बोलियों में नवीन साहित्यिक चेतना का अभ्युदय हो गया। रूढ़ियाँ तब तक समाप्त नहीं होतीं जब तक उनके पोषक तत्त्व समाज से लुप्त नहीं हो जाते।

अपभ्रंश के इन परंपरा-भुक्त काव्यों ने हिंदी के कुछ आरंभिक चरित काव्यों को भी प्रभावित किया। हिंदी के हम्मीर रासो, खुम्मान रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि जो विशेष प्रकार के रासो काव्य हैं उन्हें अपभ्रंश

परवर्ती अपभ्रंश का रूढ़ काव्य और हिंदी के चारण काव्यों में उसका निर्वाह

के परवर्ती चरित काव्यों का बदला हुआ रूप समझना चाहिए। हिंदी के ये रासा ग्रंथ चाहे जब लिखे गए हों, इनमें चाहे जब जब जितने भी प्रक्षेप हुए हों परंतु उनमें निहित मूल प्रवृत्ति एक ही है। राजाओं के धन-वैभव, पराक्रम और विवाह-बाहुल्य आदि का बढ़ा चढ़ा वर्णन एक स्वर से और एक ढंग से उन सब में मिलेगा। यह अवश्य है कि भिन्न भिन्न कवियों की शक्ति के अनुसार यह रूढ़ि निर्वाह भी उत्तम मध्यम हो गया है और उसी मात्रा में वे रचनाएँ भी एक निश्चित सीमा में उत्कृष्ट-निकृष्ट हैं। जैसे 'पृथ्वीराज रासो' में परंपरा-पालन के बावजूद अन्य रासो प्रबंधों की अपेक्षा काव्य-सौंदर्य कहीं अधिक है। 'पृथ्वीराज रासो' के शशिव्रता विवाह और संयोगिता-स्वयंवर वाले प्रकरण किसी भी काव्य ग्रंथ के लिए गौरव के विषय हो सकते हैं। शशिव्रता का वयःसंधि का वर्णन बहुत कुछ परंपरा के अनुसार होते हुए भी चंद की रूप-पारखी दृष्टि का प्रमाण है।

राका अरु सूरज्ज बिच, उदय अस्त दुहुँ बेर।
वर ससिवृत्ता सोभई, मनो शृङ्गार सुमेर॥

सुमेरु पर्वत के एक ओर उगते हुए सूर्य और दूसरी ओर डूबते हुए शशि को देखकर विशाल गजराज के दोनों ओर लटकते हुए स्वर्ण घटों की उपमा देकर तो भाव 'घंटा-मात्र' हो गए लेकिन चंद की इस प्रतिभा का क्या गौरव दिया जाय जिसने शशिव्रता के शरीर को ही शृङ्गार का सुमेरु बना दिया! इस शृङ्गार-सुमेरु के एक ओर युवावस्था की राका उदित हो रही है और दूसरी ओर किशोरावस्था का सूर्य अस्त हो रहा है। उगते हुए पूर्ण चंद्र और डूबते हुए सूर्य की आभा से जिस प्रकार सुमेरु रँग उठता है उसी प्रकार शृङ्गार-मूर्ति शशिव्रता भी उभरते हुए यौवन और ढलते हुए कैशोर की आभा से खिल उठी है। वयःसंधि में आभा का सौंदर्य तो बहुत से कवियों ने देखा और दिखाया है, लेकिन किसी सुंदरी की अंग-यष्टि को शृङ्गार के सुमेरु की उदात्त उपमा पृथ्वीराज रासो कार चंद की अपनी विशेषता है।

प्राचीनता और नवीनता की यह आभा जिस प्रकार पृथ्वीराज रासो की नायिका शशिव्रता में दिखाई पड़ती है, उस प्रकार कविता में भी।[1]

लेकिन हिंदी साहित्य अपभ्रंश की रूढ़ियों का रक्षक-मात्र नहीं रहा और न

[1] विशेष अध्ययन के लिए देखिए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह द्वारा सम्पादित संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (पृ० १६८-१८)

कोई भी विकासोन्मुख साहित्य ऐसा हो ही सकता है। हर्ष की बात है कि अपभ्रंश के रूढ़ साहित्य की उद्धरणी हिंदी में अधिक नहीं हुई। हिंदी मुख्यतः अपभ्रंश की जीवत परम्परा को लेकर आगे बढ़ी। अपभ्रंश की यह जीवन्त परम्परा कुछ तो 'सदेश रासक' जैसे प्रेमपूर्ण लोक गीतों में व्यक्त हुई थी, कुछ भविसयत्त कहा, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, और करकंड चरिउ जैसे आख्यानक काव्यों में, कुछ जैन मुनियों तथा बौद्ध सिद्धों के दोहों में और कुछ स्वयमू और पुष्पदंत के पौराणिक काव्यों में। हिंदी में इस प्राण धारा का विकास कहीं प्रत्यक्ष रूप से हुआ और कहीं परोक्ष रूप से कहीं यह विकास अपभ्रंश से बहुत आगे हो गया और कहीं अपभ्रंश की सीमा से कुछ ही आगे बढ़ सका। इन सभी बातों पर सोदाहरण विचार करने के लिए इनमें से एक-एक को अलग अलग लेना ठीक होगा।

हिंदी में अपभ्रंश की जीवत परम्परा का विकास

अपभ्रंश में लोक जीवन के स्पर्श तथा लोक तत्त्वों के प्रवेश से जितनी रचनाएं हुई उनमें 'सदेश रासक' महत्त्वपूर्ण है। अन्य रास काव्यों की तरह इसमें किसी पुरुष का चरित नहीं गाया गया है, बल्कि यह छोटा-सा प्रेम गीत है। इस तरह के 'रास काव्य' हिंदी में भी लिखे गये। बीसलदेव रास[1] (१४वीं शताब्दी ईस्वी) ऐसा ही रास काव्य है जिसे 'पृथ्वीराज रासो' आदि पुराने ढंग के चरित प्रधान रासो काव्यों से भिन्न कोटि में रखना चाहिए। लगभग सवा सौ छन्दों के इस छोटे से प्रेम-काव्य में बीसलदेव के परदेश जाने और उसकी रानी राजमती के वियोग तथा सदेश भेजने और फिर बीसलदेव के वापस आने की बात ललित मुक्तकों में कही गयी है। यदि इस कहानी को हटा दिया जाय तो भी इस प्रेम काव्य के मुक्तकों की एकसूत्रता में अंतर नहीं आ सकता क्योंकि सभी छन्दों के बीच कथा की अपेक्षा भाव का सूत्र है। 'सदेश रासक' की भाँति 'बीसल देव रास' भी मुख्यतः विरह काव्य है अंतर इतना ही है कि 'बीसल देव रास' के आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं साथ ही बीसलदेव के परदेश जाने का प्रसग भी वर्णित है। शेष प्रसग सामान्य रूप से लगभग एक सा है अंतर केवल ब्यौरे का है। जैसे 'सदेश रास' में जहाँ षड्ऋतु-वर्णन है वहाँ 'बीसलदेव रास' में बारहमासा है। ऐसा मालूम होता है कि 'बारहमासा' की प्रवृत्ति परवर्ती काल में विकसित हुई। अपभ्रंश की जिस रचना में 'बारहमासा' मिलता है, वह विनयचन्द्र

अपभ्रंश लोक-गीत और हिंदी के शृंगारी मुक्तक

[1] डा॰ माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित और हिंदी परिषद विश्वविद्यालय, प्रयाग द्वारा प्रकाशित १९५३ ई०

सुनिश्चित 'नेमिनाथ चउपई' तेरहवीं शताब्दी इसके से पहले की रचना नहीं है यदि होगी तो उसके बाद की होगी। इनके अतिरिक्त 'संदेश रास' का षड्ऋतु वर्णन जहाँ ग्रीष्म ऋतु से शुरू होता है, वहाँ 'बीसलदेव रास' का बारह मासा कार्तिक मास से आरम्भ होता है। कारण स्पष्ट है। चौमासे में कोई प्रवास नहीं करता। प्रायः लोग पावस के चार महीने बिताकर ही कहीं बाहर निकलते हैं। बीसलदेव ने भी ऐसा ही किया। इसलिए उसकी रानी राजमती की विरह वेदना का क्रम कार्तिक से शुरू होना स्वाभाविक है।

इसी तरह 'संदेश रास' में संदेश लेकर पथिक ज्योंही प्रस्थान करता है कि विरहिणी का प्रिय दिखाई पड़ जाता है और काव्य वहीं समाप्त हो जाता है, जब कि 'बीसलदेव रास' में पथिक सचमुच बीसलदेव के पास पहुँच जाता है और रानी की चिट्ठी पाकर वह उड़ीसा से अपनी राजधानी अजमेर को प्रस्थान करता है लेकिन प्रस्थान करने से पहले रानी के पास अपने आगमन की पूर्व सूचना भेजता है। 'बीसलदेव रास' की समाप्ति राजा और रानी के आनन्दपूर्ण मिलन के सुखद वर्णन के बाद होती है।

इसी तरह ब्यौरे की और भी कई बातें हैं जिनमें 'बीसलदेव रास' 'संदेश रास' से भिन्न है। फिर भी दोनों मूलतः विरह काव्य हैं और दोनों का मुख्य भाव धारा एक है। इसका मतलब यह नहीं है कि 'बीसलदेव रास' 'संदेश रास' से प्रत्यक्ष प्रेरित और प्रभावित हुआ है। साहित्य में ऐसे प्रभाव और प्रेरणाएँ परोक्ष हुआ करती हैं। इनका मूल आधार तो लोक जीवन में ही हुआ करता है।

विवाहोत्सव में बीसलदेव और राजमती भाँवरें देते हैं। पहली भाँवर पर कन्या के पिता 'आलासर' और 'साल' नाम के दो गाँव दायज में देते हैं। दूसरी भाँवर पर कन्या की माता दामाद को न जाने कितना द्रव्य और कई गाँव देती है। तीसरी भाँवर पर सारे रनिवास ने मिलकर कई अच्छे घोड़े और हाथी दिये। इस तरह सातों भाँवरें पूरी की जाती हैं। संपूर्ण प्रसंग को पढ़ते समय इस अवसर पर गाये जाने वाले लोक गीतों का स्मरण हो आता है। 'बीसलदेव रास' को छोड़कर हिंदी के और किसी काव्य में इस मार्मिक प्रसंग की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

रानी राजमती स्वभाव की कुछ खरी और जबान की जरा तेज है। राजा बीसलदेव ने एक दिन जरा अपने राजकीय अभिमान की रौ में कहा कि मेरे समान दूसरा भूपाल नहीं है। अपना पति है तो क्या, रानी से यह मिथ्या अभिमान न सहा गया। उसने राजा को तुरंत टोका और कहा कि गर्व मत कर। उड़ीसा के राजा तुमसे धनी हैं। जिस तरह तुम्हारे राज्य में नमक निकलता है, उसी तरह उसके घर में हीरे की खानों से हीरा निकलता है। जवाब सुनते ही राजा

रुठ गया और रानी के लाख अनुनय विनय पर भी उसने उड़ीसा जाने का सकल्प कर लिया। ऐसे समय रानी राजमती के कहे हुए वचन बहुत ही मार्मिक हैं। रानी कहती है—

हेडाऊ का तुरिय जिउ
हाथ न फरइ सउ सउ वार।

अर्थात् मैं हेड़ा (हार) के उस घाड का तरह उपस्थित हूं जिस पर हेड़ा वाला सौ-सौ दिनों तक हाथ नहीं फेरता।

जवान की तेज ता यह है हा राजा का भी कम चोट नहीं लगी है। वह कहता है "हे नारी कडवी बात मत कह। मैंने तुझे चित्त से बिसार के छोड़ा है। जीभ मइ नहीं निकलता। दवाग का दाढ़ा पड़ ता फिर कोपलें लेता भी है लेकिन जीभ का जला फिर पल्लवित नहीं होता।"

जीभ नवी नहु नीकलइ
दवका दाधा हो कूपल लइ
जीभ का दाधा न पाल्हवइ।

रानी फिर भी अपनी कैंचा से बाज़ नहीं आती। 'अर्थ द्रव्य के लिए परदेस जाकर तुम कुल-कानि मिटा रहे हो। अर्थ द्रव्य ता धरती में गड़ा रह जाता है किंतु जो इसका संचय करता है, वह उसी का खाता है—

अरथ दरब गाड्या रहइ।
जह नइ सिरिजियउ तेहीज पाइ।

सात सहेलियाँ राजमती को समझाती हैं कि स्वामी का 'फूल पगर जिउ गाहिजइ' फिर भी वह जवाब देती है कि ताज़ा घोड़ा यदि उछलें लगा है तो दागा जाता है चरता हुआ मृग भी मारित किया जा सकता है किन्तु हे सखी, अचल में नाथ को बाँधा कैसे जा सकता है!

चाबीया तेजीय नउ रे उछलइ
मृग र चरता माहिजइ
सगा अचलि बाँधियउ नाह किउ जाइ।

उसकी नारसता पर भल्लाकर राजमती यहाँ तक कहती है।

राउ नहीं सपि महस-पाछार।

मध्ययुग के समूचे हिंदी साहित्य में ज़बान की इतनी तेज़ और मन की इतनी खरी नायिका नहीं देखी। परंतु तेज़ है तो क्या हुआ! है तो आख़िर नारी ही। प्रिय के बिछोह के बाद उसका रुदन हृदय विदारण कर देता है। उस अपने स्त्री जीवन पर रोना आता है। महेश से वह उलाहना देती है कि स्त्री का जन्म

तुमने क्यों दिया ? देने के लिए तो तुम्हारे पास और भी बहुतेरे जन्म थे । तुमने मुझे जंगल का जंतु क्यों नहीं बनाया ? धौरा गाय भी क्यों नहीं बनाया ? यदि वनखंड का काली कोयल ही बनाया होता तो आम और चंपा की डाल पर तो बैठता, अंगूर और बीजोरा के फल तो खाता !

अस्त्रीय जनम कांइ दीधउ महेस
अवर जनम थारइ घणा रे नरेश
रानि न सिरजीय रोमड़ा
धणह न सिरजीय धउलीय गाइ ।
वनखंड काली कोइली
हउ बइसता अंबा नइ चंपा की डाल ।
भखता दाख बिजोरड़ा ।

आगे वह फिर कहती है कि यदि तुमने मुझे नारी ही बनाया तो राजा की रानी न बनाकर आँजना (जाटनी) क्यों नहीं बनाया ? तब मैं अपने भरतार के साथ खेत कमाती, अच्छा लावड़ा (लामपटा) पहनती, तुंग तुरंग के समान अपना गात स्वामी के गात से भिड़ाती, स्वामी के सामने से लेती और हँस-हँस कर प्रिय की बात पूछती ।

आँजणी कांइ न सिरजीय करतार
खेत कमावती ल्यउ भरतार
पहिरण आछा लावड़ा
तुंग तुरीय जिम भीड़ता गात
साहय लेती साम्हुहा
हँसि हँसि बूझता प्रिय की बात ।

कितनी बड़ी विवशता है ! किसी रानी का रानी होना कितना बड़ा अभिशाप है ! मुक्त जीवन की कितनी बड़ी लालसा राजमती के इन कथन में निहित है । मध्ययुग की किसी भी रानी में ऐसी उन्मुक्त आकांक्षा नहीं दिखाई पड़ती ।

इस तरह बिसूरते हुए जब बारह महीने बीत जाते हैं तो राजमती एक पंडित को बुलाती है और प्रिय के पास चिट्ठी लेकर जाने की याचना करती है । सहेलियाँ हँसी करती हैं कि हे रानी तुमने जो लिखा है हमें भी सुनाओ ।

राजमती एक-एक करके सारी बातें पढ़ सुनाती है । चिट्ठी में निम्नत लिखने जन में वह लिखती है कि हे राजा तुम ज्ञान की बातें जानते हो । तुम्हें तो यह मालूम ही है कि हमें दो काया और एक प्राण मिले हैं । उस दूसरी काया को तुम

दूर से क्यों छोड़ रहे हो ? मैं कुलीन बेटी हूँ और शील की जंजीर में बंधी हूँ। अपने जोबन को मैं चोर की तरह छिपा कर रख रही हूँ। इसका पाप पग-पग पर तुम्हें लग रहा है।

जाणियउ हो राजा थाकउ जाण
दुहुँ रे काया मिलउ एक पराण
सा क्यउ दूर थी मेल्हियइ
कुल का रे बेटीय साल जजीर
जोवन रापउ मइ चोर जिउ
पगि-पगि ता लइ पहुँच रे पाप।

और चिट्ठी बाँच लने के बाद पंडित से कुछ जबानी कहने का भी कहती है।

एक सरा घरि आविज्यो
थारी नाट बुहारू सिरह का केसि।
जोबन भरि जल ढलग्यउ
थाग न पाउ सुणहु नरेस।

प्रिय की बाट का अपने सिर के केशों से बुहारने में कितनी विह्वलता है और लोक-गीतों में अपने पति को जो 'ननद का भाई' कहकर पुकारने की प्रथा है, वह भी राजमती के मुख से सुनिए।

तू तउ ठवइगउ रे आविज्या नणद का वीर।

संदेश देने के साथ ही राजमती पंडित को यात्रा संबंधी बहुत सी हिदायतें भी देती है। लेकिन पण्डित तो फिर पंडित ठहरे किया उन्होंने अपने मन ही का। रानी की सारी बातें उन्हें भूल गयी। सलाह दी गयी थी यह डग जाने की और चल पड़ित छाड़ डग। इस तरह वे सात महीने में उड़ीसा पहुँचे। सात महीने में तो क्या पहुँचे होंगे, लेकिन व्याकुल रानी के लेखे वह सात ही महीना था। लोक कथाओं के संदेश वाहक भी ऐसी ही देर कर जाते हैं।

और राजा का घर का सुधि आती है और वह भी घर पहुँचने से पहले पत्र लेकर एक सिद्ध योगी को भेजता है क्योंकि इतना जल्दी उसके सिवा और पहुँच ही कौन सकता है। प्रिया और प्रिय के संदेश वाहकों में कितना विरोध है! भावों के प्रतीक हों तो ऐसे।

सो वह योगिराज राजमती के हाथ में पत्र देते हैं और पत्र देखकर रानी के हृदय से ये उद्गार निकलते हैं—

प्रिय बिण पद्माय न जीवतो
हियइ ताहि स्युँ हुआ चोगे निराहार।

जिनके बिना घड़ी भर भी नहीं रह पाती थी, अब उन्हीं से पत्र-व्यवहार की नौबत आ गयी।

अंत में चिट्ठी के बाद वह चिट्ठी लिखने वाला भी मिलता है। इस मिलन में नारी की आनंदातिरेक-जनित चंचलता, विह्वलता, हँसी ठिठोली वगैरह देखने योग्य हैं—

मुलकइ हसइ, आलिंगन देइ,
पलिंग न बइसइ, अनइ पान न लेइ
ऊभाय देइ उलभटा—
"आंगुली तोडइ छइ, मरोडइ छइ बाह
नाह मरोसइ काइ करउ!
तइ तउ बारह बरिस किउ मेल्हाय नाह!"

और इतना दुख झेलने के बाद भी नारी का वह कैंचा न गयी और न हुई तनिक भी भायर। आखिर उसने फिर ताना मार ही दिया—

स्वामी घी विणजियउ नइ नामियउ तेल!

हे स्वामी तुमने वाणिज्य तो घी का जरूर किया किन्तु नँवा तेल ही! इतनी सुंदर नारी से विवाह तो किया लेकिन उसका उपभोग करने का सौभाग्य तुम्हें न मिल सका! कोई घी जैसा चिकना नाम ही ऐसी काठ-सा-कठेठा बात कह सकती है! अभिव्यक्ति की सादगी और भावों की तीव्रता में 'वीसलदेव रास' 'संदेशरास' से कहीं अधिक लोक-जीवन के रंग में रंगा हुआ है। इससे यही प्रमाणित होता है कि हिंदी साहित्य के अभ्युदय-काल में अपभ्रंश युग की अपेक्षा लोक जीवन में जागर्ति अधिक आ गयी थी और उसके फलस्वरूप साहित्य में लोक तत्व का प्रवेश अधिक दूर तक होने लगा था। 'वीसलदेव रास' पर लोक-तत्व का प्रभाव इतना गहरा है कि इसका छंद भी एकदम लोक-गीतों का है, यों तो परिश्रम करने से इसका संबंध किसी-न-किसी पुराने छंद से स्थापित किया हो जा सकता है, लेकिन प्रायः इसका प्रयोग इससे पूर्ववर्ती किसी काव्य-ग्रंथ में नहीं मिलता।

ढोला मारू रा दूहा

इस तरह का एक और लोक-काव्य ढोला मारू-रा-दूहा (१५वीं शताब्दी ईस्वी) है जो 'संदेश रास' और 'वीसलदेव रास' की तरह मूलतः विरह गीत ही है परंतु समय-समय पर उसमें भाव-पेच भरी हुई कथाओं की चिप्पियाँ लगाकर उस मुक्तक से आख्यानक काव्य बना देने के प्रयत्न हुए हैं। मुख्य कथ्य इतना ही है कि सयानी होने पर मारवणी अपने बचपन के पति ढोला

की चर्चा सुनती है और विरह में व्याकुल हो जाती है। वह अपने पति का पता लगाने के लिए कई संदेश-वाहक भेजती है लेकिन कोई वापस लौटने नहीं पाता सभी संदेशवाहकों को उसकी सौत मालवणी मरवा देती है और ढोला के पास मारवणी का संदेश तक नहीं पहुँचने देती। अंत में मारवणी लोक-गीत के गायक एक ढाढ़ी को यह जिम्मेवारी सौंपती है और ढाढ़ी को इस उद्देश्य में सफलता मिलती है। ढाढ़ी के प्रयत्न से ढोला और मारवणी दोनों में पुनर्मिलन होता है। संग्रह में संगृहीत अधिकांश गीतों की पृष्ठभूमि यही है। इसके बाद कुछ और रस पैदा करने के लिए मारवणी की मृत्यु करा दी गई है और उसे फिर तरह जिला देने के बाद फिर ऊमर-सूमरा जैसे शत्रु की बाधा खड़ी की गयी है और अंत में उस बाधा को भी दूर करके ढोला को और उसकी दोनों पत्नियों को इकट्ठा मिला दिया गया है। इस तरह वर्तमान कथा प्रसंग में 'रुकावट दौड़' का सा रस उत्पन्न करने की चेष्टा दिखाई पड़ती है जब कि मुख्य प्रसंग ढोला के प्रति मारवणी के विरह-निवेदन और संदेश-प्रेषण तक ही सीमित है। 'ढोला' काव्य का यह मुख्य अंश वस्तुतः गीतात्मक ही है इसमें कथा प्रसंग का अध्याहार तो कितने मुक्तक सवैयों और घनाक्षरियों में रहा करता है।

ढोला के काव्य गठन में 'संदेश रासक' और 'वीसलदेव रास' से यह नवीनता है कि इसमें षड्ऋतु वर्णन या 'बारहमासा' जैसी कोई चीज नहीं है ऋतुओं में केवल पावस का वर्णन है और वह भी विस्तार से। ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि मारू देश में सबसे मनोहर पावस ऋतु ही होता है जैसा कि 'ढोला' में कहा भी गया है — मारू देस सुहावणा सावण साँझी बेर'। 'ढोला' के इस पावस वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें स्थानीय रंग सबसे अधिक है, वीसलदेव रास से भी अधिक। 'ढोला' के पावस-वर्णन में परंपरा मुक्त कुछ भी नहीं है। 'ढोला' में प्रसंगात मारू देश का भी वर्णन है लेकिन यह वर्णन 'संदेश रासक' के 'सामोर' की तरह परिपाटी विहित नहीं है उसमें केवल रूढ़ गिनी-चुनी वस्तुओं और पेड़ों के नाम गिनाने का शौक नहीं है। यहाँ भी मारवाड़ का वास्तविक जीवन प्रतिबिंबित हो उठा है।

'ढोला' के संदेश कथन में भी विशेषता है। 'संदेश रासक' में संदेश सर्वथा अपरिचित एक पथिक से कहा गया है 'वीसलदेव रास' में अपने राज्य के ही एक पंडित को बुलाकर कहा गया है। लेकिन 'ढोला' में क्रौंच पक्षी से लेकर ढाढ़ियों तक अपना विरह वेदना कही गयी है। यहाँ संदेश-वाहक भी सहृदय हैं। क्रौंच पक्षी से

१ सर्व श्री रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा संपादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित १९३४ ई०

बढ़कर विरह विदग्ध और कौन होगा दूसरी ओर गायक ढाढ़ी भी पथिक और पक्षि की तरह मात्र श्रोता नहीं हैं बल्कि संदेश को अपनी रचना शक्ति से अधिक मार्मिक बनाकर कहने वाले जीव हैं। ऐसी दशा में 'ढोला' के संदेश कथन में मार्मिकता कहीं अधिक है।

शैली की दृष्टि से 'ढोला' लोक-गीत के निकट सबसे अधिक है। एक पंक्ति की अनेक आवृत्तियाँ प्रायः लोक-गीतों की विशेषता दिखाई पड़ती है। इससे उनमें सरलता के साथ ही मार्मिकता भी बढ़ जाती है। 'ढोला' के दोहों में—विशेषतः विरह निवेदन में इस प्रवृत्ति की बहुलता है।

मारवणी के संदेश कथन का आरंभ इस प्रकार होता है कि एक रात घर के पीछे वाले सरोवर में रात भर कुररी पक्षियों का करुण-रव होता रहा। मारवणी को नींद नहीं आयी। सुबह होते ही सखियों सहित सरोवर के पास गयी और कुरझों से बोले बिना न रह सकी। मारवणी और कुरझों का सवाल जवाब थोड़ी देर तक होता रहा और अंत में किसी गंवार को शर संधान करते देख कुरझियाँ उड़ गयीं। पक्षी और स्त्री की इतनी मार्मिक बातचीत हिंदी में 'पद्मावत' को छोड़कर और कहीं नहीं है। यह प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

> "कुरझाँ, थउ नइ पङ्खड़ी थाकउ विनउ वहेसि
> सायर लघी प्री मिलउ प्री मिलि पाछी देसि॥"
> "म्हे कुरझाँ सरवर-तणा, पाँखाँ किणहि न देस।
> भरिया सर दखो रहाँ, उड़ आघरि वहेस॥
> 'उत्तर दिसि उपराठियाँ, दक्खिण सामहियाँह।
> कुरझाँ, एक सदेसड़उ ढोलानइ कहियाँह॥
> "माणस हवाँ त मुख चवाँ, म्हे छाँ कूझड़ियाँह।
> पिउ सदेसउ पाठविसु लिखि दे पखड़ियाँह॥
> "पाँखे पाणी वाहरइ, जलि काजल गहिलाइ।
> सयणाँ तणाँ सदेसड़ा मुख वचने कहिवाइ॥"

कुरझें चाहे जो हों, लेकिन हैं तो आखिर पक्षी ही। वे भला इतनी समझदारी से भरा उत्तर कैसे दे सकती हैं? लेकिन विदग्ध चित्त की गति विचित्र होती है। यदि कुरझें नहीं बोल रही हैं तो यह चित्त उनकी ओर से स्वयं ही जवाब दे लेता है। इस मन स्थिति को इस बात-चीत में कितनी मार्मिकता के साथ व्यक्त किया गया है।

यदि कुरझों ने अपनी पाँखों पर संदेश लिखवाने से इनकार कर दिया और यदि उन्होंने प्रियतम के पास जाने के लिए अपनी पाँखें उधार न दीं तो क्या

हुआ ! ढाढ़ी तो हैं ही । मारवणी उन्हीं में से एक को बुलाकर अपना संदेशा कहती है। इस सदेश में कोई लम्बी चौड़ी बात नहीं, बनावट नहीं। स्त्रियों का सदेश दिल पर जितनी सीधी चोट करने वाला होता है, वैसा ही है। हर एक भाव, और हर एक वाक्य जैसे रह रह कर उठती हुई एक एक लहर है—इन सबका ऐसा लम्बा सिलसिला है कि कभी खत्म ही होना न दीखे।

> ढाढ़ी, एक सदेसड़उ प्रीतम कहिया जाइ।
> सा धण बलि कुइला भइ, भसम ढँढोलिसि आइ ॥
> ढाढ़ी, जे प्रीतम मिलइ, यूं कहि दाखविया इ।
> पजर नहि छइ प्राणियउ, थाँ दिस भज्ज रहियाइ ॥

धनिया जलकर कोयला हो गई, अब आकर उसकी भस्म ढँढोलना और पजर में प्राण नहीं हैं, केवल उसकी लौ तुम्हारी ओर झुक झुक कर जल रही है—ये दोनों ही चित्र कितने प्रभावशाली हैं ! करुणा मूर्तिमती हो गयी है। आखिर कौन इतना निष्ठुर होगा कि ऐसा सदेशा पाने पर घर न चला आये। इसके बाद तो कभी वह उस 'भलेमानस' से सदशा कहने को कहती है तो कभी उस 'रावँद' से कभी अपने 'साहिब' से निवेदन करती है तो कभी सीधे अपने 'ढोला' से ! जैसा भाव वैसा सबोधन।

मारवणी के मन का स्थिति का एक और चित्र है जब ढोला के आने की खबर उसे मिलती है। खबर सुना नहीं कि हृदय हर्षातिरेक से हेमगिरि जितना विशाल हो गया। वह अनुभव करती है कि अब यह तन-पजर में समाएगा ही नहीं।

> हियड़ा हेमगिरि भयउ, तन-पजरे न माइ।

वह अपने मदिर में इस तरह फुदकती हुई चली जैसे कोई फौव्वारा छूट रहा हो—

> मारू चाली मदिरे, नाथि छुटो छछाल।

वह 'घम्म घमन्त घाघरे' में एक घर से दूसरे घर में चलती हुई ऐसा मालूम हो रही है जैसे 'भीने बादल चंद।' और अपने हर्षातिरेक में देखती है कि घर के खभ तक नाच रहे हैं, सारा घर हँस रहा है और सबसे बढ़कर तो वह खाट है जो उठकर खेल रही है—

> साई साजण आविया, जाँह की जोती बाट।
> थाँभा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट ॥

इस प्रकार मारवाड़ देश में लिखे हुए ये दोनों लोक-काव्य चारणों की राजस्तुतियों के परिपार्श्व में सामान्य लोक-जीवन की स्वस्थ और सरस भावनाओं

को प्रकट करते हैं। ये लोक-काव्य उच्च स्वर से घोषणा करते हैं कि बड़ी से बड़ी विषम स्थिति में जनता गाना बन्द नहीं करती और यदि राज दरबार अपने मिथ्या अभिमान, वैभव और गौरव का निष्प्राण तथा आडम्बरपूर्ण साहित्य कुछ स्वर्ण मुद्राओं और रजत-खण्डों के बल पर लिखवाते हैं तो जनसाधारण के कवि अपनी उमंग से ही अपने जीवन का रस सहज ही काव्य में उड़ेला करते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'सन्देश रासक' मुल्तान में लिखा गया और 'बीसल देव रास' तथा 'ढोला काव्य' भी उसके पास ही मारवाड़ देश में। ये पश्चिमी भारत के जीवित लोक-जीवन के प्रमाण हैं।

अपभ्रंश-साहित्य की प्राणधारा ऐहिक लोक-गीतों के अतिरिक्त जिन रचनाओं में व्यक्त हुई वे प्रायः सबकी सब धार्मिकता का पुट लिए हुए हैं।

अपभ्रंश की कथाएँ और हिंदी के आख्यानक काव्य

लोक प्रचलित कहानियों में जगह जगह धार्मिक संकेत की छौंक देकर इस्तेमाल में लाने की प्रथा इस देश में पहले से ही मौजूद रही है। लोक गीतों में धार्मिकता का पुट तो नहीं दिया गया क्योंकि वे गाने के लिए लिखे गए और अपने राग-रंग के ऐहिक क्षणों में जन-साधारण भरसक धार्मिक जीवन के ऊँचे आदर्शों को भूलना ही अच्छा समझते हैं। आखिर यह भी क्या जीवन है कि जब देखो तब ऊँचे ऊँचे आदर्शों की ही दुनिया में रहा जाय, एक उच्चतर आमुष्मिक भाव का ही चर्चा में रत रहे। वास्तविकता भी (को) कोई चीज़ होती है सहज जीवन का भी अपना आनन्द होता है अनावृत क्षणों की भी अपना महत्त्व होता है। 'बीसलदेव रास' और 'ढोला' के दोहे ऐसे ही अवसरों पर गाए जाने के लिए रचे गये हैं। इसका कारण शायद यह भी हो कि जिन दिनों ये रचे गये, धार्मिकता की लहर लोक-जीवन में उतनी नहीं उठी थी। क्योंकि थोड़े दिनों के बाद ही जब उत्तर भारत में भक्ति की बाढ़ आयी तो ये तमाम लोक प्रचलित गीत गोविंद राम आदि भगवन्नामों से सवलित करके भक्ति भाव के लिए इस्तेमाल कर लिये गये। ढोला० के अनेक दोहों को कबीर ने ज्यों का त्यों उठा लिया—कहीं-कहीं अपनी ओर से इतना ही किया कि जहाँ 'प्रीतम' था, वहाँ 'गोविंद' का रख दिया। जैसे ढोला० के

राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल॥

को कबीर ने इस प्रकार कर लिया—

अंबर कुँजाँ कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।
जिन पै गोविंद बीछुटे तिनके कौण हवाल॥

लेकिन लोक-गीतों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तन लोक कथाओं में किया गया है क्योंकि उनमें परिवर्तन की गुंजाइश अधिक होती है।

अपभ्रंश की 'भविसयत्त कहा' मूलतः एक लोक कथा है। इस तरह की कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है कि एक सौदागर के दो औरतें थीं। छोटी को वह बहुत मानता था, बड़ी की कोई कद्र नहीं थी। कुछ दिनों बाद अपने बाप की आज्ञा से छोटी स्त्री का लड़का रोजगार के लिए परदेश चलने लगा। यह देखकर बड़ी का भी लड़का मचल उठा। माँ ने मना किया लेकिन वह न माना। आखिर उपेक्षिता के लड़के की ही तकदीर खुली और उसे काफी धन मिला, यहाँ तक कि धन के साथ ही एक कन्या भी मिला। दूसरी ओर पति की प्रिया के लड़के के हाथ कुछ न लगा। तब ईर्ष्यावश रास्ते में इस लड़के ने अपने सौतेले भाई को कुएँ में झोंक दिया और उसका सब कुछ लेकर वह खुद घर चला आया। संयोग से उस लड़के की जान बच गई और वह फिर बहुत सारा धन लेकर घर पहुँचा। भेद खुलने पर एक को दण्ड और दूसरे को पुरस्कार दिया गया। जैसे उसका राज-पाट लौटा वैसे सबका लौटे।

'भविसयत्त कहा' की कहानी यही है। कहीं यही कहानी राजा-रानी और राजकुमारों के रूप में कही जाती है और कहीं सौदागर के रूप में। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे वह राजा हो चाहे सौदागर। है वह एक साधारण आदमी का ही प्रतिनिधि।

यदि ध्यान से देखा जाय तो स्वयं इस कहानी की रचना में ही एक विशेष उद्देश्य काम कर रहा है। यह कहानी रची ही गयी है इस उद्देश्य के लिए कि जो मनुष्य द्वारा तिरस्कृत होता है उसकी मदद भगवान या भाग्य करता है। लोक कथाएँ प्रायः स्त्री जाति द्वारा ही रची जाती हैं इसलिए स्वभावतः उनमें उन्हीं का दुख सुख सबसे अधिक होता है और दुख-सुख में वास्तविक तो दुख ही रहता है, सुख तो केवल आकांक्षा की उपज होता है। पुरुषों द्वारा सतायी दुखी स्त्री जाति आखिर इसके सिवा और क्या सोच और कह सकती है। पति अपने सुख के लिए एक से अधिक विवाह अक्सर कर ही लिया करते थे। ऐसी दशा में कभी तो छोटी सौत से तकलीफ मिलती थी और कभी बड़ी सौतों से सबसे छोटी रानी को क्योंकि कभी-कभी अनुभवी रानियाँ छोटी रानी को ही कोसा बना देती हैं, राजा के मानने से क्या होता है। वह चौबीसों घण्टे अपनी छोटी रानी की देखभाल तो नहीं कर सकता। जो हो किसी न किसी पत्नी को तकलीफ होना जरूरी है। पीड़ा तो पीड़ा ही है, इस अँगुली को दबाएँ तो पीड़ा और उस अंगुली को दबाएँ तो पीड़ा।

को प्रकट करते हैं। ये लोक-काव्य उच्च स्वर से घोषणा करते हैं कि बड़ी से बड़ी विषम स्थिति में जनता गाना बन्द नहीं करती और यदि राज दरबार अपने मिथ्या अभिमान, वैभव और गौरव का निःप्राण तथा आडम्बरपूर्ण साहित्य कुछ स्वर्ण मुद्राओं और रत्न-खण्डों के बल पर लिखवाते हैं तो जनसाधारण के कवि अपनी उमंग से ही अपने जीवन का रस सहज ही काव्य में उडेला करते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'संदेश रासक' मुल्तान में लिखा गया और 'बीसल देव रास' तथा 'ढोला मारू' भी उसके पास ही मारवाड़ देश में। ये पश्चिमी भारत के जाग्रत लोक-जीवन के प्रमाण हैं।

अपभ्रंश-साहित्य की प्राणधारा ऐहिक लोक-गीतों के अतिरिक्त जिन रचनाओं में व्यक्त हुई वे प्रायः सबकी सब धार्मिकता का पुट लिए हुए हैं।

अपभ्रंश की कथाएँ और हिंदी के आख्यानक काव्य

लोक प्रचलित कहानियों में जगह जगह धार्मिक संकेत की छौंक देकर इस्तेमाल में लाने की प्रथा इस देश में पहले से ही मौजूद रही है। लोक गीतों में धार्मिकता का पुट तो नहीं दिया गया क्योंकि वे गाने के लिए लिखे गये और अपने राग-रंग के ऐहिक क्षणों में जन-साधारण भरसक धार्मिक जीवन के ऊंचे आदर्श को भूलना ही अच्छा समझते हैं। आखिर यह भी क्या जीवन है कि जब देखो तब ऊंचे-ऊंचे आदर्शों की ही दुनिया में रहा जाय, एक उच्चतर आमुष्मिक भाव की ही चर्चा में रत रहें। वास्तविकता भी (को) कोई चीज़ होती है, सहज जीवन का भी अपना आनंद होता है अनावृत क्षणों ! भी अपना महत्त्व होता है। 'बीसलदेव रास' और ढोला' के दोहे ऐसे ही अवसरों पर गाए जाने के लिए रचे गये हैं। इसका कारण शायद यह भी हो कि जिन दिनों ये रचे गये, धार्मिकता की लहर लोक-जीवन में उतनी नहीं उठी थी। क्योंकि थोड़े दिनों के बाद ही, जब उत्तर भारत में भक्ति की बाढ़ आयी तो ये तमाम लोक प्रचलित गीत गोविंद राम आदि माधुर्यरक नामों से संवलित करके भक्ति भाव के लिए इस्तेमाल कर लिये गये। ढोला० के अनेक दोहों को कबीर ने ज्यों का त्यों उठा लिया—कहीं-कहीं अपनी ओर से इतना ही किया कि जहाँ 'प्रीतम' था, वहाँ 'गोविंद' को रख दिया। जैसे ढोला० के

राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछुड़ी, तिणका कवण हवाल॥

को कबीर ने इस प्रकार कर लिया—

अंबर कुंजाँ कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।
जिन पै गोविंद बीछुटे तिनके कौण हवाल॥)

—

लेकिन लोक-गीतों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तन लोक कथाओं में किया गया है क्योंकि उनमें परिवर्तन की गुंजाइश अधिक होती है।

अपभ्रंश का 'भविसयत्त कहा' मूलतः एक लोक कथा है। इस तरह की कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है कि एक सौदागर के दो औरतें थीं। छोटी को वह बहुत मानता था, बड़ी को कोई कद्र नहीं थी। कुछ दिनों बाद अपने बाप की आज्ञा से छोटी स्त्री का लड़का रोजगार के लिए परदेस चलने लगा। यह देखकर बड़ी का भी लड़का मचल उठा। माँ ने मना किया लेकिन वह न माना। आखिर उपेक्षिता के लड़के की ही तकदीर खुली और उसे काफी धन मिला, यहाँ तक कि धन के साथ ही एक भार्या भी मिली। दूसरी ओर पति की प्रिया के लड़के के हाथ कुछ न लगा। तब ईर्ष्यावश रास्ते में इस लड़के ने अपने सौतेले भाई को कुएं में झोंक दिया और उसका सब कुछ लेकर वह खुद घर चला आया। संयोग से उस लड़के की जान बच गई और वह फिर बहुत सारा धन लेकर घर पहुँचा। भेद खुलने पर एक को दण्ड और दूसरे को पुरस्कार दिया गया। जैसे उसका राज-पाट लौटा वैसे सबका लौटे।

'भविसयत्त कहा' की कहानी यही है। कहीं यही कहानी राजा-रानी और राजकुमारों के रूप में कही जाती है और कहीं सौदागर के रूप में। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे वह राजा हो चाहे सौदागर। है वह एक साधारण आदमी का ही प्रतिनिधि।

यदि ध्यान से देखा जाय तो स्वयं इस कहानी की रचना में ही एक विशेष उद्देश्य काम कर रहा है। यह कहानी रची ही गयी है इस उद्देश्य के लिए कि जो मनुष्य द्वारा तिरस्कृत होता है उसकी मदद भगवान या भाग्य करता है। लोक कथाएं प्रायः स्त्री जाति द्वारा ही रची जाती हैं इसलिए स्वभावतः उनमें उन्हीं का दुख-सुख सबसे अधिक होता है और दुख-सुख में वास्तविक तो दुख ही रहता है, सुख तो केवल आकांक्षा की उपज होता है। पुरुषों द्वारा सतायी हुयी स्त्री जाति आखिर इसके सिवा और क्या सोच और कह सकती है। पति अपने सुख के लिए एक से अधिक विवाह अक्सर कर ही लिया करते थे। ऐसी दशा में कभी तो छोटी सौत से तकलीफ मिलती थी और कभी बड़ी सौतों से, प्रायः छोटी रानी को क्योंकि कभी कभी अनुभवी रानियाँ छोटी रानी को ही कौवा बना देती हैं। राजा के मानने से क्या होता है। वह चौराशी घंटे अपनी छोटी रानी की देखभाल तो नहीं कर सकता। जो ■ किसी न किसी पत्नी को तकलीफ़ होना जरूरी है। पीड़ा तो पीड़ा ही है, इस अँगुली को दबाएँ तो पीड़ा और उस अँगुली को दबाएं तो पीड़ा।

अब पीड़ित औरत स्वयं तो कुछ कर नहीं सकती। इसलिए उसकी पीड़ाओं को दूर करने वाला उसका बेटा होता है। स्त्री को अपने बेटे का सबसे बड़ा बल होता है। यहीं से उसकी कल्पना को पङ्ख लगते हैं और बाकी कहानी उसी कल्पना का परिणाम होती है जिसमें उसका लड़का सात समुन्दर पार कहीं से अचानक अपार धन राशि और साथ में एक चुनमुना बहू भी लेकर लौटता है। माँ का हृदय आखिर ठहरा तो माँ का ही हृदय। पुत्र के इस आकस्मिक भाग्योदय पर मां उसे विपत्ति की आशंकाएँ हैं और ये वास्तविक आशंकाएँ इतनी प्रबल हैं कि कल्पना में भी मन को नहीं छोड़तीं। ये आशंकाएँ उसके काल्पनिक सुख को भी अपनी छाया से मलिन कर देती हैं। फलतः पुत्र का भाग्योदय भी किसी न किसी बाधा-विघ्न अथवा संकट से ग्रस्त होता है। यह संकट कभी दैवी होता है और कभी मानवीय। कभी वह अपनी ही सौत के लड़के की ओर से आता है और कभी किसी अदृष्ट शक्ति की ओर से। लेकिन कल्पना केवल आशंकाओं की सृष्टि के लिए नहीं की जाती। कभी कभी की भी जाती है लेकिन ऐसी कल्पनाएँ उसी मन की होती हैं जो अधिक शंकाकुल, संदेहशील और निराशावादी होता है। लेकिन यहाँ तो माँ को अपने बेटे पर अडिग विश्वास है इसलिए उसे पूरा आशा है कि हमारा लड़का धरती चीर कर चाहे आकाश फाड़ कर कहीं न कहीं से हमारा दिन लौटाएगा। यही विश्वास ऐसी हर कल्पना को सुखान्त बनाता है व गाथाएं कुछ तो मनुष्य के अपने उद्योग से और कुछ अतिमानवीय शक्तियों की मदद से दूर हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में प्रकृति अथवा परिस्थिति की मदद से मनुष्य अपने दुर्भाग्य पर विजय प्राप्त करता है। माँ का सौभाग्य यदि पुत्र छीनता है, तो पुत्र ही उसे वापस भी करता है। अंतर इतना ही है कि यह पीढ़ी छीनती है तो आगे आने वाली पीढ़ी पर आशा लगा रहता है कि वह वापस लौटाएगी यदि यह पीढ़ी है तो पुत्र अगली पीढ़ी का प्रतीक है।

इस तरह यदि भविसयत्त कहा की मूल लोककथा की अच्छी तरह विश्लेषण किया जाय तो वह अपने आप में बहुत अधिक सोद्देश्य है।

फिर भी ऐसा मालूम होता है कि विद्वानों को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। शायद उन्हें उस उद्देश्य से उनके उद्देश्य का मेल नहीं बैठा। नारी की असहाय मां कोई असंगति है! यह भी कोई मानवीय वस्तु है! यह तो कर्मों का फल है और यह भी पूर्व जन्म के कर्मों का फल। इस पर किसी का क्या वश! यह कष्ट जैसा कर्म के साथ वैसा पुण्य के साथ। इसे भला कोई अदृष्ट शक्ति कैसे दूर कर सकती है! अदृष्ट तो अदृष्ट ही है, उसका क्या भरोसा! उससे अधिक भरोसा तो अपने आराध्य देव का किया जा सकता है। ये आराध्य देव चाहे जिन हों या और

कोई, इनका भरोसा इसलिए किया जा सकता है कि इन्हें प्रसन्न करने की विधियाँ निश्चित हैं और मालूम हैं जब कि अदृष्ट अथवा भाग्य तो अनिश्चित है, राम भरोसे है। अपने आराध्य देव को प्रसन्न करने के लिए पूजा-पाठ, व्रत आदि करते हैं और जैन मत में 'सुय पञ्चमी' एक ऐसा ही व्रत है। इस तरह जो कहानी पहले शुद्ध कल्पना जनित भाग्य पर आधारित थी, वह सिद्धान्त विशेष-जनित उपासना विधि पर स्थापित कर दी गयी।

मध्युग में ऐसा सोद्देश्य संशोधन अनेक लोक-कथाओं के साथ किया गया है। उत्तर भारत में प्रचलित 'सत्यनारायण की कथा' भी ऐसा ही सोद्देश्य संशोधन है। यह संशोधन कभी-कभी इस हद तक किया जाता है कि मूल कथा गायब हो जाती है और केवल संशोधन ही बच रहता है जैसे 'सत्यनारायण की कथा' में व्रत और कथा का केवल माहात्म्य ही रह गया है, मूल कथा इतनी घिस गयी है, इतनी घिस गयी है केवल 'सत्यनारायण' नाम के रूप में शेष रह गयी है।

यही नहीं, इन लोक कथाओं में परवर्ती युग के पण्डितों ने एक और प्रकार का संशोधन किया। क्योंकि आदिम लोक-कथाओं में सारा वातावरण घरेलू और गवई स्तर का ही हुआ करता था। उसमें राजाओं और रानियों का नाम तो रहता था लेकिन राजाओं के बड़े-बड़े युद्धों के लिए कोई जगह न थी। धन-वैभव के वर्णन में हीरे-जवाहरात घोड़ा हाथी तो रहते थे, लेकिन तोप-तलवारें न थीं। मध्ययुग के पण्डितों ने उन लोक-कथाओं को अपने हाथ में लेते ही देखा कि इनमें राजा-रानी अपने पूरे वैभव के साथ नहीं आये हैं। आखिर आजा भी क्या कि दो चार लड़ाइयाँ न करे। एसे सामन्त-युगीन प्रभाव से इस कवि का प्रभावित होना स्वाभाविक था। बिना इस संशोधन के उसकी कहानी की वास्तविकता में उस समय विश्वास कौन करता?

'भविसयत्त कहा' के दूसरे खंड में कवि ने यही संशोधन किया है। इधर विद्वानों में पुरानी पोथियों की प्रामाणिकता का पता लगाने की ऐसी आकुलता है कि वे हर कथा के मूल रूप को ही प्रामाणिक मानने का पैमाना लेकर दौड़ पड़े हैं। उन्हें जहाँ भी किसी कथा में कुछ जोड़ और कुछ चकतियाँ दिखाई पड़ती हैं, झट से वे इन सबको प्रक्षिप्त कहकर कतर फेंकते हैं। ये खोजी विद्वान केवल नींव का पता लगाने निकले हैं, इनको नींव के ऊपर चुनी हुई ईंटों की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता को लेकर बेहद परेशानी होती है। लेकिन यह रचना परेशानी का चीज नहीं है। नींव ही वास्तविक नहीं है, उसके ऊपर समय-समय पर जितनी ईंटें रखी गयी हैं, वे सब भी वास्तविक हैं, उन सबका भी ऐतिहासिक महत्त्व है। बल्कि इतिहासकार की दिलचस्पी इन स्तरों में ही सबसे अधिक होनी चाहिए। किस युग

की विचार धारा ने मूल-कथा पर कौन सी चिप्पी लगायी यह जानना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समय-समय पर जोड़ी हुई ये चिप्पियाँ किसी युग के साहित्य और समाज को समझने में विशेष सहायक हुआ करती हैं। भाषा तथा अल्प-परिवर्तनशील तथा काव्य-रूप आदि अन्य परम्परित काव्यात्मक उपादानों की मदद से किसी रचना की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के निर्णय करने की अपेक्षा, मूल कथा में समय समय पर विभिन्न उद्देश्यों से प्रेरित परिवर्तनों का विश्लेषण अधिक उपादेय हो सकता है। एक ही राम कथा को वाल्मीकि से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक किस प्रकार मोड़ा गया—इसके विवेचन से वाल्मीकि से लेकर आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन तक के विविध सामाजिक परिवर्तनों का पता लगाया जा सकता है और फिर इन सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि पर विभिन्न साहित्यिक उत्थानों को भी समझने में मदद मिल सकती है।

'भविसयत्त कहा' में पूर्व-प्रचलित लोक कथा को जिस ढंग से मोड़ा गया है उससे धनपाल अथवा जैन धर्म के विचारों का ही पता नहीं चलता, बल्कि उस सम्पूर्ण युग में काम करने वाली सामान्य मनोवृत्ति का आभास मिलता है।

धार्मिक उद्देश्य के अनुसार लोक-कथाओं को मोड़ने की यह प्रवृत्ति कुछ और विकसित रूप में हिन्दी के आरम्भिक आख्यानकों में भी दिखाई पड़ती है। इन आख्यानकों का उपयोग सूफियों ने सबसे अधिक किया। कारण स्पष्ट है। हिन्दू भक्त कवियों की तरह उनके पास कहानियों की अपनी कोई धार्मिक पौराणिक परम्परा न थी। सूर-तुलसी तो कृष्ण और राम की पौराणिक कथा का सहारा ले सकते थे लेकिन ईरान से आये हुए सूफी सन्तों के पास अपनी पौराणिक कथाओं की कोई निधि न थी, सम्भवतः ईरान का सूफी काव्य प्रायः मुक्तक और गीत ही है।

भारत के इस्लाम धर्म में दीक्षित हिन्दू इस मामले में अधिक सौभाग्यशाली थे। किन्तु धार्मिक कारणों से उन्होंने हिन्दू पौराणिक कथाओं को अपनी रचना का आधार नहीं बनाया। पौराणिक कथाओं को न अपनाने का एक कारण शायद यह भी रहा हो कि गाँवों में रहने वाले ये भोले भाले नव दीक्षित मुसलमान घरेलू लोक कथाओं से जितना परिचित थे, उतना पौराणिक कथा से अभिज्ञ न थे। कारण जो भी हो, तथ्य यही है कि हिन्दी के सूफी सन्तों ने लोक कथाओं को अपने आदर्शों के लिए अपनाया। लोक-कथाओं को इस तरह अपनाने का उत्साह हिन्दी के हिन्दू भक्त कवियों में भी नहीं देखा गया।

जायसी का 'पद्मावत' एक ऐसा ही सूफी काव्य है जिसमें 'भविसयत्त कहा' की ही तरह लोक-कथा का सोद्देश्य संशोधन किया गया है। जिस प्रकार राजकोर

वैभव के लिए भविष्यदत्त के भाग्य की कहानी में कुरु जङ्गल और पोयणपुर के राजाओं का युद्ध जोड़ दिया गया है, उसी प्रकार रतन सेन और पद्मावती की प्रेम कहानी में भी अलाउद्दीन का चित्तौर का आक्रमण बढ़ा दिया गया है। इससे सामान्य लोक कथा में सामन्ती वैभव तो जुट ही गया है, समसामयिकता की भी छाप लग गयी है। लेकिन यह तो गौण बात है। मुख्य बात है पद्मावती को सामान्य प्रेम कहानी को भगवत्प्रेम का रूप देना। धनपाल ने लोक-कथा में जो धार्मिक रङ्ग दिया है उसमें व्रत और आचार-पालन का ही आग्रह है, लेकिन जायसी के धार्मिक रङ्ग में साधारण आचार-पालन से ऊपर उठकर ईश्वरोन्मुख प्रेम की प्रगाढ़ता है। यह वस्तु जायसी की अपनी है और जायसी के साथ जायसी के युग की है। भक्ति की यह भावना धनपाल और धनपाल के युग में न थी। यह भावना तत्कालीन जैन समाज में ही नहीं बल्कि ब्राह्मण और बौद्ध समाज में भी न थी। भक्ति की यह भावना अपभ्रंश में ही नहीं, बल्कि तत्कालीन प्राकृत और संस्कृत साहित्य में भी न थी। यह भावना ब्रज, अवधी, बङ्गला, गुजराती, मराठी, पञ्जाबी, असमी, उड़िया आदि आधुनिक भारतीय साहित्यों की अपनी विशेषता है और इसका अभ्युदय कुछ आगे-पीछे इन साहित्यों में तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के बाद हुआ।

धनपाल के युग में संभवतः व्रत और आचार का पालन ही सबसे बड़ा आदर्श था, लेकिन धीरे धीरे वह भी रूढ़ि-पालन मात्र हो गया। बहुत संभव है, धनपाल के समय ही उसमें बहुत कुछ जड़ता आ गयी हो। लेकिन यह निश्चित है कि आगे चलकर उस धार्मिकता में जीवंत प्रेरणादायिनी शक्ति नहीं रह गयी थी। इसकी प्रतिक्रिया जोइंदु, रामसिंह आदि जैन मुनियों के द्वारा ही शुरू हो गयी था किन्तु आगे चल कर तेरहवीं शताब्दी के बाद ब्राह्मण, बौद्ध, इस्लाम सभी भारतीय धर्मों और समाजों में अपने अपने ढंग से इस तरह की आचार प्रधान रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। और उसकी जगह भगवत्प्रेम की प्रतिष्ठा हुई।

इस नवीन उद्देश्य ने 'पद्मावत' की लोक-कथा को भी मोड़ दिया। परन्तु इस संशोधन में भी स्पष्ट रूप से ऐहिक और आमुष्मिक तत्व अलग अलग दिखाई पड़ जाते हैं। 'पद्मावती' को भगवान और 'रतन सेन' को भक्त का प्रतीक तो जायसी ने बना दिया लेकिन 'नागमती' के 'गोरख धंधा' पर यह धार्मिकता का रंग न चढ़ा सके। नागमती का वियोग मूल लोक-कथा के अवशेष के रूप में रह ही गया और यह अवशेष भी इस तरह रहा कि उसकी सत्ता स्वतन्त्र और अलग प्रतीत होती है। विशेष दृष्टिकोण के कारण जायसी ने नागमती को दुनिया का 'गोरख धंधा' भले कह दिया हो, लेकिन उसके लौकिक रस को पद्मावती का प्रेम भी नहीं

पा सका। 'पद्मावती' के रूप में जायसी ने चाहे जितना अलौकिक प्रभाव भर दिया हो, उसके 'पारस रूप' में उन्होंने चाहे जितनी शक्ति संचित कर दी हो, लेकिन हृदय तो उन्होंने नागमती को ही दिया और हृदय भी ऐसा दिया कि उसकी निरी लौकिकता के सामने पद्मावती के रूप की अलौकिकता भी फीकी पड़ जाती है। यही हृदय की लौकिकता तथा सौंदर्य की अलौकिकता 'पद्मावती' काव्य की विशेषता है जिसमें जायसी के आदर्श की अलौकिकता के साथ भावों की लौकिक संपदा भी सुरक्षित है। वास्तविकता में कल्पना और यथार्थ में आदर्श की प्रतिष्ठा का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

कथा में भक्ति का पुट देने की यही प्रवृत्ति थोड़े से अंतर साथ हिंदी के राम भक्ति काव्य और कृष्ण-भक्ति काव्य में भी दिखाई पड़ता है। कहने को तो अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'पउम चरिउ' और 'हरिवंश पुराण' लिखे जिनमें क्रमशः राम और कृष्ण का चरित गाया गया है, लेकिन उनमें राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं हैं। उनके यहाँ यह हो भी कैसे सकता था? हर

राम और कृष्ण भक्ति काव्य

विचार धारा का उद्गम सुदूर अतीत में ढूँढ़ निकालने वालों के लिए तो अवतार वाद की भावना वेद से ही चली आ रही है लेकिन वेद से उसका आरम्भ होना एक बात है और मध्ययुग में उसका अत्यधिक व्यापक हो जाना दूसरी बात है। अवतारवाद का आरम्भ चाहे जितना पहले हुआ हो लेकिन अवतार में लोक जीवन का सामान्य विश्वास जितना मध्ययुग में प्रचलित हुआ, उतना पहले कभी न था। अवतारवाद को यह व्यापकता निश्चित रूप से भक्ति आन्दोलन के द्वारा मिली। संत और भक्त कवियों का यह सामान्य विश्वास था। पिंड में ब्रह्माण्ड का देखना, ब्रह्मरंध्र में अनहद नाद का सुनना, पद्मावती में अलौकिक सत्ता का आभास पाना, दशरथ सुत राम में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के दर्शन करना और वसुदेव सुत कृष्ण में लीलाधाम परमात्मा का निहारना यह सब प्रकारांतर से उसी अवतारवादी भावना के ही विविध पक्ष हैं विविध धर्मों और सम्प्रदायों के अनुरूप भक्ति युग की एक ही भावना ने अनेक रूप धारण कर लिया था।

अपभ्रंश काव्य में इस भावना के दर्शन न होते तो उसका यह कारण नहीं है कि उसके अधिकांश कवि जैन थे। भक्ति भावना केवल हिंदू धर्म की अपनी सम्पत्ति नहीं है। यह एक युग विशेष की लोकव्यापी सामान्य प्रेरणा शक्ति है जो हिन्दू धर्म के साथ ही इस्लाम में भी दिखाई पड़ती है। धर्म इसका क्षेत्र है, चीज नहीं आकार है वस्तु नहीं देह है आत्मा नहीं। भक्ति का प्राण, और उसकी आत्मा सामान्य लोक-जीवन की मुक्ति-कामना में है। यह एक विशेष

सामाजिक परिस्थिति की उपज है।

अपभ्रंश के उत्थान युग में वह परिस्थिति न थी। इसीलिए उसमें यह भाव भी उत्पन्न न हो सका।

इसलिए जिस प्रकार सूफियों के प्रेमाख्यानों पर अपभ्रंश के कथा और चरित काव्यों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा उसी प्रकार राम भक्त और कृष्ण भक्त कवियों की मूल भावना पर भी अपभ्रंश के राम कृष्ण काव्यों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है। राहुल जी ने स्वयम्भू की रामायण और तुलसी के 'रामचरितमानस' में रूप विन्यास सम्बन्धी कुछ थोड़ी सी समानताओं को देखकर जो यह कह दिया है कि 'तुलसी बाबा ने स्वयम्भू रामायण को जरूर देखा होगा' यह अतिकथन है। अपने इस अतिकथन पर राहुल जी को भी थोड़ा सन्देह हुआ। इसलिए वे आगे कहते हैं—"तुलसी बाबा ने स्वयम्भू-रामायण को देखा था, मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी बाबा ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' से स्वयंभू-रामायण की ओर ही संकेत किया है।[1] ऐसी अटकलबाजियाँ मनोरंजक हो सकती हैं, लेकिन इससे किसी तथ्य का ठीक पता नहीं चल सकता। इस तरह की पहेली-बुझौवल का काम लाल-बुझक्कड़ के ही ऊपर छोड़ना चाहिए। स्वयंभू रामायण को तुलसी ने देखा था या नहीं देखा था और 'क्वचिदन्यतोऽपि' में स्वयम्भू-रामायण की ओर संकेत है या नहीं है—इससे कुछ नहीं बनता बिगड़ता। मान लिया कि तुलसी ने यह सब किया है लेकिन सवाल यह है कि यह सब करने के बाद तुलसी ने जो 'मानस' तैयार किया उसकी मूल भाव धारा का स्वयंभू रामायण से क्या सम्बन्ध है? दोनों कृतियों की भावधारा में क्या सम्बन्ध है? और इस विषय में अटकल-बाज़ी के लिए कोई जगह नहीं है। इसे साहित्य का सामान्य पाठक भी कह सकता है कि तुलसी में जो भक्ति भावना की प्रधानता है, वह स्वयंभू में बिल्कुल नहीं है और इसी भावना भेद के कारण दोनों की राम कथाओं के स्वरूप में भी भेद आ गया है।

ऐसा नहीं है कि राहुल जी इसका अनुभव नहीं करते। वे इस तथ्य को देखते हुए आश्चर्य प्रकट करते हैं कि तुलसी ने स्वयंभू की सीता का एकाध किरण भी अपनी सीता में क्यों नहीं डाल दिया? थोड़ा सा ही सोचने पर इस सवाल का जवाब मिल सकता है। सीधी बात है कि तुलसी स्वयम्भू की सीता जैसी अपनी सीता को नहीं बनाना चाहते थे। और यह जो नहीं बनाना चाहते थे यह

---

१ हिन्दी काव्य धारा अवतरणिका पृष्ठ ५२

कुछ यों ही—अकारण ही नहीं बल्कि उनका उद्देश्य कुछ और था उनकी भी अपनी सीमाएँ थीं।

फिर यह सवाल तुलसी के ही विषय में क्यों? स्वयंभू के विषय में भी पूछा जा सकता है कि उन्होंने वाल्मीकि की सीता की तरह अपनी सीता को क्यों नहीं बनाया? स्वयंभू ने सीता के संपूर्ण असंताप की आग को कम फल की छींटा देकर बुझा क्यों दिया?

इसके अलावा स्वयंभू को तुलसी ने पढ़ा था या नहीं—यह तो विवादास्पद हो सकता है लेकिन वाल्मीकि को तो उन्होंने निश्चय ही पढ़ा था तुलसी भी कहते हैं और दूसरे भी मानते हैं। फिर तुलसी ने वाल्मीकि के ही नमूने पर अपनी रामकथा क्यों न गढ़ दी? ऐसे तमाम 'क्यों' का केवल एक उत्तर है कवि का अपना उद्देश्य—परिस्थितिजन्य उद्देश्य।

इस ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के राम कृष्ण काव्यों और हिंदी के राम कृष्ण काव्यों की मूल धारा में कोई समानता नहीं, कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है यदि कोई संभव संबंध हो सकता है तो वह अत्यंत परोक्ष और पौर्वापर्य का ही हो सकता है। यही बात सूफी प्रेमाख्यानों के बारे में भी कही जा सकती है।

भक्ति की यह भावना हिंदी के कबीर आदि संत कवियों की भी अपनी विशेषता है जो अपभ्रंश के सिद्ध कवियों में नहीं मिलती। कबीर में सिद्धों की 'सहज' 'शून्य' साधना का उल्लेख अवश्य मिलता है इसके अतिरिक्त कुछ और भी पारिभाषिक शब्दों की आवृत्ति दिखलाई पड़ सकती है परन्तु ये बातें कबीर के मूल भाव धारा नहीं हैं। सहज और शून्य पर जितना जोर सहजयानी सिद्धों के रचनाओं में दिखाई पड़ता है, उतना कबीर में नहीं है। कबीर के काव्य में इनका प्रयोग पुरानी परिपाटी के अवशेष की सूचना मात्र देता है। कबीर में एक भक्त का जो विह्वल हृदय है, वह सिद्धों में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। तात्त्विक दृष्टि से कबीर का निर्गुण भी सहजयानियों के 'शून्य' से भिन्न है और समरस अधिक भावात्मक है। इसलिए कबीर के आत्म-समर्पण में

अपभ्रंश का सिद्ध साहित्य और हिन्दी संत काव्य

जो तरलता है, वह किसी सिद्ध कवि की रचना में नहीं मिलती। इसमें कोई शक नहीं कि अक्सर कबीर के रूपक सिद्धों से मेल खाते हैं, यहाँ तक कि उन्हीं से लिए हुए प्रतीत होते हैं। कबीर का 'विहंगम मगन' मगह के उस लोक से भिन्न नहीं है 'जह मण पवण न सञ्चरे, रवि ससि णाह पवेस'। परन्तु ये सभी ऊपरी समानताएँ हैं। इन सब रूपकों और पारिभाषिक शब्दों के बीच जो मूल

भाव है वह कबीर का अपना है। इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी बहुत पहले ही विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं,[१] इसलिए इसकी ओर अधिक व्याख्या करना अनावश्यक है।

इस प्रकार हिंदी के आदि काल में जितनी मुख्य काव्य प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं उनका एतिहासिक अध्ययन करने से पता चलता है कि हिंदी में अपभ्रंश की जीवन्त भाव धारा का विकास अपने ढङ्ग से हुआ। चौदहवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण अपभ्रंश से आती हुई भावधारा में इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि हिंदी साहित्य में उसने जो संत भक्ति काव्य का रूप लिया उससे अपभ्रंश साहित्य की धार्मिक चेतना का सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। चौदहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण मध्यदेश की अपनी सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की उपज है यह वह प्रदेश है जिसमें जैन धर्म का जोर कभी नहीं था। अपभ्रंश की रचनाएँ भी इस भू भाग में नहीं हुईं। इसलिए अपभ्रंश के अधिकांश साहित्य से इस जाति का सीधा सम्पर्क कभी नहीं रहा। ऐसी दशा में जैनों के अपभ्रंश साहित्य से अवधी और ब्रज के संत-भक्ति काव्य का अभ्युदय दिखलाना हथेली पर सरसों उगाने का सा काम होगा। अधिक से अधिक इन दोनों साहित्य में परोक्ष सबंध ही दिखलाई पड़ता है। यह परोक्ष सम्बन्ध यह है कि दोनों के अभ्युदय के मूल में मुख्यतः लोक जीवन का ही हाथ है। अपभ्रंश ने भारतीय साहित्य की जिस गति को लोक जीवन से दूर जाते देखकर फिर से उसके साथ कर दिया, उसी प्रयत्न के फलस्वरूप हिंदी आदि आधुनिक साहित्यों का अभ्युदय हुआ। इसलिए अपभ्रंश काव्य में यह जो लोक हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है, वही आगे चलकर और भी स्पष्ट रूप से अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि साहित्यों के आदिकाल में सुनाई पड़ती है। हिंदी के लिए यह पृष्ठभूमि तैयार करके अपभ्रंश ने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया।

काव्य-रूप

भाव धारा की अपेक्षा काव्य रूपों में परंपरा का पालन अधिक देखा जाता है। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि नवीन भाव धारा के आ जाने पर भी काव्य के रूप पुराने ही चलते रहते हैं। हिंदी के काव्य रूपों का अध्ययन करते समय यह तथ्य स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अपभ्रंश से अधिक विकसित और नवीन भावधारा को अपनाकर भी हिंदी कविता बहुत दिनों तक अपभ्रंश के ही अधिकांश काव्य रूपों को अपनाए रही। इसलिए हिंदी काव्य रूपों के क्षेत्र में अपभ्रंश

१ हिंदी साहित्य की भूमिका पृ० ४२-४३

की देन भावधारा की अपेक्षा अधिक है।

काव्य रूपों के मूल में प्राय छंद हुआ करता है। यदि वाक्य भाषा की इकाई है तो छंद वाक्य की भंगिमा है। इसीलिये जब भाषा में कोई परिवर्तन होता है तो उसके छंदों में भी परिवर्तन हो जाता है। जब प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वैदिक संस्कृत की अवस्था के बाद लौकिक संस्कृत हुई तो तमाम वैदिक छंद बदल गये और अनुष्टुप् लौकिक संस्कृत के प्रथम छंद होने का गौरव लेकर आदि कवि की जिह्वा पर आया। इसके बाद तो संस्कृत में अनेक छंद आये। पालि संस्कृत से विशेष भिन्न न थी इसलिए पालि के छंद भी प्राय संस्कृत के ही रहे। लेकिन प्राकृत संस्कृत से काफी भिन्न था, इसलिये उसकी छंदो-व्यवस्था भी बदल गयी और जिस तरह अनुष्टुप् लौकिक संस्कृत का अग्रदूत था उसी प्रकार 'गाथा' प्राकृत भाषा की अग्रदूती बनकर सामने आया। अपभ्रंश के साथ आर्यभाषा के व्याकरण में कुछ मौलिक परिवर्तन हुए। इसलिये आर्य भाषा के छंदोबंध में भी इसके साथ मौलिक परिवर्तन हुआ। इससे पहले प्राय वर्णिक छंद होते थे जिनमें विभिन्न गणों के अनुसार शब्दों का क्रम होता था। अपभ्रंश ने पहली बार मात्रिक छंदों का सूत्रपात किया। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश से पूर्व छंद तुकान्त नहीं होते थे। अपभ्रंश ने छंद के क्षेत्र में तुकान्त प्रथा चलायी। तब से आजतक हिंदी में मात्रिक छंदों की ही प्रधानता है। अपभ्रंश के बाद हिंदी के साथ आर्यभाषा में कोई बहुत मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ, इसलिये आरम्भिक हिंदी के छंद भी प्राय अपभ्रंश के ही रहे। जिस हद तक परिवर्तन भाषा में हुआ, उस हद तक हिंदी में नये छंद भी आये। यदि इस सामान्य सिद्धांत को हिंदी की विभिन्न बोलियों के छंद भेद पर लागू किया जाय तो पता चलेगा कि बरवै जैसे कई एक छंद ऐसे हैं जो अवधी के एकदम अपने हैं, ब्रज में वे नहीं चलते।

इसी तरह जब खड़ी बोली काव्य भाषा हुई तो इसमें पुरानी अवधी और ब्रजभाषा के छंदों से काम न चला। फलत उसने नये छंदों की सृष्टि की।

छंदों के परिवर्तन से काव्य रूपों में किस प्रकार परिवर्तन आता है, इसे यदि देखना हो तो पुन संस्कृत से इसकी परम्परा पर दृष्टिपात किया जा सकता है। आरम्भ में जब संस्कृत में अनुष्टुप जैसे छोटे-छोटे छंद थे तो मुक्तकों का आरम्भ नहीं हो सका। उन छोटे-छोटे छंदों में रामायण-महाभारत जैसे बड़े-बड़े धारावाहिक प्रबंध काव्यों की ही रचना हो सकती थी। पीछे जब कुछ बड़े-बड़े छंदों की रचना हुई तो यही नहीं कि मुक्तक रचनाएँ अस्तित्व में आयीं, स्वयं प्रबंध काव्यों का भी ढाँचा बदल गया। 'रामायण' एक काण्ड के भीतर छोटे-छोटे कई अध्यायों में

विभक्त किया गया था। इसी तरह महाभारत में भी एक पर्व के भीतर कई अध्याय रखे जाते थे जिनमें से प्रत्येक अध्याय में सामान्यतः सौ डेढ़ सौ छंद होते थे। पीछे कालिदास के समय से, जब कुछ बड़े छंदों का प्रचलन हो चुका था तो प्रबंध काव्य में काण्ड अथवा पर्व और अध्याय के बीच का रास्ता निकाला गया। नये प्रबंध काव्यों के सर्ग पुराने महाकाव्यों के अध्याय से कुछ बड़े और पर्व अथवा कांड से काफी छोटे हो गये। बहुत संभव है कि यदि मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, शिखरिणी जैसे बड़े छंद संस्कृत में न आये होते तो अमरुकशतक, शृङ्गार शतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक, आर्या सप्तशती, चौरपञ्चाशिका, मेघदूत आदि जैसे मनोहर मुक्तकों की सृष्टि न होती। अनुष्टुप् में उत्कृष्ट मुक्तक नहीं लिखे जा सकते, वह मूलतः कथानक का ही छंद है।

यही बात आगे चलकर अपभ्रंश में भी दिखाई पड़ती है। चरित काव्य के लिए प्रधानतः अपभ्रंश में पद्धड़िया या पद्धरी छंद को ही अपनाया गया। एकरसता दूर करने के लिए बीच-बीच में दूसरे छंदों का भी प्रयोग किया गया, लेकिन कहानी कहने के लिए मुख्य छंद वही अथवा वैसा ही कोई छोटा छंद हुआ करता था। दोहा अपभ्रंश का छोटा ही छंद कहा जायगा लेकिन उसमें इतनी स्वरगत भङ्गिमाएं हैं कि उससे कथा प्रवाह में रुकावट आती है। एक तो उसमें चार यतियाँ होती हैं, दूसरे उसकी प्रत्येक यति का चरण विषम होता है। इस प्रकार अपभ्रंश का दोहा प्राकृत की गाथा की भांति मुक्तक काव्य के ही काम का है। आगे चल कर जब अपभ्रंश में रासा काव्य, दुवई जैसे बड़े बड़े छंद आये तो उनके साथ ही विशेष प्रकार के गेय और मुक्तक काव्यों की भी सृष्टि हुई।

यही क्रम हिंदी में भी दिखाई पड़ता है। चौपाई प्रबंध-काव्य के लिए और सवैया घनाक्षरी छप्पय कुण्डलिया आदि मुक्तक के लिए निश्चित कर लिये गये। रहा दोहा, सो वह अपभ्रंश काल से ही प्रबंध और मुक्तक दोनों घरों में सम्मान पाता रहा है। आधुनिक हिन्दी में नये ढङ्ग के तुकान्त मात्रिक छंदों ने प्रगीत-मुक्तक (लिरिक) जैसे नये काव्य-रूप को जन्म दिया और मुक्त-छंदों ने प्रगीत-मुक्तकों से भिन्न विशेष प्रकार की लम्बी कविताओं को सामने रखा जैसे निराला की 'सन्ध्या सुन्दरी' अथवा प्रसाद की 'प्रलय की छाया'।

इस प्रकार छन्द-परिवर्तन के साथ काव्य रूप में परिवर्तन अनिवार्य है, इसी बात को कहना चाहें तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब काव्य रूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी जाती है तो छन्दों में भी परिवर्तन कर लिया जाता है। जो हो, इन सबके मूल में भावोद्गारजनित आवश्यकता ही है। भावोद्गार के अनुसार ही छन्द और काव्य-रूप बदलते हैं—इन दोनों का संबंध इतना

अन्योन्याश्रित है कि इनमें से कौन पहले बदलता है यह कहना कठिन है। फिर भी दूर तक विश्लेषण करने पर ऐसा ही प्रतीत होता है कि छंद में परिवर्तन काव्य रूप से पहले होता है। इस दृष्टि से हिंदी छन्दों के विकास में अपभ्रंश छंदों के योग का अध्ययन किया जा सकता है।

हिंदी का 'दोहा' अपभ्रंश की देन है, यह तथ्य इतना प्रतिष्ठित और प्रचलित है कि प्रमाणित करने की आवश्यकता अब नहीं है। चौपाई के बारे में कई वर्ष पहले लोगों के मन में धुँधलका अवश्य था कि इसका मूल उत्स अपभ्रंश में है या नहीं। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आज से लगभग चौदह वर्ष पहले इसका संबंध अपभ्रंश के अलिल्लाह छंद से बतलाया था।[1] यह स्थापना आज भी अपनी जगह पर एकदम सही है। परंतु अपभ्रंश में 'चउपई' नामक भी छंद मिलता है जिसके एक चरण में १५ मात्राएँ होती हैं और तुकान्त में क्रमशः गुरु लघु (ऽ।) आते हैं। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ के अपभ्रंश कवि विनयचन्द्र सूरि ने 'चउपई' छंद में नेमिनाथ चउपई नाम का समूचा काव्य ग्रंथ ही लिख डाला है। उसकी एक चउपई का उदाहरण इस प्रकार है।

हिंदी में अपभ्रंश छन्दों का निर्वाह और सुधार

> भावणि सरवणि कडुय मेहु।
> गज्जइ विरहिनि भिज्जइ देहु॥
> विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव।
> नेमिहि विणु सहि सहियइ केव॥

विनयचन्द्र सूरि का 'चउपई' हिंदी में जायसी आदि द्वारा प्रयुक्त तथा पिंगलाचार्य द्वारा स्वीकृत चौपाई ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'चौपइ' शब्द में एक मात्रा बढ़ाकर 'चौपाई' शब्द बना लिया गया, उसी प्रकार 'चौपई' छंद के अंत में एक मात्रा बढ़ाकर चौपाई छंद गढ़ लिया गया। आरंभ में यह छंद संभवतः 'चौपई' ही था परंतु गान के क्रम में संभवतः यह लघ्वंत से गुर्वन्त हो गया। जायसी में तो प्रायः लेकिन तुलसी में कहीं-कहीं चौपाइयों के बीच में एकाध अधाली चौपई की भी आ जाती है। अवधी की लघ्वंत प्रवृत्ति के अनुसार आरंभ में शायद उस भाषा में 'चौपई' का ही प्रचार रहा होगा।

हिंदी का दूसरा प्रिय छंद काव्य अथवा रोला है। इस छंद का प्रचलन अपभ्रंश में कम से कम धनपाल (१० वीं शताब्दी ईस्वी) के समय से मिलता है—

> दुमइ पिअ विओय संतत्तउ मुच्छइ पत्तउ।
> मायल मारुएण वणि वाइउ तणु अप्पाइउ॥

---

[1] हिंदी साहित्य की भूमिका पृ० ५६

फरयलि नाययुद्ध संजोइवि पुणु पुणु जाइवि ।
तेण पहेण पुणु नि सजल्लिउ विरहिं सल्लिउ ॥

जिस प्रकार हिंदी में 'काव्य' अथवा 'रोला' के साथ अंत में उल्लाला छंद जोड़कर छह चरणों का छप्पय (षट्पद) बना लिया जाता है, उसी प्रकार अपभ्रंश में भी होता था। परंतु अपभ्रंश के आरम्भिक काव्यों में रोला और उल्लाला को मिला कर इस प्रकार का छप्पय बनाने की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है। 'भविसयत्त कहा' में अलग अलग रोला और उल्लाला दोनों हैं लेकिन इन दोनों से बना हुआ छप्पय कहीं नहीं मिलता। परवर्ती अपभ्रंश में इस तरह के छप्पय मिलने लगते हैं। 'संदेश रासक' में इस तरह के पांच छप्पय दिखाई पड़ते हैं जिनमें से एक छप्पय इस प्रकार है—

झंपवि तम बद्दलिण दसह दिसि छायउ अंबरु ।
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घणु किसणाडंबरु ॥
णहहमग्गि णहवल्लिय तरल तडयडि वि तडक्कइ ।
दद्दुर-रडणु रउद्दु सद्दु कुवि सहवि ण सक्कइ ॥
निवड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधाराह भरु ।
किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल रसइ सरु ॥ (१४८)

हिंदी में इन अत्यधिक प्रचलित छंदों के अतिरिक्त एक और प्रसिद्ध छंद घनाक्षरी है जिसका कोई रूप अभी तक अपभ्रंश में प्राप्त नहीं हो सका है। हिंदी में भी यह छंद बाद में आया। इतनी शताब्दियों तक निरंतर प्रचलित होते रहने वाले 'पृथ्वीराज रासो' में भी इसके दर्शन नहीं होते। इसका मतलब है कि चारणों और भाटों की जबान पर भी यह छंद देर से आया। जब तक इसके मूल उत्स का पता नहीं चलता तब तक अटकलबाजी करना व्यर्थ है। बहुत संभव है, यह हिंदी की अपनी ही सृष्टि हो।

सवैया स्पष्ट रूप से वर्णिक गणवृत्त है, इसलिए इसकी प्राचीनता अनिवार्य है और संस्कृत में ही इसका मूल उत्स मिलना चाहिए। यह तो सही है कि सात आठ गणों के चार चरणों का ऐसा कोई वर्णिक वृत्त संस्कृत में नहीं है, लेकिन इसकी लंबाई देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कृत के किसी वर्णिक वृत्त के गणों को द्विगुणित करके बनाया गया है। संस्कृत का जो वर्णिक वृत्त द्विगुणित किए जाने पर आसानी से दुर्मिल सवैया हो जाता है, वह है चार सगण वाला त्रोटक छंद। लेकिन यह स्पष्ट रहना चाहिए कि त्रोटक संस्कृत का लोकप्रिय छंद नहीं है और इसका विकास निश्चित रूप से बहुत बाद का है। 'पृथ्वीराज रासो' में सवैया तो नहीं मिलता लेकिन त्रोटक छंद काफी हैं। किस प्रकार एक त्रोटक छंद

द्विगुणित करके सवैया बनाया जा सकता है, 'पृथ्वीराज रासो' के दो त्रोटक लेकर समझा जा सकता है—

> जल सैसव मुद्ध समान मरं, रवि बाल नदिक्रम लै अयवं।
> वर संसव जोवन संधि अनी सु मिलै जनु निग्गह बाल जनी॥
> तु रही लगि सैसव सुब्बनना सुमनों सखि रखन रानदिता।
> सु नयन मुरि मारुत अंकुरिता सु मना सुरवम सुरा सुरिता॥
> (शशिव्रता विवाह)

कमी रह गया है तो केवल चारों चरणों के सम तुकांत की। लेकिन जो कवि त्रोटक को दुगुना कर सकता है वह उसके चारों चरणों को तुकांत भी बना सकता है। इस तरह जब एक सवैया बन गया तो उसमें थोड़ा सा हेर फेर करके कई सवैये बनाये जा सकते हैं और सचमुच बनाए भी गए।

छंद अनगिनत हैं और अपभ्रंश तथा हिंदी छंदों का तुलनात्मक अध्ययन अपने आप में बहुत बड़ा विषय है। यहाँ केवल कुछ ही छंदों पर विचार करना संभव है।

कहा जा चुका है कि छंद काव्य-रूपों को निर्धारित और प्रभावित करते हैं। कथात्मक छंद कथात्मक काव्यों का रूप निर्धारित करते हैं और गेय छंद मुक्तक काव्यों का। कथात्मक छंदों में चौपाई का उल्लेख किया जा चुका है। परंतु निरंतर चौपाई में ही कहानी कहने से उसमें एकरसता आ जाने की आशंका रहती है। यदि लगातार चौपाई सुनते-सुनते श्रोता ऊबने लगेगा तो वक्ता की भी साँस फूल जायगी। वक्ता और श्रोता दोनों के लिए छंद चौपाइयों के बाद विश्राम आवश्यक है। विश्राम के लिए छंद बदलना सब से सुंदर उपाय है। ऐसा भी देखा जाता है कि यदि कवि छंद नहीं बदलता तो एक कथात्मक काव्यों को

हिंदी में अपभ्रंश के काव्य-रूपों का निर्वाह और सुधार

गान समय गायक अपने स्वरों के द्वारा उसमें परिवर्तन कर लेते हैं। गाँवों में गाया जाने वाला 'आल्हा' ऐसा ही धारावाहिक काव्य है जिसमें आद्योपान्त एक ही बार छंद का प्रयोग किया गया है। परंतु उसे कहने और सुनने में सुन्दर बनाने के लिए गायक नट कला की तरह से कभी-कभी साथ कहते चलते हैं और कभी रुककर गाने लगते हैं। जो समझदार होते हैं वे साथ-साथ कहने और गाने वाले स्थलों में विभक्त कर लेते हैं अर्थात् कोई घटनात्मक प्रसंग को तो कहते जाते हैं लेकिन जहाँ थोड़ा भी भावात्मक स्थल आता है वहाँ रुककर वे गाने लगते हैं।

वक्ता और श्रोता की इसी सुविधा को ध्यान में रखते हुए कथात्मक काव्यों के कवि कुछ चौपाइयों के बाद दूसरे छंद के प्रयोग की योजना करते आए हैं।

चौपाई के बाद जो छंद आसानी से इस कार्य के लिए मिल सकता था, वह दोहा है। दोहा एक तो सहज सुलभ और अत्यधिक लोक प्रचलित था दूसरे वह छोटा भी है। किसी बड़े छंद के प्रयोग से धारावाहिकता में बाधा पड़ने की भी आशंका रहती है। अपभ्रंश में इस कार्य के लिए घत्ता, दुवइ, उल्लाला आदि अनेक छंद इस्तेमाल किये जाते थे। ऐसा लगता है कि अंतिम दिनों में इनमें से किसी एक छंद को निश्चित कर देने की मनोवृत्ति हो चली थी। हिंदी तक आते आते चौपाइयों के बाद दोहा का घत्ता देने की परिपाटी निश्चित हो गयी। इस व्यवस्था में एक रूपता ले आने के लिए आगे चलकर यह भी निश्चित कर दिया गया कि आठ या आठ अर्धालियों के बाद ही दोहा रखा जाना चाहिए। कहीं कहीं इसके अपवाद भी मिलते हैं। इसके अपवाद तुलसीदास जैसे अत्यंत सतर्क और व्यवस्थित कवि में भी हैं। लेकिन ऐसा वहीं हुआ है जहाँ भाव प्रसार अथवा घटना-क्रम को देखते हुए निश्चित चौपाइयों के बाद दोहा रखने से प्रवाह में बाधा पड़ने की आशंका है।

गेय काव्य के रूपों में अपभ्रंश काव्य बहुत समृद्ध था। रास, फाग, चाँचर, रसायण, कुलक आदि अनेक प्रकार के गेय काव्य अपभ्रंश में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। रास काव्य मूलतः रास छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में २१ मात्रा का एक रासा या रास छंद प्रचलित था और ऐसे ही अनेक छंदों को गाने की परिपाटी संभवतः लोक में रही होगी। यहाँ भी एकरसता दूर करने के लिए रास छंदों के बीच इतर गेय छंदों को भी समन्वित कर लेने की संभावना जान पड़ती है। 'संदेश रासक' से इस प्रकार के गेय और मुक्तक 'रासक काव्यों' के रूप का पता चलता है। निश्चय ही रास काव्य मूलतः रास-छंद प्रधान काव्य रहे होंगे जैसा कि 'संदेश रासक' है।

आगे चलकर 'रास काव्य' एक ऐसा काव्यरूप निश्चित हो गया जिसमें किसी भी गेय छंद का प्रयोग किया जा सके। भाव की दृष्टि से ये फिर भी प्रेम भाव प्रधान रहे। हिंदी का 'बीसलदेव रास' ऐसा ही 'रास काव्य' है जिसमें किसी अन्य गेय छंद का इस्तेमाल किया गया है, फिर भी वह प्रेम भाव प्रधान ही है।

जब काव्य विशेष का एक रूप बन जाता है तो कभी-कभी उसे दूसरे भावों और विचारों का भी वाहन बना लिया जाता है। रास काव्य के साथ भी ऐसा ही हुआ। मूलतः यह कोमल भावों के लिए प्रयुक्त होने वाला गेय मुक्तक था, लेकिन दूसरी ओर यह काव्यरूप वीरों की गाथाओं के लिए भी काम में लाया गया। जिस तरह अंग्रेजी का 'सॉनेट' मूलतः प्रेम भावापन्न मुक्तक था, किन्तु आगे चलकर अन्य भावों का भी वाहन बना लिया गया उसी प्रकार अपभ्रंश और हिंदी का 'रास काव्य' भी इतर भावों, विचारों और घटनाओं के लिए अपनाया गया।

अपभ्रंश में इस प्रकार के कई रास काव्य हैं जैसे बाहुबलि रास, समर रास आदि। और हिंदी में एसे ही रास काव्यों का सिरताज 'पृथ्वीराज रासो' है।

यही सब देखते हुए अपभ्रंश के आचार्यों ने दो प्रकार के रास काव्यों का उल्लेख किया है—कोमल और उद्धत। इन दोनों के मिश्रण से बनने वाले मिश्रित प्रकार के रास काव्य की भी चर्चा की गयी है।[१] ये भेद किये तो गये हैं रास रूपकों के किंतु रास-काव्यों के विषय में भी समान रूप से लागू होते हैं।

प्रेम और युद्ध को एकदम अलग अलग वर्गों में बाँटना जितना कठिन जीवन में है, उतना ही कठिन काव्य में भी। उद्धत रूप के युद्ध-प्रधान रास-काव्यों में प्रेम-भावना का समावेश अस्वाभाविक नहीं है। यही कारण है कि पृथ्वीराज रासो जैसे रास काव्य एक प्रकार से युद्ध और प्रेमयुक्त मिश्रित रास की कोटि में आ जाते हैं। एकदम युद्ध प्रधान रास-काव्य का उदाहरण अपभ्रंश में 'बाहुबलि रास' और हिंदी में 'हम्मीर रासो' माना जा सकता है।

एक भाव के लिए निर्मित काव्य-रूप किस प्रकार दूसरे भाव या विचार के लिए प्रयुक्त होता है इसके लिए जिनदत्त सूरि के 'उपदेश रसायन रास' को देखा जा सकता है। इसमें युद्ध और प्रेम दोनों को हटाकर धर्मोपदेश दिया गया है।

इस प्रकार रास अथवा रासक नामक एक सामान्य गेय छंद ने अपने रूप बदले।

अपभ्रंश के अन्य गेय काव्य-रूपों में से चाँचरि का केवल एक नमूना मिलता है—जिनदत्त सूरि का 'चाँचरि' अथवा 'चर्चरी'। इस 'चाँचरि' में भी 'रासो' छंद का ही व्यवहार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चाँचरि' कोई लोक गीत था और शायद उस गीत में विशेष लय का छंद व्यवहृत होता था लेकिन लिखित साहित्य में वह काव्यरूप की तरह मान लिया गया। हिंदी में कबीरदास के नाम से चलने वाले कुछ गीत 'चाचरि' के नाम से मिलते हैं। जिनदत्त सूरि की 'चाँचरि' में जैनधर्म के उपदेश हैं। जैसे—

> जहि सावय त बोलु न मक्कहि, लिंति नय।
> जहि धारा हिय धरनि, त सावय-सुंदरय॥
> जहि भोयणु न सयणु न अणुचिउ बइसणउ।
> सह पहरणि न पवेसु न दुट्ठउ बुल्लणउ॥

---

१ हेमचंद्र कृत काव्यानुशासन ८।४

फिर भी उन रूढ़ियों को ढोने वाले अतीत के मन प्रवासी कवि आज भी मिल हो जाते हैं।

रूप विधान संबंधी इन रूढ़ियों के अतिरिक्त काव्य की कुछ ऐसी भी रूढ़ियां हैं जो मूलतः किसी न किसी भाव या विचार का प्रतीक थीं, किन्तु धीरे धीरे रूढ़ होकर अपनी मौलिक भाव-संपदा की ओर संकेत करने की शक्ति खो बैठीं और परवर्ती काल के काव्यों में वे रूप विधान का ही एक अंग बन गयीं। नख शिख वर्णन, संध्या उषा वर्णन तथा किसी उद्यान के फूलों का वर्णन आदि कुछ ऐसी ही काव्य रूढ़ियाँ हैं। मध्य युग में किसी नारी के नख शिख वर्णन में प्रयुक्त होने वाली कुछ उपमाएं ही नहीं, बल्कि संपूर्ण प्रक्रिया और वर्णन क्रम एक निश्चित ढाँचे पर हुआ करता है। 'पृथ्वीराज-रासो' में इछिनी और शशिव्रता का रूप-वर्णन और 'पद्मावत' में पद्मावती का विस्तृत नख शिख वर्णन इस प्रकार की चिराचरित परिपाटी का पता देते हैं। नख शिख वर्णन संबंधी यह रूढ़ियाँ स्वयंभू और पुष्पदन्त के काव्यों से ही मिलने लग जाती हैं।

इसी प्रकार यदि संदेश-रासक में वर्णित सामोर की पेड़ पुष्प-सूची को पद्मावत के वसंत-वर्णन में आये हुये फूलों की सूची से मिलाकर देखा जाय तो इन फूल-पौदों के नाम में ही नहीं बल्कि उनके क्रम में भी एक बंधी-बँधाई परिपाटी का आभास मिलेगा। यही बात युद्ध-वर्णन के प्रसंग में शस्त्रों की तालिका आदि के बारे में दिखाई पड़ती है।

संस्कृत काव्य के आरम्भिक युग से कुछ पशु-पक्षियों तथा पुष्पों को लेकर कवियों के समाज में काल्पनिक धारणाएं चल पड़ी थीं जैसे हंस का नीर-क्षीर विवेक अथवा सुन्दरियों के नूपुर शिंजित चरणों के आघात से अशोक का खिलना। आचार्यों ने इन्हें कवि-समय नाम दे रखा है। यदि इन कवि-समयों के इतिहास का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि अशोक, कुरबक, तिलक आदि फूलों-सम्बन्धी कवि-समयों का जितना प्रचलन कालिदास के युग में था, उतना परवर्ती युग के कवियों में कभी न रहा। अपभ्रंश काव्यों में ये कवि-समय क्वचित् कदाचित् ही दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण शायद यह है कि जैनों के बुद्धिवाद ने इन धारणाओं में विश्वास न जमने दिया। लेकिन हिंदी के काव्यों में भी फूल संबंधी ये कवि-समय कम अपनाये गये। वहाँ केवल हंस, चकोर, चमत्कार संबंधी कवि-समयों का ही निर्वाह हुआ।

अशोक, हंस संबंधी ये कवि-समय वस्तुतः एक प्रकार के 'मोटिफ़' हैं जो छोटे होते हुये भी अत्यन्त प्रसंग-गर्भी हैं। भारतीय चित्त में अशोक, हंस, आदि

केवल पुष्प और पक्षी नहीं रह गये हैं, बल्कि ये ऐसे 'मोटिफ़'
कथानक संबंधी हैं जो विभिन्न कथा-स्रोतों का व्यंजना करते हैं अशोक
'मोटिफ़' या रूढ़ि केवल अशोक नहीं है, वह अपने आप में एक पूरा कहानी
है।[१] भारतीय कथाओं में ऐसे अनेक लघु कथा-व्यंजक
प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। कथाओं में प्रयुक्त होने वाले इन प्रतीकों को कथात्मक 'मोटिफ़' कहा जा सकता है। बार-बारे ऐसे अनेक सनातन कथात्मक प्रतीकों के संयोग से कथात्मक टाइप बन जाते हैं।[२] 'दोहद' एक ऐसा ही कथात्मक 'मोटिफ़' है। जिस प्रकार मूर्ति और चित्रकला में कुछ विशेष भावों के व्यंजक 'मोटिफ़' होते हैं, उसी प्रकार कथा काव्य के अपने विशिष्ट 'मोटिफ़' हैं। इस विषय में साहित्यिक कथानकों की अपेक्षा लोक-कथाएँ अधिक समृद्ध दिखाई पड़ती हैं। लोक-कथाओं में ये प्रतीक क्रमशः रूढ़ि बन जाते हैं। कालान्तर में अनेक रूढ़ियाँ अप्रचलित होती रहती हैं और बहुत सी नयी रूढ़ियाँ स्थापित होती चलती हैं। भारतीय साहित्य के इतिहास में इन कथात्मक रूढ़ियों की एक दीर्घ परम्परा पायी जाती है जो विभिन्न मत-मतान्तरों, धर्मों, संस्कारों, जातीय प्रथाओं के बावजूद संस्कृत पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिंदी, बंगला आदि आधुनिक साहित्यों में भी बहुत कुछ सुरक्षित है।

अपभ्रंश के कथा-काव्यों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें संस्कृत कथाओं की अनेक कथानक-रूढ़ियों का निर्वाह किया गया है। यहाँ संस्कृत काव्यों तथा अपभ्रंश काव्यों में एक मौलिक अंतर दिखाई पड़ता है। कथानक-रूढ़ियों का उपयोग संस्कृत काव्यों में उतना नहीं हुआ है, जितना अपभ्रंश काव्यों में। वाल्मीकि-रामायण और स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'पउमचरिउ' का सारा विद्याधर काण्ड और अयोध्याकाण्ड का उत्तरार्द्ध ऐसे ही कथात्मक प्रतीकों के लिए लिखा गया प्रतीत होता है उसमें विविध आनुषंगिक प्रसङ्गों की योजना किसी न किसी 'मोटिफ़' के लिए ही की गयी है। संस्कृत साहित्य में कथानक रूढ़ियाँ हैं अवश्य लेकिन उनकी बहुलता पञ्चतंत्र, कथा-सरित्सागर आदि आख्यायिकाओं तथा पुराणों में है। इसका कारण यह है कि ये आख्यायिकाएँ और पुराण मुख्यतः लोक प्रचलित कथाओं पर

---

१ दि मोटिफ़ इज दि स्मालेस्ट रिकग्नाइज़ेबुल एलिमेंट दैट गोज़ टु मेक अप ए कम्प्लीट स्टोरी—(शिप्ले—डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर फोक टर्म पृ २४७)

२ दि इम्पॉर्टेंस ऑव दि टाइप इज टु शो दि वे इन विच नैरेटिव मोटिफ्स फ़ार्म इन टु कन्वेंशनल पैटर्न्स (वही पृ० २४८)

आधारित हैं और लोक-कथाएँ कथानक रूढ़ियों से भरी रहती हैं कथात्मक प्रतीकों के विषय में जितनी रूढ़िवादी लोक कथाएँ होती हैं, उतनी साहित्यिक कथाएँ नहीं। वहाँ हर कहानी में राजा के सात ही रानियाँ होंगी और छोटी रानी को सभी सताती होंगी और उसी रानी का लड़का सबसे अधिक चतुर निकलेगा। रनिवास से निकाली हुई रानी के रोने पर सारे वन का रोना और पत्तियाँ गिरा देना, फिर उधर से गौरा पार्वती और महादेवजी का निकलना सामान्य रूढ़ि है। यदि लोक-गीतों में सवत्र 'सोने की थारी में ज्योना' परोसा जाता है, 'सोने के गड़ुवा गंगा-जल पानी' भरा रहता है, 'लौंग खिली-खिली बीड़ा' लगाया जाता है और 'कलियाँ चुन चुन कर सेज' रची जाती है तो लोक-कथाओं में भी प्राय हिरामन सुआ आता है गौरा पार्वती महादेव आते हैं, सात समुदर पार और सात सिंघारे की भीतर राजकन्या रहती है।

हिंदी के मध्ययुगीन आख्यानक काव्यों के वास्तविक मूल्यांकन के लिए उनमें व्यवहृत होने वाले कथात्मक प्रतीकों के मूल स्रोत का पता लगाना अत्यंत आवश्यक है। पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरित मानस आदि का अच्छी तरह समझने के लिए उनमे प्रयुक्त कथानक प्रतीकों की दीर्घ परम्परा से परिचित होना जरूरी है। इस ओर ध्यान न देने के कारण ही कभी कभी इन काव्यों के बारे में विचित्र विचित्र बातें कह दी जाती हैं।

पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता को लेकर इतना बड़ा हङ्गामा खड़ा न होता यदि आख्यानक काव्यों की रचना में काम करने वाली कथात्मक प्रतीक योजना की प्रवृत्ति का भी ध्यान में रखा जाता। उस युग में जब कि एकदम कल्पित आख्यान का आधार बनाकर काव्य-रचना की प्रवृत्ति न थी और इतिहास प्रसिद्ध अथवा लोक विश्रुत चरित नायक के जीवन पर ही काव्य लिखने की प्रथा थी, लोक प्रचलित कथात्मक प्रतीकों की योजना में ही कवि-कल्पना को खुल खलने का अवसर मिलता था। ऐसे ही प्रसङ्गों में कवि को अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाने की छूट मिलती थी इसीलिए मध्य युग में प्रायः सभी तथाकथित ऐतिहासिक काव्यों में ऐसे काल्पनिक प्रसङ्गों का मिश्रण मिलेगा। जिस तरह आधुनिक युग में ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने अपना औपन्यासिक कौशल दिखाने के लिए कुछ मार्मिक प्रसङ्गों की कल्पना की है, उसी प्रकार प्राचीन युग में कवियों ने ऐतिहासिक काव्यों में चिराचरित कथात्मक प्रतीकों का सहारा लिया है। यह प्रवृत्ति एक ओर अपभ्रंश में जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, करकंड चरिउ आदि चरित काव्यों तथा ऋषभदेव, बाहुबलि, भरत, नमिनाथ आदि के जीवन से सम्बन्धित

काव्यों में देखी जा सकती है तो दूसरी ओर पृथ्वीराज रासो आदि हिंदी काव्यों में भी ढूँढी जा सकती है।

शुक का दौत्य-कार्य, नायिका को अप्सरा का अवतार कहना, महादेव के मन्दिर में नायक-नायिका का मिलना, सिंहल द्वीप, फल द्वारा सन्तान की उत्पत्ति, लिंग-परिवर्तन आदि बातें अनैतिहासिकता-द्योतक नहीं बल्कि कथानक रूढ़ि के निर्वाह की सूचक हैं। पृथ्वीराज रासो ऐसी रूढ़ियों का कोश है। कभी-कभी इन रूढ़ियों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' के मूल रूप का भी पता लगाने की चेष्टा की जाती है। लेकिन यह कार्य कितना कठिन है इसका पता इसी से चल सकता है कि इन रूढ़ियों के प्रक्षेप का कोई अन्त नहीं है—इनमें से कितनी चन्द द्वारा नियोजित हैं और कितनी दूसरों द्वारा, इसको अलगा लेना खेल नहीं है।

इसी तरह 'पद्मावत' में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों के विश्लेषण से और भी मनोरञ्जक तथ्यों की प्राप्ति हो सकती है। सुआ का उपयोग कथात्मक प्रतीक के रूप में संस्कृत-साहित्य से ही होता आ रहा है, लेकिन यह सुआ हिरामन' है इसका प्रचलन अपभ्रंश से दिखाई पड़ता है। 'करकंड-चरिउ' में पहली बार 'हिरामन सुआ' का नाम सुनाई पड़ता है और जायसी के यहाँ भी वह इसी नाम से परिचित कराया जाता है। सुआ-सम्बन्धी अन्य बातें अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती हुई मालूम पड़ती हैं अर्थात् यह कि सुआ पण्डित है और राज दरबार में आने से पहले वह किस तरह बहेलिया द्वारा पकड़ा जाता है, और एक गुण ग्राही ब्राह्मण द्वारा खरीदा जाता है आदि। इसी तरह 'सिंहल द्वीप' भी एक 'मोटिफ' है जो पता नहीं कब से कवियों के रोमैंटिक देश का प्रतीक बन कर आ रहा है। वह इतना मनोरम देश है कि उसमें सभी स्त्रियाँ पद्मिनी ही होती हैं। इसकी ऐतिहासिकता और भौगोलिकता का लेकर बहस करना बेकार है। पद्मावत में राजा रतनसेन का सोलह हजार यात्रियों के साथ सात समुन्दर पार करना, महादेव के मंडप में पद्मावती से मिलने की प्रतीक्षा करना, पद्मावती के आने पर राजा का मूर्छित हो जाना और उसके चले जाने पर मूर्छा भङ्ग होना, महादेव का कोढ़ी के वेश में आना (उस अलौकिक कोढ़ी की छाया नहीं पड़ती, उस पर मक्खी नहीं बैठती, उसकी पलकें नहीं गिरतीं), रतनसेन की वापसी में समुद्र में तूफान का आना, जहाज का भग्न होना, एक तख्ते पर राजा और दूसरे पर रानी का बहना, अलग अलग जगहों में जाना और अन्त में अतिमानवीय शक्तियों की कृपा से मिलना आदि ऐसे 'मोटिफ' हैं जो लोक-कथाओं में बहुत दिनों से चल आ रहे हैं और खोजने पर इनमें से कुछ का स्रोत अपभ्रंश साहित्य में भी मिल जाता है। इनके तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि जैन-बौद्ध

ब्राह्मण आदि धार्मिक भेदों से प्रभावित काव्यों के ऊपरी भर्तों के नीचे लोक जीवन से उद्भूत एक ही चेतना अन्त:सलिला की तरह प्रवाहित थी और इनके प्रतीक लोकाश्रित 'मोटिफ' हैं।[१]

---

१ भारतीय साहित्य में मोटिफ' के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए पेंजर की टिप्पणियों से युक्त कथा सरित्सागर' के टानी वाले अनुवाद को और ब्लूमफील्ड द्वारा किये हुए कार्यों को। (विशेष सूचना के लिए देखिए डा० दास गुप्त और दे का संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २८-२९ की पादटिप्पणी) मोटिफ के सामान्य अध्ययन के लिए देखिए टामसन कृत मोटिफ इंडक्स ऑव फोक लिट्रेचर १९३२-३७ एफ० टी। हिन्दी में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य का आदिकाल।'

उपसंहार

अपभ्रंश के अध्ययन और अनुशीलन का इतिहास सामान्य लोक चेतना के उदय और विकास के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। हमारी राष्ट्रीय भावना जैसे जैसे लोकोन्मुख होती गयी हमारा ध्यान प्राचीन और अर्वाचीन लोक-भाषाओं तथा लोक-साहित्यों की ओर बढ़ता गया। जिस प्रकार संस्कृत भाषा और साहित्य सम्बन्धी अनुशीलन का अभिनव उत्साह आधुनिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का मंगलाचरण है, उसी प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश में क्रमशः बढ़ती हुई रुचि उस पुनरुत्थान की लोकोन्मुखता का प्रमाण है। अपभ्रंश का अब तक जितना साहित्य प्राप्त हुआ है उसका अधिकांश निःसन्देह केवल दिगम्बर जैन धर्म से प्रेरित और प्रभावित है। फिर भी विभिन्न मत के आधुनिक विद्वानों की दिलचस्पी अपभ्रंश भाषा और साहित्य में बढ़ती जा रही है क्योंकि धीरे धीरे यह मत प्रतिष्ठित होता जा रहा है कि अपभ्रंश ही वह आर्य भाषा है जो ईसा की लगभग सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत के सामान्य लोक-जीवन के परस्पर भाव विनिमय और व्यवहार की बोली रही है। ऐसी स्थिति में जिन लोगों को अपनी मातृ भाषा, राष्ट्रभाषा तथा जातीय साहित्य के इतिहास में थोड़ी सी भी दिलचस्पी है वे इन सब के आदि स्रोत का पता लगाने के लिए अपभ्रंश भाषा और साहित्य की छान-बीन करते हैं। संभव है, सभी प्रादेशिक भाषाओं और साहित्यों के लिए अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य में एक समान उपादेय सामग्री न प्राप्त हो फिर भी अनुशीलन की इस अवस्था में इसकी संभावनाएं समाप्त नहीं हो जातीं। कहा नहीं जा सकता कि अपभ्रंश का अभी कितना साहित्य पुस्तक भंडारों तथा बिखरे हुए व्यक्तियों के पास छिपा पड़ा है। अपभ्रंश के जो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, उनमें से भी किस में कितने बड़े तथ्य को प्रकाशित करने की शक्ति है, यह भी अनुसंधान का विषय है। पिछले पचास-साठ वर्षों के अपभ्रंश सम्बन्धी अध्ययन के छोटे से इतिहास को देखकर सहज ही यह विश्वास बधता है कि इस भाषा में लिखित साहित्य के पास अभी बहुत सामग्री है जो आधुनिक भाषाओं और साहित्यों के आदि काल पर प्रकाश डाल सकती है।

संस्कृत और हिंदी के तुलनात्मक अध्ययन से हिंदी भाषा और साहित्य का जितना लाभ हुआ है, उससे कम लाभ की संभावना अपभ्रंश और हिंदी के तुलनात्मक अध्ययन में नहीं है। संभावना ही अन्वेषण की प्रेरक शक्ति है, लेकिन

इससे आगे बढ़कर जब वह पूर्वग्रह का रूप धारण कर लेती है तो वैज्ञानिक अनुशीलन में बाधा पहुँचती है। इन्हीं सब बातों का ध्यान में रखकर इन पृष्ठों में अपभ्रंश और हिंदी का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अध्ययन के क्रम में कहीं-कहीं पूर्ववर्ती विद्वानों की स्थापनाओं से उत्पन्न धारणा को धक्का लगा है किन्तु अधिकांशतः अपभ्रंश और हिंदी के घनिष्ठ सम्बन्ध की पुष्टि ही हुई है।

जहाँ तक भाषा विषयक सम्बन्धों की बात है, इस अध्ययन-क्रम में यह स्पष्ट हुआ है कि हिंदी शब्दों तथा पदों की व्युत्पत्ति का पता लगाने में अपभ्रंश का महत्व बहुत बड़ा है। पहले के भाषावैज्ञानिक जहाँ संस्कृत और हिंदी अथवा प्राकृत और हिंदी के बीच की रिक्त अवस्था को या तो छोड़ देते थे अथवा नाना प्रकार के अनुमानों से काम लेते थे, वहाँ अपभ्रंश से उस रिक्त की पूर्ति की जा सकती है। भले ही प्रत्येक दशा में अपभ्रंश द्वारा की गयी यह पूर्ति विकास की ही सूचक न हो किन्तु उससे भी एक तथ्य की पुष्टि होती है। जैसे, शब्द कोश के क्षेत्र में अपभ्रंश ने प्रायः प्राकृत का ही निधि का प्रयोग किया है, शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन करके उन्हें विशिष्ट रूप अपभ्रंश ने कम दिया है, फिर भी इससे उस युग में प्रचलित आर्य भाषा की सामान्य प्रवृत्ति का पता चलता है। इसके विपरीत हिंदी के अनेक देशी शब्द ज्यों के त्यों अपभ्रंश में भी मिल जाते हैं। इससे उन शब्दों की व्युत्पत्ति का पता भले ही न चले लेकिन इतना तो मालूम हो ही जाता है कि लोक में ऐसे शब्दों का प्रचलन काफी पुराना है। देशी शब्दों की व्युत्पत्ति का पता लगने के लिए ध्वनिसाम्य पर संस्कृत का शब्द गढ़ने अथवा खींच निकालने से कहीं अच्छा है, उनके प्राकृत और अपभ्रंश प्रयोगों का धैर्य-पूर्वक ढूँढ़ना। यही समझ कर भाषा वाले प्रकरण में कुछ ऐसे देशी शब्दों की सूची दी गयी है।

जहाँ तक हिंदी व्याकरण का सम्बन्ध है, कुछ विद्वानों को अपभ्रंश के योग पर संदेह है। उनका कहना है कि "हिंदी की अधिकांश क्रियाएं कृदन्त हैं, तिङन्त नहीं। ये कृदन्त क्रियाएं संस्कृत से और संस्कृत व्याकरण से बिल्कुल मिल गयी हैं, जब कि प्राकृत अपभ्रंशों से मेल नहीं खातीं। वहाँ (प्राकृत और अपभ्रंश में) तिङन्त क्रियाओं का जोर है। जब कि प्राकृत अपभ्रंशों के साथ हिंदी का यह मौलिक भेद है तब उनसे इसकी उत्पत्ति कैसे?' ऐसे सन्देहों को दूर करने के लिए तथ्यों के आधार पर दिखलाने की कोशिश की गया है कि अपभ्रंश में भी कृदन्तज क्रियाएँ प्रचलित हो गयी थीं इसके अतिरिक्त क्रिया के कृदन्त रूपों का जोर हिंदी में शुरू से ही नहीं रहा है। जायसी और तुलसी की भाषा में क्रिया के उतने ही कृदन्त रूप नहीं मिलते जितने प्रेमचन्द और प्रसाद की भाषा में मिलते

हैं। क्रिया-रूपों की यह अवस्था बहुत लम्बे विकास क्रम का परिणाम है।

यही बात हिंदी के विकारी कारक-पदों और परसर्गों के बारे में भी समझनी चाहिए। विविध कारकों में प्रयुक्त होने वाले हिंदी की विकारी विभक्तियाँ तथा परसर्ग भी क्रमिक विकास के परिणाम हैं। हिंदी विभक्तियों और परसर्गों का इतिहास जानने के लिए अपभ्रंश का अध्ययन अनिवार्य है। हिंदी के सभी विकारी कारक-रूप तथा अधिकांश कारक परसर्ग अपभ्रंश की ही अवस्था से होकर आये हैं।

जहाँ तक अपभ्रंश और हिंदी के साहित्यिक संबंध की बात है उसमें प्रवेश करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपभ्रंश ने उस सक्रान्ति युग में भी लोक-जीवन को अपनाकर जो युगान्तरकारी कार्य किया हिंदी ने उसी को अपने ढंग से बहुत बड़े पैमाने पर मत-भक्ति काव्य के द्वारा आगे बढ़ाया। उस युग में लोक-जीवन ने अपभ्रंश के माध्यम से अपनी जिन भावनाओं को व्यक्त किया वे कालान्तर में और भी प्रबल हुईं तथा गौरवशाली प्राचीन भारतीय परंपरा का सहारा पाकर संत-भक्ति आंदोलन के रूप में प्रकट हुईं। हिंदी साहित्य का उदय लोक जीवन के उसी उल्लास की अभिव्यक्ति है और इस विषय में अपभ्रंश साहित्य उसका अग्रदूत है। इससे आगे बढ़कर दोनों में अनुरूपता स्थापित करने का प्रयत्न अपभ्रंश के प्रति अतिशय मोह का प्रतीक है। हिंदी साहित्य के मूल उत्स कई हैं उसने अनेक स्रोतों से जीवन धारा ग्रहण की है और अपभ्रंश भी उनमें से एक है। जिस हिंदी साहित्य के अभ्युदय पर संस्कृत साहित्य और ब्राह्मण संस्कृति के पुनरुत्थान की गहरी छाप है, उसे एकमात्र जैन धर्मानुमोदित अपभ्रंश साहित्य से उत्पन्न हुआ बतलाना बहुत बड़े सत्य पर पर्दा डालना होगा।

अपभ्रंश साहित्य की जीवंत भावधारा के साथ-साथ उसकी कुछ रूढ़ भावनाओं और प्रवृत्तियों की भी हिंदी साहित्य ने रक्षा की और धीरे धीरे फिर उन्हें छोड़ दिया।

भावधारा के विषय में अपभ्रंश से हिंदी का जहाँ केवल ऐतिहासिक संबंध है वहाँ काव्य-रूपों और छंदों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूपविधान विषय-वस्तु की अपेक्षा धीरे धीरे बदलता है और इस विषय में रूढ़ियों का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिंदी ने अपभ्रंश की काव्य-रूप-संबंधी अनेक परिपाटियों को ज्यों का त्यों और कुछ को थोड़ा सा सुधार कर स्वीकार कर लिया।

इस तरह हिंदी ने अपभ्रंश की जीवंत परंपरा का, भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में, ऐतिहासिक विकास किया।

परिशिष्ट

अपभ्रंश-दोहा संग्रह

कालिदास (विक्रमोर्वशीयम्)

मइँ जाणिअँ मिअ-लोअणी णिसिअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णव-तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ ॥ १ ॥

सरहपा (दोहाकोष)

जाव ण अप्प जाणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ ।
अन्धाँ अन्ध कढाव तिम वेण्ण वि कूव पडेइ ॥ २ ॥
णउ त वाअहि गुरु कहइ, णउ त बुज्झइ सीस ।
सहजामिअ-रसु सअल जगु, कासु कहिज्जइ कास ॥ ३ ॥
जहि मण पवण ण सञ्चरइ, रवि ससि णाह पवेस ।
तहि वढ ! चित्त विसाम करु सरहेँ कहिउ उएस ॥ ४ ॥
आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण ।
एहु सो परममहासुह, णउ पर णउ अप्पाण ॥ ५ ॥

---

१ जब तक नव तड़ित से युक्त श्यामल धाराधर बरसने न लगा तब तक मैंने यही जाना था कि मेरी मृगलोचनी [प्रिया] को शायद कोई निशिचर हरण किए जा रहा है ।

२ जब तक आप न जानिए तब तक शिष्य मत कीजिए (बनाइये) अंधा अंधे को निकालने का प्रयत्न करे तो दोनों ही कूप में पड़ेंगे ।

३ यह वचन न तो गुरु कहता है और न शिष्य बूझता है [यह] सहजामृत रस सकल जग में है; किससे कहें और कैसे [कहें !]

४ जहाँ मन और पवन [भी] संचार नहीं करते रवि और शशि का भी प्रवेश नहीं है, हे मूढ़ चित्त, वहाँ विश्राम करो । सरह ने [यही] उपदेश कहा है ।

५ [इसका] न आदि है, न मध्य है, और न अन्त है । इसका जन्म और निर्वाण भी नहीं है । यह वह परम महासुख है [जिसके लिए] न कोई पराया है और न अपना ।

विसम्र विसुद्धे णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ।
उड्डी वोहिअ काउ जिम, पलुटिअ तह वि पडेइ ॥ ६ ॥
जत्त वि चित्तह विप्फुरइ, तत्त वि णाह सरूअ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु, भव सम ख सम सरूअ ॥ ७ ॥
सुण्णहिँ संग म करहि तुहु, जहि तहि सम चिन्तस्स।
तिल-तुस मत्त वि सल्लता, वेअणु करइ अवस्स ॥ ८ ॥
अक्खर बाढा सअल जगु, णाहि णिरक्खर कोइ।
ताव से अक्खर घोलिया जाव णिरक्खर होइ ॥ ९ ॥
घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण।
सअलु णिरन्तर बोहि ठिअ, कहि भव कहिँ णिव्वाण ॥ १० ॥
अदअ चित्त-तरूअरह, गउ तिहुवणे वित्थार।
करुणा फुल्ली फल धरइ, णाउ परत्त उआर ॥ ११ ॥

---

६ जो विशुद्ध विषयों में नहीं रमता और केवल शून्य में विचरण करता है, वह बोहित [जहाज] के काग की तरह पलट कर वहीं पड़ता है।

७ जहाँ चित्त में विस्फुरण होता है वहाँ स्वरूप नहीं है। क्या तरङ्ग अन्य है और जल अन्य है? भव के समान ख (शून्य) का स्वरूप होता है। अर्थात् चंचल चित्त और आत्म-रूप में वही संबन्ध है जो तरङ्ग और जल में तथा भव और शून्य में है।

८ तुम शून्य का संग मत करो, बस जहाँ तहाँ समता का चिंतन करो, तिल और तुष मात्र की शल्यता भी वेदना करती है।
वेदना (१) व्यथा (२) अनुभूति (३) ज्ञान।

९ सकल जग [प्रति] अक्षर से बाधित है। निरक्षर कोई नहीं है। इसलिए उतना ही अक्षर घोलो जिससे निरक्षरता प्राप्त हो।
अक्षर = कोरा शास्त्र ज्ञान।

१० न घर रहो न वन में जाओ। जहाँ तहाँ [रहकर] मन का परिज्ञान करो। सकल [त्रिधातुओं में] निरन्तर [अविच्छिन्न प्रवाह से] बोधि स्थित है। [इसके बाहर] कहाँ जन्म है और कहाँ निर्वाण?

११ [योगियों के] अद्वय चित्त के तरुवर का विस्तार त्रिभुवन में है। [उसमें] करुणा का फूल फल धारण करता है। [इसके अतिरिक्त] दूसरा उपकार नहीं है।

काण्हपा (दोहा कोष)

लोअह गव्व समुव्वहइ, हउ परमत्थे पवीण।
कोडिह मज्झे एक्कु जइ, होइ णिरंजण-लीण ॥ १२ ॥
आगम-वेअ पुराणेंही पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क सिरीफले अलिअ जिम, बाहेरिअ भमन्ति ॥ १३ ॥
सहजे णिचल जेण किअ, समरसे निअ-मण राअ।
सिद्धे सो पुण तक्खणे णउ जरमरणह स भाअ ॥ १४॥
एहु सो गिरिवर कहिअ मइँ, एहु सो महसुह ठाव।
एक्कु रअणी सहज-खण, लब्भइ महसुह जाव ॥ १५ ॥
जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिम घरिणी लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त ॥ १६ ॥

देवसेन (सावयधम्म दोहा)

जं दिज्जइ तं पाविअइ, एउ ण वयण विसुद्धु।
गाइ पइण्णइ खडभुसइँ किं ण पयच्छइ दुद्धु ॥ १७ ॥
काइँ बहुत्तइ जंपिअइ, जं अप्पणु पडिकूलु।
काइँ मि परहु ण तं करहि, एहु जु धम्मह मूलु ॥ १८ ॥

---

१२ लोग गर्व करते हैं कि हम परमार्थ में प्रवीण हैं [पर] करोड़ों के बीच कोई एक ही निरंजन-लीन होता है।

१३ आगम, वेद पुराण को ही [सर्वस्व] मानकर पंडित जन उन्हें वहन करते हैं जिस प्रकार पके हुए श्रीफल के बाहर ही भौंरे घूमते रह जाते हैं।

१४ समरस में अपना मन अनुरक्त करके जिन्होंने सहज में निश्चल किया वह तत्क्षणात् सिद्ध है और उसे जरा-मरण का भय नहीं।

१५ मैंने कहा कि यही वह गिरिवर है और यही वह महासुख का ठाँव है। सहज क्षण की एक ही रजनी है जिससे महासुख प्राप्त होता है।

१६ जिस प्रकार पानी में लवण विलीन हो जाता है उसी प्रकार यदि [ज्ञान रूपिणी] गृहिणी को लेकर चित्त को समरस [भाव में] ले जाँय तो उसी क्षण से नित्य समरस में अवस्थित हो जाय।

१७ जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है यह वचन क्या विशुद्ध नहीं है ? गाय को खली भूसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती ?

१८ बहुत जल्पना करने से क्या ? जो अपने प्रतिकूल हो उसे दूसरों के प्रति कभी न करो। यही धर्म का मूल है।

बहुयइँ पढियइँ मूढ पर, तालू सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खरु त पढहु, सिवपुरि गम्मइ जेण ॥३३॥
हउ सगुणी पिउ णिग्गुणउ, णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहि अगि वसंतयहँ, मिलिउ ण अंगहि अंगु ॥३४॥
मूलु छड्डि जो डाल चडि, कह तह जोयाभासि।
चीरणु वुणणहँ जाइ वढ, विणु उट्टियइं कपासि ॥३५॥
छह दसण धंधइ पडिय, मणहँ ण फिट्टिय भंति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खह जंति ॥३६॥

अब्दुर्रहमान (संदेश रासक)

जसु पवसत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु ॥३७॥
लज्जवि पंथिय जइ रहउँ, हियउ न धरणउ जाइ।
गाह पढिज्जसु इक्क पिय, कर लेविणु मनाइ ॥३८॥
पिअ विरहानल-संतविअ, जइ वच्चउ सुरलोइ।
तुअ छड्डिवि, हिय अडियह, त परिवाडि ण होइ ॥३९॥

---

३ मूढ़ तूने बहुत पढ़ा जिससे तालु सूखता है। एक ही वह अक्षर पढ़ो जिससे शि[वपुरी] पहुँचा जाता है।

४ मैं सगुणी हूँ और प्रिय निगुणी निर्लक्षण तथा निसंग। एक ही अंग में ब[सते] हुए भी अंग से अंग नहीं मिला।

५ मूल छोड़ कर जो डाल पर चढ़ता है, उसके लिए योगाभ्यास कहाँ ! हे मू[र्ख] बिना कपास ओटे चीर नहीं बुना जाता।

६ षट् दर्शन के धन्धे में पड़कर मन की भ्रांति नहीं टूटी। एक देव के छ भेद किये। इसलिए मोक्ष नहीं मिला।

७ हे पथिक, जिसके प्रवास करते प्रवास नहीं किया और न जिसके वियोग में म[री] ही उस प्रिय को संदेश देती हुई लज्जित हो रही हूँ।

८ हे पथिक, लज्जित होकर यदि रह जाऊं तो हृदय भी धारण नहीं किया जाता। प्रिय के सम्मुख एक गाथा पढ़ना और हाथ पकड़ कर मना लेना।

९ प्रिय के विरह के अनल में संतापित होती हुई मैं यदि हृदय में स्थित तुम[को] छोड़कर सुरलोक चली जाऊँ तो भी उचित न हो।

कंत तु तइ हिअ-यठियइ, विरह विडंबइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ, परपरिहव संताउ ॥४०॥
गरुअउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अंगिहि तू विलसियउ, ते दद्धा विरहेण ॥४१॥
विरह परिग्गह छायडइ, पहराविउ निरवक्खि।
तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ समाणिय सिक्खि ॥४२॥
मह ण समत्थिम विरह सउ, ता अच्छउ विलवंति।
पाला रूअ पमाण पर, घण सामिहि घुम्मति ॥४३॥
सदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ।
जो कालगुलि मूदडउ, सो बाहडी समाइ ॥४४॥
सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय-उक्किंख करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ॥४५॥
सामिणि ज वयणिज्ज तुअ, त तिहुयणि यहु माइ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी, झिज्जइ सुहसंगाइ ॥४६॥

---

४० हे कंत, यदि हृदय में तुम्हारे रहते हुए भी विरह काया को विडंबना करता है (कष्ट देता है) [तो तुम्हारे लिए लज्जा की बात है] सत्पुरुषों के लिए शत्रुओं द्वारा परिभव का संताप मरण से भी अधिक होता है।

४१ तुम्हारे जैसे पौरुष के निलय के रहते हुए यह कठोर परिभव कैसे न सहूं ! जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया वे विरह से दग्ध हो रहे हैं।

४२ विरह के परिग्रह (सैन्य दल आदि) ने छायड़ो (शरीर) पर निरपेक्ष भाव से (अनदेखे ही) प्रहार कर दिया [जिससे] देह तो टूट गयी परन्तु तुमसे संमानित (सुरत) देख कर हृदय घायल नहीं हुआ।

४३ विरह के साथ [संघर्ष करने में] मेरा सामर्थ्य नहीं है। इसी से विलाप करती रहती हूं। क्योंकि गोपालों का रूप ही प्रमाण है, धन्या स्वामी से ही घुमाई जाती है, [अन्य से नहीं]।

४४ संदेशा सविस्तर है पर मुझसे कहा नहीं जाता। जो कनगुरिया की मुदरी थी वह बांह में समा जाती है।

४५ मेरे हृदय को प्रिय सुनार की भांति उत्कंठित करता है, विरह के हुताशन में जलाकर आशा जल से सींचता है।

४६ हे स्वामिनि तुम्हारी जो वचनीयता (निंदावाक्य) है वह त्रिभुवन में [भी] नहीं अंटती। दुःख में तो [तुम] चौगुनी हो जाती हो पर सुखसंग में क्षीण हो जाती हो।

सोमप्रभ (कुमारपाल प्रतिबोध)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु, तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जन-कर पल्लविहि, दंसिज्जंतु ममिज्ज ॥४७॥

वेस विसिट्ठह वारिअइ, जइ वि मणोहर-गत्त ।
गंगाजल-पक्खालिअवि, सुणिहि कि होइ पवित्त ॥४८॥

रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि संमाणु ।
सउणिहि मुच्चइ फल रहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥४६॥

हियडा संकुडि मिरिय जिम, इंदिय-पसरु निवारि ।
जित्तिउ पुज्जइ पगुरणु तित्तिउ पाउ पसारि ॥५०॥

निम्मल-मुत्तिअ-हार मिसि, रइय चउक्कि पहिट्ठ ।
पढमु पविट्ठइ हिय तसु, पच्छा भवणि पविट्ठ ॥५१॥

पिउ हउं थक्किय सयलु दिणु तुह विहरग्गि किलंत ।
थोडइ जलि जिम मच्छलिय तल्लाविल्लि करंत ॥५२॥

मइं जाणिउं पिय विरहियह, कवि धर होइ वियालि ।
णवर मयंकु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयकालि ॥५३॥

---

४७ मान नष्ट होने पर यदि तन नहीं तो देश [अवश्य] त्याग दीजिए । दुर्जन के कर-पल्लवों से दिखलाए जाते हुए मत घूमिए ।

४८ वेश्याओं अथवा विशिष्टवस्त्रों को धारण कीजिए, भले ही वे मनोहर गात्र की हों । गंगाजल में प्रक्षालित कुतिया क्या पवित्र हो जाती है ?

४६ ऋद्धि विहीन मनुष्यों का कोई भी सम्मान नहीं करता । पक्षियों द्वारा छोड़ा हुआ फलरहित तरुवर इसका प्रमाण है ।

५० हृदय मृग की तरह इन्द्रियों का प्रसार निवारण कर सिकुड़ो । प्रावरण (चादर) जितना पूरा पड़े उतना ही पाँव फलाओ ।

५१ निर्मल मोती के हार के मिस (बहाने) प्रहृष्ट चतुष्क (चौक) रचित है । पहले उसके हृदय में पठो, पीछे भवन में प्रवेश करो ।

५२ प्रिय तुम्हारी विरहाग्नि में सारे दिन तिलमती हुई मैं थक गई जैसे थोड़े जल में छटपटाती हुई मछली ।

५३ प्रिय, मैंने समझा कि विरहिणियों को विकाल (संध्या) में कुछ सहारा होगा, पर यह चन्द्रमा वैसे ही तप रहा है जैसे क्षय (प्रलय) काल में दिनकर ।

मरगय वन्नहं पियहं उरि पिय चंपय-पह देह।
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह॥५४॥

चूडउ चुन्ना होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु।
सासानलिण झलक्कियउ बाह-सलिल-संसित्तु॥५५॥

अम्ह थोडा रिउ बहुअ इउ कायर चिंतंति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति॥५६॥

प्रबंध-चिंतामणि

झोली तुट्टवि किं न मुउ, किं हुउ न छारह पुंजु।
हिंडइ दोरी दोरियउ, जिम मक्कडु तिम मुंजु॥५७॥

चित्ति विसाउ न चिंतियइ, रयणायर गुण-पुंज।
जिम जिम वायइ विहिपडहु, तिम नच्चिज्जइ मुंज॥५८॥

सायरु खाइ लंक गढु, गढवइ दससिरु राउ।
भग्ग खइ सो भंजि गउ, मुंज म करसि विसाउ॥५९॥

---

५४ मरकत वर्ण वाले प्रिय के हृदय पर चम्पक प्रभा की देह वाली प्रिया [वैसी ही सुशोभित हो रही है] जैसी कसौटी पर दी हुई सुवर्ण की रेखा सुशोभित होती है।]

५५ मुग्धा के कपोल पर श्वासों की आग से संतप्त और बाष्पसलिल से सिक्त होकर चूड़ियाँ चूरी (चूर्ण / चूरण) हो जायेंगी।

५६ हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत हैं यह कायर ही सोचते हैं। हे मुग्धे! देखो, गगन तल को कितने जन प्रकाशित करते हैं।

५७ यह मुंज जो इस प्रकार रस्सी में बंधा हुआ मर्कट की तरह घुमाया जा रहा है वह [बचपन में ही] झोली के टूट जाने से [गिरकर] क्यों न मर गया या आग में जलकर राख क्यों न हो गया।

५८ हे रत्नाकर की तरह गुण-पुंज मुंज! चित्त में [इस प्रकार] विषाद मत करो, क्योंकि जिस प्रकार विधाता का पटह (ढोल) बजाता है उसी प्रकार मनुष्य को नाचना पड़ता है।

५९ जहाँ स्वयं सागर खाई था, गढ़ लंका जैसा था और गढ़ का मालिक स्वयं दस सिरवाला रावण था फिर भी भाग्य क्षय होने पर नष्ट हो गया। हे मुंज, विषाद मत करो।

गय गय रह गय तुरय गय, पायकडा नि भिच्च ।
सग्गट्ठिय करि मंतणउ, मुहुँता रुद्दाइच्च ॥६०॥
भोली मुंधि म गव्वु करि, पिक्खिवि पंगुरुयाइँ ।
चउदह-सइ छहुत्तरइँ, मुंजह गयह गयाइँ ॥६१॥
च्यारि बइल्ला धेनु दुइ, मिट्ठा बुल्ली नारि ।
काहुँ मुंज कुडंबियह गयवर बज्झइ बारि ॥६२॥
जा मति पच्छइ संपजइ, सा मति पहिली होइ ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न वेढइ कोइ ॥६ ॥
सउ चित्तह सट्ठी मणह, बत्तीसडा हियाह ।
अम्मी ते नर ढड्ढसी जे वीससइ तियाह ॥६४॥
उग्गा ताविउ जिहिं न किउ, लक्खउ भणइ निघट्ट ।
गणिया लब्भइ दीहडा, के दह अहवा अट्ठ ॥ ६५ ॥
कवणिहिं विरहकरालिअइ उड्डावियउ वराउ ।
सहि अच्चब्भुउ दिट्ठ मइँ कंठि विलुल्लइ काउ ॥ ६६ ॥

---

६० गज गये, रथ गये, तुरग गये, पायक और भृत्य भी चले गये । महता (महामात्य) रुद्रादित्य भी स्वर्ग में बैठा मंत्रणा दे रहा है, अथवा हे रुद्रादित्य मेहता, स्वर्ग स्थित होते हुए भी मंत्रणा दो ।

६१ हे भोली मुग्धे, इन छोटे से पाड़ों (भैंस के बच्चों) को देखकर गर्व न करो । मुंज के तो चौदह सौ और छिहत्तर हाथी थे, पर वे भी चले गये ।

६२ जिसके घर चार बैल, दो गायें और मीठा बोलने वाली स्त्री हो, उस कुटुम्बी (किसान) को अपने घर पर हाथी बाँधने की क्या जरूरत है ?

६३ मुंज कहता है कि हे मृणालवती ! जो बुद्धि पीछे उत्पन्न होती है, वह अगर पहले ही हो जाय तो कोई विघ्न आकर घेर नहीं सकता ।

६४ सौ चित्त, साठ मन और बत्तीस हृदयों वाली स्त्रियों पर जो मनुष्य विश्वास करते हैं वे दग्ध होते हैं (अथवा, वे मूर्ख हैं) ।

६५ उगे हुए [सूर्य] ने जो प्रताप नहीं बताया तो हे लाखा वह दिन निकृष्ट कहा जाता है । गिनती करने से दस आठ ही ऐसे दिन मिल सकते हैं ।

६६ पति के विरह से कराल बनी हुई किसी स्त्री ने उस बेचारे कौवे को उड़ाया तो बड़ा आश्चर्य मैंने, हे सखि, यह देखा कि वह काक उसके कंठ में लटक रहा है ।

['काक' पर श्लेष । कंठ में काक द्वारा देह की क्षीणता का संकेत]

एहु जम्मु नग्गहं गियउ भडसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खाँ तुरिय न माणिया गोरी गलि न लग्गु ॥ ६७ ॥

भाइ एहु गलि कंठउ भण केहउ पडिहाइ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि सीम निबद्धी काइ ॥ ६८ ॥

माणुसडा दस दस दसा सुणियइ लोय-पसिद्ध ॥
मह कन्तह इक्क ज दसा अवरि ते चोरहि लिद्ध ॥ ६९ ॥

आपणपइ प्रभु होइयइ कइ प्रभु कीजइ हत्थि।
काज करेवा माणुसह तीजउ मागु न अत्थि ॥ ७० ॥

महिवीढह सचराचरह जिणि सिरि दिन्हा पाय।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होउ चिराय ॥ ७१ ॥

हेमचन्द्र (प्राकृत-व्याकरण)

ढोल्ला मइ तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥ ७२ ॥

बिट्टीए मइं भणिय तुहुं मा कुरु वङ्की दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि ॥ ७३ ॥

---

६७ यह जन्म नाहक (व्यर्थ) गया, न भट के सिर पर खड्ग भग्न नहीं किया न तीखे घोड़े पर सवारी की और न गोरी को गले ही लगाया।

६८ भोज, कहो इसके गले में कंठा कैसा प्रतीत होता है। उर में लक्ष्मी और मुंह में सरस्वती की क्या सीमा बाँध दी गयी है।

६९ मनुष्य की दस दशायें लोक में प्रसिद्ध सुनी जाती हैं। परन्तु मेरे पति की एक ही दशा है और तो चोरों ने ले ली।

७० या तो स्वयं अपने ही प्रभु हों या प्रभु को अपने हाथ में करे। काम करने वाले मनुष्य के लिए तीसरा मार्ग नहीं है।

७१ सचराचर महीपीठ के सिर पर जिस सूर्य ने अपने पाद (किरण) डाल उस दिनेश्वर का अस्त हो जाता है। होनी होकर रहती है।

७२ दुल्हा, मैंने तुम्हें बरजा कि दीर्घ मान मत कर। रात नींद में ही चली जायगी और झटपट विहान हो जायगा।

७३ हे बिटिया, मैंने तुमसे कहा था कि दृष्टि बाँकी मत कर। हे पुत्रि वह अनीदार भल्लों की तरह हृदय में प्रविष्ट होकर मारती है।

१

एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मणोसिम जाणिअइ जो नवि वालइ वग्ग ॥ ७४ ॥
अगलिअ नेह निवट्टाहं जोअण लक्खु वि जाउ ।
वरिस सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खह सो ठाउ ॥ ७५ ॥
अङ्गहिं अङ्ग न मिलिउ हलि अहरे अहरु न पत्तु ।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ॥ ७६ ॥
जे महु दिण्णा दिअहडा दइए पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥ ७७ ॥
सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ सम्माणेइ खलाइं ॥ ७८ ॥
गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुंजति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअवि गय लक्खहिं घेप्पन्ति ॥ ७९ ॥
वच्छहे गृण्हइ फलइं जणु कडु-पल्लव वज्जेइ ।
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छंगि धरेइ ॥ ८० ॥
दूरुड्डाणे पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि सिंगहु पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ ॥ ८१ ॥

७४ ये वे घोड़े हैं, यह वह स्थली है, ये वे निशित (पैने) खड्ग हैं। यहाँ यदि [घोड़े की] बाग न मोड़े तो मनुसाई (पौरुष) जानिए।

७५ अगलित स्नेह में निपटे (पके) हुए [लोग] लाखों योजन भी जाएं और सौ वर्ष में भी यदि मिलें तो हे सखि, सौख्य (मैत्री) का स्थान वही रहता है।

७६ हे सखि, अंगों से अंग नहीं मिला; अधर से अधर प्राप्त नहीं हुआ; प्रिय का मुख-कमल देखते देखते यों ही सुरत समाप्त हो गया।

७७ प्रवास करते हुए प्रिय ने मुझे जो दिन दिये थे उन्हें गिनते हुए मेरी अंगुलियाँ नख से जर्जरित हो गयी।

७८ सागर तिनके को [जल के] ऊपर धरता (रखता) है और रत्नों को तल में डाल देता है। स्वामी सुभृत्य को भी छोड़ देता है और खलों का सम्मान करता है।

७९ गुणों से सम्पत्ति नहीं, परन्तु कीर्ति [मिलती है], फल तो लिखे हुए ही भोगते हैं। सिंह का मूल्य एक कौड़ी भी नहीं मिलता, गज लाखों में खरीदे जाते हैं।

८० लोग वृक्ष से फलों को ग्रहण करते हैं और कटु पल्लवों को छोड़ देते हैं; तो भी महान द्रुम सज्जन की तरह उन्हें उत्संग (गोद) में धारण किये रहता है।

८१ ऊंची उड़ान लेकर गिरा हुआ खल अपने ही जनों को मारता है, जैसे गिरि-शृंगों से गिरी हुई शिला अन्य [शिलाओं] को भी चूर करती है।

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु।
तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहहो बलि किज्जउ सुअणस्सु ॥८२॥
तणहँ तइज्जी भंगि नवि तें अवड-यडि वसंति।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जंति ॥ ८३ ॥
दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिं खल-वयणाइं ॥ ८४ ॥
धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि।
हउं कि न जुत्तउ दुहुँ दिसिहिं खण्डइँ दोण्णि करेवि ॥ ८५ ॥
गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ नीसावँन्नु।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥ ८६ ॥
तरुहुं वि वक्कलु फलु मुणिवि परिहणु असणु लहन्ति।
सामिहुं एत्तिउ अग्गलउ आयरु भिच्चु गृहंति ॥ ८७ ॥
अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु वाएं सीअलु तेवँ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥ ८८ ॥

---

८२ जो अपना गुण गोवे (छिपाए) और पराये का [गुण] प्रकट करे कलियुग में दुर्लभ उस सज्जन पर मैं बलि जाऊं।

८३ तृणों की तीसरी भंगी (दशा) नहीं है; वे अवट तट में बसते हैं। या तो लोग उनसे लगकर (उनको पकड़कर) [पार] उतरते हैं या वे उनके साथ स्वयं डूब जाते हैं।

८४ दैव वन में शकुनियों (पक्षियों) के लिए तरुओं के पके फल गढ़ता है। [उनके सेवन का] वह सुख उत्तम है, लेकिन कानों में खलों के वचनों का पड़ना नहीं।

८५ स्वामी के गुरु भार को देखकर धवल [बैल] विसूरता है कि मैं ही दो खण्ड करके दोनों ओर क्यों नहीं जोत दिया जाता।

८६ पहाड़ों से शिलातल [और] तरुओं से फल निःसामान्य (बिना भेद भाव के) प्राप्त होते हैं, तो भी मनुष्यों का घर छोड़कर अरण्य नहीं रुचता।

८७ तरुओं से वल्कल और फल [के रूप में] परिधान और अशन (भोजन) तो मुनि भी पाते हैं, स्वामियों से भृत्य आदर भी पाते हैं—इतनी अधिकता है।

८८ अग्नि से जगत् उष्ण होता है और उसी प्रकार वायु से शीतल। पर जो अग्नि से शीतल हो उसकी उष्णता कैसे हो?

विप्पिअ-आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गि कज्जु ॥ ८९ ॥
जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥ ९० ॥
सयर-सयहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कंतु ।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गय कुम्भइं दारन्तु ॥ ९१ ॥
भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज्जंतु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥ ९२ ॥
वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहस त्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति ॥ ९३ ॥
कमलइं मेल्लवि अलि-उलइं करि गण्डाइं महंति ।
असुलहमेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणंति ॥ ९४ ॥
भग्गउ देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउँ परस्सु ।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु ॥ ९५ ॥

---

८९ प्रिय यद्यपि अप्रिय-कारक है तो भी आज उसे ला। आग से यद्यपि घर जल जाता है तो भी उस आग से काम है। (काम पड़ता ही है)।

९० ज्यों-ज्यों श्यामा (षोडशी) अधिकाधिक लोचनों की वक्रिमा सिखाती है त्यों-त्यों मन्मथ अपने शरों को खरे पत्थर पर तीखा करता है।

९१ जो सैकड़ों युद्धों में बखाना जाता है उस अति मत्त-त्यक्तांकुश गजों के कुम्भस्थलों को विदीर्ण करने वाले मेरे कंत को देखो।

९२ हे बहिन, भला हुआ जो मेरा कंत मारा गया। यदि भागा हुआ घर आता तो मैं वयस्याओं (सखियों) में लजाती।

९३ वायस उड़ाती हुई [प्रिया] ने सहसा प्रिय को देखा; [देखते ही] उसके आधे वलय पृथ्वी पर गिरे और आधे तड़-तड़ टूट गये।
(विरह-जनित कृशता के कारण कुछ चूड़ियाँ ढीली होकर गिर पड़ीं, लेकिन पति को देखने की खुशी में सहसा वह इतनी मोटी हो गई कि बाकी चूड़ियाँ टूट गयीं।)

९४ कमलों को छोड़कर भौंरे हाथियों के गण्डस्थलों की इच्छा करते हैं। जिन्हें दुर्लभ की इच्छा अच्छी लगती है वे दूरी नहीं गिनते।

९५ अपनी सेना को भागते हुए तथा शत्रु की सेना को बढ़ते हुए देखकर मेरे प्रिय के हाथों में करवाल शशि-लेखा की तरह चमक उठती है।

जइ तहे तुट्टउ नेहडा मइँ सहुँ न वि तिल-तार।
तं किहे वङ्केहिं लोअणेहिं जोइज्जउँ सय-वार॥

जहिँ कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिँ तेहइ भड-घड-निवहि कन्तु पयासइ मग्गु॥ ९७॥

हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं।
देक्खउँ हय-विहि कहिँ ठवइ पइँ विणु दुक्ख-सयाइं॥ ९८॥

कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइँ रूसइ जासु।
अत्थिहिँ सत्थिहिँ हत्थिहिँ वि ठाउ वि फेडइ तासु॥ ९९॥

जीविउ कासु न वल्लहउ धणु पुणु कासु न इट्ठु।
दोण्णि वि अवसर निवडिअइं तिण-सम गणइ विसिट्ठु॥ १००॥

एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह-ठाणु।
एहउँ वढ चिन्तन्ताहँ पच्छइ होइ विहाणु॥ १०१॥

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ।
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरए जोइ॥ १०२॥

---

९६ यदि उसका स्नेह टूट गया है और मेरे साथ तिल-तार (दृष्टि मेल) नहीं है, तो मैं बाँके लोचनों द्वारा सैकड़ों बार क्यों देखा जाता हूँ।

९७ जहाँ शर से शर काटा जा रहा है और खड्ग से खड्ग छिन्न हो रहा है, वहाँ भटों की घटा के वैसे समूह में मेरा कन्त मार्ग प्रकाशित करता है।

९८ हे हृदय, तड़ाक कर फट जा। काल क्षेप (देर) करने से क्या [लाभ]? फिर देखूँ कि यह हतविधि (मुआ विधाता) इन सैकड़ों दुःखों को तेरे बिना कहाँ रखता है?

९९ हे सखी, हमारा कन्त निश्चय करके जिससे रुष्ट होता है उसके ठाँव तक को अर्थों, शस्त्रों, और हाथों से भी तोड़-फोड़ देता है।

१०० जीवन किसे प्यारा नहीं? धन किसे इष्ट नहीं? [किन्तु] अवसर आ पड़ने पर विशिष्ट [पुरुष] दोनों को ही तृण-सम गिनता है।

१०१ 'यह कुमारी है, यह नर है, यह मनोरथों का स्थान है।' ऐसे सोचते-सोचते अन्त में मूर्खों का विहान हो जाता है।

१०२ यदि बड़े घरों को पूछते हो तो बड़े घर वे रहे। किन्तु विह्वलित (दुःखी) जनों का उद्धार करने वाले [मेरे] कन्त को [इस] कुटीर में देखो।

आयइँ लाअहा लोअणइं जाईं सरइँ न मंति।
अप्पिए दिट्ठइ मउलिअहिं पिए दिट्ठइ विहसंति॥ १०३॥

साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डुत्तणहो तणेण।
वड्डुप्पणु परि पाविअइ हत्थिं मोक्कलडेण॥ १०४॥

सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण।
जिव जिवँ वड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिव नवहिँ सिरेण॥ १०५॥

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह।
बिहिं वि पयारेँहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह॥ १०६॥

भमर न रुणझुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ।
सा मालइ देसंतरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ॥ १०७॥

पइ मइ बेहिं वि रण-गयहिं को जयसिरि तक्केइ।
केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को थक्केइ॥ १०८॥

पइ मल्लन्तिहे महु मरणु मइँ मेल्लन्तहो तुज्झु।
सारस जसु जो वेग्गला सो वि कृदन्तहो सज्झु॥ १०९॥

---

१०३ लोगों के ये लोचन जाति-स्मर (पूर्व जन्म की याद करने वाले) हैं, इसमें भ्रान्ति नहीं; क्योंकि ये अप्रिय को देखकर मुकुलित (बंद) हो जाते हैं और प्रिय को देखकर विहसने लगते हैं।

१०४ सभी लोग बड़प्पन के लिए तड़फड़ाते हैं, पर बड़प्पन मुक्त हाथ (औदार्य) से मिलता है।

१०५ कहो, किस प्रयोजन से सुपुरुष कंगु (धान विशेष) का अनुसरण करते हैं? ज्यों-ज्यों वे बड़प्पन पाते हैं त्यों-त्यों सिर से झुकते जाते हैं।

१०६ यदि वह सनेहा है तो मर गयी; अथवा यदि जीवित है तो निःस्नेह है। धन्या दोनों ही प्रकार से गयी, हे खल मेघ, अब क्यों गरजते हो?

१०७ हे भ्रमर, अरण्य में रुनझुन मत कर और उस ओर देखकर मत रो। वह मालती देशान्तरित हो गयी जिसके वियोग में तू मर रहा है।

१०८ तेरे और मेरे दोनों के रण में जाने पर जयश्री को कौन ताक सकता है? यम की घरनी को केशों से पकड़कर, कहो, कौन सुख से रह सकता है?

१०९ तुझे छोड़ते हुये मेरा मरण है और मुझे छोड़ते हुये तेरा। सारस के समान जो दूर रहेगा वह कृतान्त (यम) का साध्य होगा।

तुम्हेहिं अम्हेहिं जं किअउं दिट्ठउं बहुअ-जणेण ।
तं तेवड्डउ समर-भरु निज्जिउ एक्क-खणेण ॥ ११० ॥

[illegible] सम्पइ तुज्झ मदि तुध अणुत्तर खन्ति ।
जइ उप्पत्तिं अन्न जण महिमण्डलि सिक्खन्ति ॥ १११ ॥

[illegible] ।
अवस न सुअहिँ सुहच्छिअहिँ जिवँ अम्हइँ तिवँ ते वि ॥ ११२ ॥

महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झङ्खहि आलु ।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु ॥ ११३ ॥

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु प्रिएण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥ ११४ ॥

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुँ वि न पूरिअ आस ॥ ११५ ॥

बप्पीहा कइँ बोल्लिअण निग्घिण वार इ वार ।
सायरि भरिअइ विमल-जलि लहहि न एक्कइ धार ॥ ११६ ॥

---

११० तुमने हमने जो किया उसे बहुत जनों ने देखा। वह उतना बड़ा समर एक ही क्षण में जीत लिया गया।

१११ नाथ, तुम्हारी गुण-सम्पत्ति, तुम्हारी मति और तुम्हारी अनुत्तर (क्षमाभाव) क्षमा को महिमण्डल में जन्म लेकर अन्य जन सीख लेते।

११२ अपनापन लगाकर जो कोई पथिक पराये की तरह चले गये वे भी अवश्य ही सुख-शैय्या पर न सोते होंगे, जैसे हम हैं वैसे वे भी।

११३ मेरे कन्त के दो दोष हैं, हे सखी झूठ मत बोल। दान देते हुये केवल मैं उबरी (बची) हूँ और जूझते हुये करवाल।

११४ हे सखी, यदि शत्रु भागे हैं तो मेरे प्रिय से, और यदि हमारे [लोग] भागे हैं तो उसके मारे जाने से।

११५ हे पपीहा, पी पी बोलकर हताश कितना रोएगा? तुम्हारी जल में (जल के विषय में) और मेरी वल्लभ में (वल्लभ के विषय में)—दोनों की आशा पूरी न होगी।

११[illegible] हे पपीहा! हे निर्दय! बारंबार बोलने से क्या [लाभ]? विमल जल से सागर के भरने पर भी तू एक भी धार न पायेगा।

आयहिं अम्महि अवहिं वि गोरि सु दिज्जहि कंतु ।
गय मत्तहँ चत्तंकुसह जो अभिडइ हसंतु ॥ ११७ ॥
बलि अब्भत्थणि महु महणु लहुईहूआ सोइ ।
जइ इच्छहु वड्डत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ ॥ ११८ ॥
विहि विणडउ पीडंतु गह म धणि करहि विसाउ ।
संपइ कड्डउ वेस जिव छुडु अग्घइ ववसाउ ॥ ११९ ॥
खग्ग विसाहिउ जहि लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं ।
रण दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं ॥ १२० ॥
कुंजर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥ १२१ ॥
भमरा एत्थु वि लिम्बडइ के वि दियहडा विलम्बु ।
घण-पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु ॥ १२२ ॥
प्रिय एम्वहि करे सेल्लु करि छड्डहि तुहुं करवालु ।
जं कावालिय बप्पुडा लहिं अभग्गु कवालु ॥ १२३ ॥
दिअहा जंति झडप्पडहिं पडहिं मनोरह पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥ १२४ ॥

---

११७ हे गोरी, इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी वह कंत दीजिये जो मतवाले और त्यक्तांकुश (निरंकुश) गजों से हँसता हुआ आ भिड़े ।

११८ बलि की अभ्यर्थना करने से वे मधु मथन (विष्णु) भी लघु हो गये । यदि बड़प्पन चाहते हो तो दो, किसी से माँगो मत ।

११९ विधि बिगड़ जाय, ग्रह पीड़ा दे, [फिर भी] हे धन्या, विषाद मत कर । यदि व्यवसाय मिल जाय तो संपत्ति को वेश की तरह खींच लूँ ।

१२० हे प्रिय, जहाँ खड्ग का व्यवसाय मिले उसी देश में चलें । रण-दुर्भिक्ष में हम भग्न (क्षीण) हो गये हैं, बिना युद्ध के नहीं सँभलेंगे (स्वस्थ होंगे) ।

१२१ हे कुंजर, सल्लकियों को मत सुमिर, और लम्बी साँस मत छोड़, विधि-वश जो कवल प्राप्त हैं उन्हें चर और मान मत छोड़ ।

१२२ हे भौंरा, यहीं नीम पर कुछ दिन विरम जब तक घने पत्तों वाला छाया-बहुल कदंब नहीं फूलता ।

१२३ हे प्रिय, अब हाथ में सेल (भाला) धारण कर, करवाल छोड़ दे जिससे बापुरे कापालिक अभग्न कपाल (खप्पर) लें ।

१२४ दिन झटपट चले जाते हैं, मनोरथ पीछे पड़े (रह) जाते हैं । [इसलिए] जो है, उसी को मानिये, 'होगा' यह करते हुए मत रहिए ।

इत्तउँ ब्रोप्पिणु सउणि ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि।
तो हउँ जाणउँ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥ १२५ ॥

जिव तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम का वि लहन्तु ॥ १२६ ॥

अब्भडवंचिउ बे पयइँ पेम्मु निअत्तइ जाव।
सव्वासण-रिउ-संभवहो कर परिअत्ता ताव ॥ १२७ ॥

हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु।
वासा-रत्ति-पवासुअहं विसमा संकडु एहु ॥ १२८ ॥

पुत्ते जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥ १२९ ॥

तं तत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु।
तिसहे निवारणु पलु वि न वि पर धुट्ठुअइ असारु ॥ १३० ॥

जं दिट्ठउँ सोम-ग्गहणु असइहिं हसिउ निसंकु।
पिअ-माणुस-विच्छोहगरु गिलि गिलि राहु मयंकु ॥ १३१ ॥

---

१२५ इतना बोल कर शकुनि ठहर गया; पुनः दुःशासन बोलकर रह गया, "तब मैं जानूँ कि यह हरि है यदि मेरे आगे से बोलकर ।"

१२६ जैसे तैसे तीखी किरणें लेकर यदि शशि छोला जाता तो कहीं गोरी के मुह कमल का कुछ सादृश्य पाता।

१२७ दो पग साथ चलकर प्रिय जब तक लौटता है (अथवा प्रेम निबाहता है।) तब तक सर्वाशन (अग्नि) के रिपु (समुद्र) के पुत्र (चन्द्रमा) की किरणें फैल जाती हैं।

१२८ हृदय में गोरी खुड़कती है, गगन में मेघ घुड़कता है, वर्षा की रात में प्रवासियों के लिए यह विषम संकट है।

१२९ पुत्र के जनमने से क्या लाभ और [उसके] मरने से क्या हानि यदि बाप की भूमि अन्य से चाँप ली जाय।

१३० सागर में वह इतना जल है और उसका उतना विस्तार है, पर [फिर भी] तृषा का निवारण जरा भी नहीं होता, केवल निस्सार धू धू करता है।

१३१ जब सोम ग्रहण देखा तो असतियाँ (कुलटायें) निश्शंक [होकर] हँस पड़ीं [और कहने लगीं] कि प्रिय जनों का विछोह करने वाले को हे राहु, निगल निगल।

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिँ चिंतिज्जइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥ १३२ ॥
सवधु करेप्पिणु कधिदु मइ तसु पर सभलउँ जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहडि न य पम्हट्ठउ धम्मु ॥ १३३ ॥
जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु ।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगें पइसीसु ॥ १३४ ॥
उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कंचण-कंति-पयासु ।
गोरी-वयण-विणिज्जिअउ नं सेवइ वण-वासु ॥ १३५ ॥
व्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइ-सत्थु पमाणु ।
मायहँ चलण नवंताहं दिवि-दिवि गंगा-ण्हाणु ॥ १३६ ॥
केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ ।
नव-वहु दंसण-लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥ १३७ ॥
ओ गोरी-मुह निज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु वि जो परिहविय-तणु सो किवँ भवइँ निसंकु ॥ १३८ ॥

---

१३२ री अम्मा ! स्वस्थ अवस्था-वाली सुख से मान का चिन्तन करें , प्रिय के दिखाई पड़ने पर हड़बड़ी में अपान (अपनापन) कौन चेतता है ।

१३३ शपथ करके मैंने कहा कि केवल उसी का जन्म सफल है जिसका न तो त्याग न शौर्य और न धर्म नष्ट हुआ है ।

१३४ यदि किसी प्रकार प्रिय को पा लूंगी तो अकृत (अपूर्व) कौतुक करूंगी । पानी नये शराव (पुरवा) में जैसे [प्रविष्ट हो जाता है] मैं भी सर्वांग से प्रवेश कर जाऊंगी ।

१३५ ओ देख ! कंचन की कांति का-सा प्रकाश वाला कर्णिकार प्रफुल्लित हो गया । गोरी के वदन से विनिर्जित (पराजित) होकर मानों वनवास सेवन कर रहा है ।

१३६ व्यास महर्षि यह कहते हैं कि यदि श्रुति-शास्त्र प्रमाण है तो माताओं के चरणों में नमन करने वालों का दिन दिन गंगा स्नान है ।

१३७ दुष्ट दिन कैसे समाप्त हो ? रजनी कैसे शीघ्र हो ! नव वधू के दर्शन की लालसा वाला वह (नायक) ये मनोरथ वहन करता है ।

१३८ ओ देख ! गोरी के मुंह से पराजित होकर मयंक बादल में छुप गया । और भी जो कोई [इस प्रकार] पराभूत-तनु वाला है वह निश्शंक कैसे भ्रमण कर सकता है ।

बिम्बाहरि तणु रयण-वणु किह ठिउ सिरि आणन्द।
निरुवम-रसु पिएं पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द ॥ १३९ ॥
भण सहि निहुअउ तेवँ मइँ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेव न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥ १४० ॥
मइँ भणिअउ बलिराय तुहुँ केहउ मग्गण एहु।
जेहु तेहु न वि होइ वढ सइँ नारायणु एहु ॥ १४१ ॥
जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु।
जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥ १४२ ॥
जाम न निवडइ कुम्भ-यडि सीह-चवेड-चडक्क।
ताम समत्तहँ मयगलहँ पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥ १४३ ॥
तिलहँ तिलत्तणु ताउँ पर जाउ न नेह गलन्ति।
नेहि पणट्ठइ ते ज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होंति ॥ १४४ ॥
जामहिं विसमी कज्ज-गइ जीवहं मज्झे एइ।
तामहिं अच्छउ इयरु जणु सुअणु वि अन्तरु देइ ॥ १४५ ॥

---

१३९ तन्वी के बिंबाधर पर रदन-व्रण (दंत क्षत) की आनंदश्री कैसी स्थित है! निरुपम रस पीकर प्रिय ने मानो शेष पर मुद्रा दे दी है (मुहर लगा दी है)।

१४० हे सखी, यदि प्रिय सदोष दिखाई पड़ा है तो मुझसे निभृत (एकांत) में इस प्रकार कहो कि उसका पक्षपाती मेरा मन न जान सके।

१४१ हे बलिराज, मैंने तुमसे कहा था कि यह कैसा मार्गण है? रे मूढ़, यह ऐसा-वैसा नहीं है यह स्वयं नारायण है।
शुक्राचार्य का कथन।

१४२ यदि प्रजापति कहीं से सीख लेकर उसे गढ़े तो यहाँ वहाँ (कहीं भी) इस जगत में उसके सरीखा कहो।

१४३ जब तक कुंभ-तट पर सिंह के चपेट की चटाक (आघात) नहीं पड़ती, तभी तक समस्त मयगलों (मतवाले गजों) के पग पग पर ढक्का (ढोल) बजता है।

१४४ तिलों का तिलत्व तभी तक है जब तक स्नेह नहीं निकल जाता। स्नेह के नष्ट हो जाने पर वे ही तिल तिल से हटकर खल (खली और दुष्ट) हो जाते हैं।
श्लिष्ट अन्योक्ति।

१४५ जब विषम कार्य-गति जीवों के मध्य में आती है तो इतर जन तो [दूर] रहें, स्वजन भी अन्तर देते हैं (बचते हैं)।

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहं।
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गञ्जिउ जाहं ॥ १४६ ॥
वम्भ ते विरला के वि नर जे सव्वंग छइल्ल।
जे वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते वइल्ल ॥ १४७ ॥
प्राइव मुणिहँ वि भन्तडी ते मणिअडा गणंति।
अखइ निरामइ परम-पइ अज्ज वि लउ न लहंति ॥ १४८ ॥
एसी पिउ रूससु हउँ रुट्ठी महँ अणुणेइ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइ दुक्करु दइउ करेइ ॥ १४९ ॥
महु कन्तहो गुट्ठ ट्ठिअहो कउ झुम्पडा बलन्ति।
अह रिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति ॥ १५० ॥
पिय-सङ्गमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व।
महँ बिन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥ १५१ ॥
कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु।
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख-समाणु ॥ १५२ ॥

---

१४६ वे मूंग व्यय गये जो उनको परोसे गये जिनके परस्पर (एक दूसरे का) जोहते हुए स्वामी पराजित हुआ।
जोअन्ताहं = युध्यमानानां (वैद्य)।

१४७ हे ब्रह्मन्, वे नर कोई विरले ही होते हैं जो सर्वांग छैल हों। जो बाँके हैं, वे वंचकतर होते हैं और जो ऋजुक (सरल) हैं वे बैल होते हैं।

१४८ प्राय मुनियों को भी भ्रान्ति हो जाती है, वे मनिया गिनते रहते हैं। अक्षय निरामय परम पद में आज भी वे लौ नहीं लगाते (लय नहीं होते)

१४९ प्रिय आएगा, मैं रूठूंगी, मुझ रूठी को वह अनुनय करेगा (मानएगा)। प्राय ये मनोरथ दुष्कर (कठोर) दयित (प्रिय) करवाता है।

१५० मेरे कंत के गोठ में रहते हुए झोपड़े कैसे जलते हैं ? या तो वह रिपु के रुधिर से बुझा देता है या अपने [रुधिर] से, इसमें भ्रान्ति नहीं है।

१५१ प्रिय के संगम में नींद कहाँ ! प्रिय के परोक्ष में भी (नींद) कैसी ! मैं दोनों ही प्रकार विनष्ट हुई, नींद न यों न त्यों।

१५२ कंत जो सिंह से उपमित हुआ उससे मेरा मान खंडित हुआ। सिंह नीरक्षक (रक्षक रहित) गजों को मारता है [जब कि] प्रिय पदरक्षकों-सहित [गज को]।

चञ्चलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइँ।
होसहिँ दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिस सयाइँ ॥ १५३ ॥

लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खल मेह म गज्जु।
बालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥१५४॥

विहवि पणट्ठइ वङ्कुडउ रिद्धिहि जण-सामन्नु।
किं पि मणाउ महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥१५५॥

जाइज्जइ तहिँ देसडइ लब्भइ पिअहो पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ अहवा तं जि निवाणु ॥१५६॥

जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिँ सुहय-जणस्सु ॥१५७॥

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउ कइ पय देइ।
हिअइ तिरिच्छी हउँ जि पर पिउ डम्बरइ करेइ ॥१५८॥

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिँ राह-पओहरहँ जं भावइ तं होउ ॥१५९॥

---

१५३ जीवित (प्राण) चञ्चल है, मरण ध्रुव है। हे प्रिय रूठिए क्यों? इतना (रूठने का) दिन तो सौ दिव्य (देवताओं के) वर्षों का होगा।

१५४ लोन पानी से विला रहा है, अरे खल मेघ मत गरज। जला हुआ वह झोंपड़ा गल रहा है और गोरी आज तीम (भींज) रही है।

१५५ विभव के नष्ट होने पर बाँकुरा और ऋद्धि में जन-सामान्य [की तरह] मेरे प्रिय का अनुहार कुछ थोड़ा सा शशि करता है अन्य नहीं।

१५६ उस देश में जाइए जहाँ प्रिय का प्रमाण (पता) मिले। यदि आवे तो आनिए (लाइए) अथवा वह [मरण] निर्वाण (मृत्यु) हो।

१५७ जो प्रवास करते हुए के साथ नहीं गयी और न उसके वियोग में मुई (मरी) ही, तो सुहृज्जन को सन्देश देती हुई लजाती है।

१५८ जाओ (जाने दो); जाते हुए को मत पल्लवो (रोको)। देखूँ कितने पग देता है! हृदय में तो मैं ही तिरछी होकर पड़ी हूँ प्रिय केवल [जाने का] आडम्बर कर रहा है।

१५९ हरि को प्राङ्गण में नचाया, लोगों को विस्मय में डाल दिया। अब राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो।

सव्व-सलोणी गोरडी नवखी क वि विस-गंठि ।
भडु पच्चलिश्रो सो मरइ जासु न लग्गइ कंठि ॥१६०॥

मइँ वुत्तउँ तुहुँ धुरु धरहि कसरेंहि विगुत्ताइँ ।
पइँ विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइँ ॥१६१॥

एक्कु कइग्रह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि ।
मइँ मित्तडा प्रमाणिश्रउ पइँ जेहउ खलु नाहिं ॥१६२॥

जिव सुपुरिस तिवँ घंघलइँ जिव नइ तिवँ वलणाइँ ।
जिव डोंगर तिवँ कोट्टरइँ हिश्रा विसूरहि काइँ ॥१६३॥

जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउ तडि घल्लंति ।
तहँ संखहँ विट्टालु पर फुक्किज्जन्त भमंति ॥१६४॥

दिवेहिं विढत्तउँ खाहि वढ संचि म एक्कु वि द्रम्मु ।
को वि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥१६५॥

विहवि कस्सु थिरत्तणउ जोव्वणि कस्सु मरट्टु ।
सो लेखडउ पठाविश्रइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥ १६६ ॥

---

१६० सर्व सलोनी गोरी कोई नोखी विष की गाँठ है। भट प्रत्युत (बल्कि) वह मरता है जिसके कंठ में (वह) नहीं लगती।

१६१ मैंने कहा तू धुरी धर; कसर (गरियार) बैलों से हम तंग हैं। तुम्हारे बिना हे धवल, भार नहीं चढ़ता; अब उदास क्यों हो ?

१६२ एक तो कभी भी आता नहीं, दूसरे [आता है तो] तुरन्त चला जाता है। हे मित्र, मैंने प्रमाणित किया कि तुम्हारे जैसा खल नहीं है।

१६३ जैसे सुपुरुष वैसे ठगवालु जैसी नदियाँ वैसे मोड़, जैसे डूंगर (पहाड़) वैसे कोटर। हे हृदय, विसूरते क्यों हो ?

१६४ जो रत्नों की निधि (सागर) को छोड़ कर अपने आपको तट पर फेंक देते हैं उन शंखों का संसर्ग में पड़ कर फूँके जाते हुए भटकते हैं।

१६५ हे मूर्ख, दिन दिन कमाये [धन] को खा एक भी दाम संचित मत कर। कोई भी ऐसा भय (सरुच) आ पड़ेगा जिससे जन्म (जीवन) ही समाप्त हो जायगा।

१६६ विभव में किसके स्थिरता है ! यौवन में किसके मरागपन (गर्व) है ! वह लेख पठाया (भेजा) जाय जो निचाट (प्रगाढ़ भाव से) लगे।

कहि ससहरु कहि मयरहरु कहिँ वरिहिणु कहि मेहु ।
दूर ठिआहँ वि सज्जणहँ होइ असड्ढलु नेहु ॥ १६७ ॥
कुंजरु अन्नहँ तरु-अरहँ कुड्डेण घल्लइ हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहि सल्लइहिँ जइ पुच्छह परमत्थु ॥ १६८ ॥
सरिहिँ न सरेहि न सरवरेहि न वि उज्जाण-वणेहिं ।
देस रवण्णा होंति वढ निवसन्तेहि सुअणेहिं ॥ १६९ ॥
हियडा पइँ एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सय-वार ।
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउँ भण्डय ढक्करि-सार ॥ १७० ॥
चलेहिँ चलन्तेहि लोअणेहिँ जे तइँ दिट्ठा बालि ।
तहिँ मयरद्धय-दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥ १७१ ॥
गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइँ हरिणाइँ ।
जसु केरएँ हुंकारडएँ मुहहुँ पडन्ति तृणाइँ ॥ १७२ ॥
सत्थावत्थहँ आलवणु साहु वि लोउ करेइ ।
आदन्नहँ मम्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥ १७३ ॥
जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्ध-सहाव ।
लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ॥ १७४ ॥

---

१६७ कहाँ शशधर (चन्द्रमा) और कहाँ मकरधर (समुद्र) ! कहाँ बर्हिन् (मोर) और कहाँ मेघ ! दूर रहने पर भी सज्जनों का असाधारण स्नेह होता है ।

१६८ कुंजर अन्य तरुवरों में कौतुक से हाथ (सूँड़) डालता है, यदि सच पूछो तो मन एक सल्लकी में ही है ।

१६९ हे मूढ़,, न सरिताओं से, न सरों से, न सरोवरों से, और न उद्यानों और वनों से भी किन्तु बसते हुए सज्जनों से देश रमणीय होते हैं ।

१७० हे हृदय, तूने मेरे आगे सकड़ों बार यह कहा था कि प्रिय के प्रवास करते समय मैं फट जाऊँगा । अरे अद्भुत कठोर ! अरे भण्ड !

१७१ हे बाले, जिनको तूने चलायमान चवल लोचनों से देखा, उन पर समय के न पूरे होने पर ही (पहले ही) मकरध्वज का आक्रमण हो जाता है ।

१७२ वह केसरी गया हे हरिणो, निश्चिन्त होकर जल पियो, जिसके हुंकार [मात्र] से मुहों से तृण गिर पड़ते हैं ।

१७३ स्वस्थ अवस्था वालों से आलपन (सलाप) सभी लोग करते हैं । लेकिन आर्त जनों को मा भयी' (अभय दान) जो सज्जन है वही देता है ।

१७४ हे मुग्ध स्वभाव वाले हृदय, जो जो देखा उसी पर यदि रच गया (अनुरक्त हो गया) तो फूटने वाले लोहे के समान घना ताप सहना पड़ेगा ।

मइँ जाणिउँ बुड्डीसु हउँ पेम्म-द्रहि हुहुरु त्ति ।
नवरि अचिन्तिय सपडिय विप्पिय-नाव झड त्ति ॥ १७५ ॥
खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुंटेहिं ।
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएँ दिट्ठे नयणेहिं ॥१७६॥
अज्ज वि नाहु महुज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ ।
ताउ जि विरहु गवक्खेहिं मक्कड-घुग्घिउ देइ ॥१७७॥
सिरि जर-खडी लोअडी गलि मणियडा न वीस ।
तो वि गोट्ठडा करायिआ मुद्धए उट्ठ-बईस ॥१७८॥
अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ।
घइ विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥१७९॥
ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहि देसि ।
हउ झिज्जउँ तउ केहि पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि ॥१८०॥
सुमिरिज्जइ त वल्लहउँ ज वीसरइ मणाउ ।
जहि पुणु सुमरणु जाउ गउ तहो नेहहो कइ नाउ ॥१८१॥
एक्कसि सील-कलंकिअह देज्जहि पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥१८२॥

१७५ मैंने जाना था कि प्रेम के हृद (सरोवर) में मैं बुड (डूब) जाऊंगी लेकिन विप्रिय (विरह) की नाव झट से अचिंतित [रूप से] आ पड़ी ।

१७६ कचर कचर खाया नहीं जाता, घूंट घूंट पिया नहीं जाता । ऐसी ही सुख की स्थिति होती है प्रिय के नयनों से दीख जाने पर ।

१७७ आज भी नाथ मेरे ही घर में सिद्धार्थों (तथागतों) की वंदना कर रहे हैं तिस पर भी विरह गवाक्षों से मर्कट घुड़की (बंदर घुड़की) दे रहा है ।

१७८ सिर पर जरा क्षीण खुपरी और गल में बीस मनिया भी नहीं है, तो भी गोठ में मुग्धा ने [बैठे लोगों को] उट्ठ-बईस (उठक बैठक) करा दिया ।

१७९ री अम्मा, पछतावा हो रहा है कि विकाल वेला (सन्ध्या समय) प्रिय से कलह कर लिया, विनाश के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है ।

१८० हे ढूलहा, ऐसा परिहास, अरे कह, किस देश में होता है? हे प्रिय, मैं तो तुम्हारे लिए छीज होती हूँ और तुम अन्य के लिए ।

१८१ सुमिरिए उस वल्लभ को जो थोड़ा सा भूल जाय । पर जिसका सुमिरन (स्मरण) चला गया उसके स्नेह का क्या नाम !

१८२ एक बार शील कलंकित करने वालों को प्रायश्चित दिये जाते हैं और जो अनुदिन खण्डित करता है उसके प्रायश्चित से क्या !

सामि-पसाउ सलज्जु पिउ सीमा-संधिहिं वासु ।
पेक्खिवि बाहु-बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१८३॥
पहिया दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त ।
अंसूसासेहिं कंचुआ तितुव्वाण करन्त ॥१८४॥
पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठि ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआ वि न दिट्ठ ॥१८५॥
एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसंठुल धाइ ।
पिअ-पब्भट्ठ व गोरडी निच्चल कहिं वि न ठाइ ॥१८६॥
देसुच्चाडणु सिहि-कढणु घण-कुट्टणु जं लोइ ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउं होइ ॥१८७॥
हियडा जइ वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडा* ।
अम्हाहिं बे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं ॥१८८॥
रक्खइ सा विस-हारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ ।
पडिबिम्बिअ-मुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ ॥१८९॥

---

१८३ स्वामी का प्रसाद (कृपा) है, प्रिय सलज्ज (सकोची) है और [राज्यों की] सीमाओं के सन्धि-स्थान में निवास है, इसलिए [प्रिय के] बाहुबल को देख कर धन्या निःश्वास छोड़ती है।

१८४ "पथिक, गोरी देखी ?" "देखी, मार्ग जोहती हुई और आँसू साँसों से कंचुक को गीला और सूखा करती हुई।"

१८५ प्रिय आया, [यह] बात सुनी, ध्वनि कान में पड़ी। उसके नष्ट होते (भागते) विरह की धूल भी न दिखी।

१८६ यहाँ वहाँ घर द्वार पर लक्ष्मी अस्थिर होकर दौड़ रही है, प्रिय से प्रभ्रष्ट (वियुक्त) गोरी की तरह कहीं भी निश्चल नहीं रहती।

१८७ [अपने] देश से उच्चाटन (उखाड़ा जाना) शिखि (आग) में उबाला जाना, घन से कूटा जाना [आदि] जो लोक में होता है वह सब अति [अनु] रक्त मजीठ से ही सहा जाता है।

१८८ हे हृदय, यदि वैरी घने (बहुत) हैं तो क्या अभ्र (बादल) पर चढ़ जाऊँ ? हमारे भी दो हाथ हैं, मार कर [तो] मरेंगे।

१८९ वह पनिहारिन [उन] दोनों हाथों को चूमकर जीव रखती है (जी रही है), जिनसे मूँज प्रतिबिम्बित जल प्रिय को पिलाया था।

मइँ जाणिउँ बुड्डीसु हउँ पेम्म-द्रहि हुहुरु त्ति ।
नवरि अचिन्तिय सपडिय विप्पिय-नाव झड त्ति ॥ १७५ ॥
खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुंटेहिं ।
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिए दिट्ठे नयणेहिं ॥१७६॥
अज्ज वि नाहु महुज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ ।
ताउँ जि विरहु गवक्खेहिं मक्कड-घुग्घिउ देइ ॥१७७॥
सिरि जर-खण्डी लोअडी गलि मणियडा न वीस ।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-बइस ॥१७८॥
अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ।
घई विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥१७९॥
ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहि देसि ।
हउँ झिज्जउ तउ केहिँ पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि ॥१८०॥
सुमिरिज्जइ तं वल्लहउँ जं वीसरइ मणाउ ।
जहि पुणु सुमरणु जाउ गउ तहो नेहहो कइ नाउ ॥१८१॥
एक्कसि सील-कलंकिअहं देज्जहि पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥१८२॥

१७५ मैंने जाना था कि प्रेम के ह्रद (सरोवर) में मैं बूड (डूब) जाऊंगी लेकिन विप्रिय (विरह) की नाव झट से अचिंतित [रूप से] आ पड़ी ।

१७६ कचर कचर खाया नहीं जाता, घूंट घूट पिया नहीं जाता । ऐसी ही सुख की स्थिति होती है प्रिय के नयनों से दीख जाने पर ।

१७७ आज भी नाथ मेरे ही घर में सिद्धार्थों (तीर्थंकरों) की वन्दना कर रहे हैं तिस पर भी विरह गवाक्षों से मर्कट घुड़की (बंदर घुड़की) दे रहा है ।

१७८ सिर पर जरा खीण लुगरी और गल में बीस मनिया भी नहीं है, तो भी गोठ में मुग्धा ने [बड़े लोगों को] उट्ठ-बईस (उठक बैठक) करा दिया ।

१७९ री अम्मा, पछतावा हो रहा है कि विकाल बेला (सन्ध्या समय) प्रिय से कलह कर लिया, विनाश के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है ।

१८० हे ढूल्हा, ऐसा परिहास, अरे कह, किस देश में होता है ? हे प्रिय मैं तो तुम्हारे लिए छीण होती हूँ और तुम अन्य के लिए ।

१८१ सुमिरिए उस वल्लभ को जो थोड़ा सा भूल जाय । पर जिसका सुमिरन (स्मरण) चला गया उसके स्नेह का क्या नाम ?

१८२ एक बार शील कलंकित करने वालों को प्रायश्चित्त दिये जाते हैं और जो अनुदिन खण्डित करता है उसके प्रायश्चित्त से क्या ?

सामि-पसाउ सलज्जु पिउ सीमा-संधिहिं वासु।
पेक्खिवि बाहु-बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१८३॥
पहिया दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
अंसूसासेहिं कंचुआ तितुव्वाण करंत ॥१८४॥
पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठि।
तहो विरहहो नासंतअहो धूलडिआवि न दिट्ठ ॥१८५॥
एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसंठुल धाइ।
पिअ-पब्भट्ठ व गोरडी निच्चल कहि वि न ठाइ ॥१८६॥
देसुच्चाडणु सिहि-कढणु घण-कुट्टणु जं लोइ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउँ होइ ॥१८७॥
हियडा जइ वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडाहुं।
अम्हाहिं बे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं ॥ १८८ ॥
रक्खइ सा विस-हारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ।
पडिबिम्बिअ-मुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ ॥ १८९ ॥

---

१८३ स्वामी का प्रसाद (कृपा) है, प्रिय सलज्ज (सकोची) है, दो [राज्यों की] सीमाओं के सन्धि-स्थल में निवास है, इसलिए [प्रिय के] बाहुबल को देख कर धन्या निश्वास छोड़ती है।

१८४ "पथिक, गोरी देखी?" "देखी, मार्ग जोहती हुई और आँसू सांसों से कंचुक को गीला और सूखा करती हुई।"

१८५ प्रिय आया, [यह] बात सुनी, ध्वनि कान में पड़ी। उसके नष्ट होते (भागते) विरह की धूल भी न दिखी।

१८६ यहाँ वहाँ घर द्वार पर लक्ष्मी अस्थिर होकर दौड़ रही है। प्रिय से प्रभ्रष्ट (वियुक्त) नारी की तरह कहीं भी निश्चल नहीं रहती।

१८७ [अपने] देश से उच्चाटन (उखाड़ा जाना), शिखि (आग) में उबाला जाना, घन से कूटा जाना [आदि] जो लोक में होता है वह सब अति [अनु] रक्त मजीठ का ही सहा जाना है।

१८८ हे हृदय, यदि वैरी घने (बहुत) हैं तो क्या अभ्र (बादल) पर चढ़ जाऊँ? हमारे भी दो हाथ हैं, मार कर [तो] मरेंगे।

१८९ वह पनिहारिन [उन] दोनों हाथों को चूमकर जीव रखती है (जी रही है), जिनसे मूंज प्रतिबिम्बित जल प्रिय को पिलाया था।

बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवँइ को दोसु ।
हिअय ठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुंज सरोसु ॥ १९०

जेप्पि असेसु कसाय बलु देप्पिणु अभय जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहि झाएविणु तत्तस्सु ॥ १९१

देवं दुक्करु निअय धणु करण न तउ पडिहाइ ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणह मणु पर भुञ्जणहिँ न जाइ ॥ १९२

जेप्पि चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि ।
विणु सन्तें तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणे वि ॥ १९३

गम्पिणु वाणारसिहिँ नर अह उज्जेणिहि गम्पि ।
मुआ परावहिँ परम-पदु दिव्वंतरइं म जम्पि ॥ १९४

रवि अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खण्डु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥ १९५

वलयावलि निवडण भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लह विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥ १९६

---

१९० बाँह छोड़कर तू जाता है तो वैसा ही हो, क्या दोष है । हृदय में स्थि[त]
(हृदय से) यदि निकल जाओ तो हे मुंज, सरोष जानूँ ।

१९१ अशेष (संपूर्ण) कषायों (पापों) की सेना को जीतकर, जगत [को अभय]
[दान] देकर, महान व्रत लेकर और तत्व का ध्यान कर शिव [प्राप्त]
करते हैं ।

१९२ अपना धन देना दुष्कर (कठिन) है और तप करना नहीं भाता । [यों ही सुख]
भोगने का मन [करता] है पर भोगा नहीं जाता ।

१९३ सकल धरा को जीतना [और फिर जीतकर] त्यागना, तप को [ले-]
[कर] पालन करना —बिना शांति तीर्थंकर (तीर्थंकर) के [भुवन]
में कौन [कर] सकता है ।

१९४ वाराणसी में जाकर अथवा उज्जयिनी में जाकर लोग मर कर परम [पद पाते]
हैं, दिव्यान्तरों (अन्य तीर्थों) को मत कहो ।

१९५ रवि के अस्त होने पर समाकुल चक्रवाक ने मृणाल के खण्ड को क[ण्ठ में रखा]
पर छिन्न नहीं किया मानो [निकलते हुए] जीव के लिए अर्गला [दी हो ।]

१९६ [दुर्बलता के कारण] वलयावली के गिरने के भय से धन्या ऊर्ध्व[बाहु]
(भुजा ऊपर उठाकर) जा रही है, वल्लभ के विरह के महा दह [की थाह खोज रही हो ।]

पक्खेविणु मुहु जिण वरहो दीहर-नयण सलोणु ।
नावइ गुरु-मच्छर भरिउ जलणि पवीसइ लोणु ॥ १९७ ॥
अब्भा लग्गा डुंगरिहि पहिउ रडन्तउ जाइ ।
जो एहा गिरि गिलण मणु सो कि धणहे धणाइ ॥ १९८ ॥
पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउ खन्धस्सु ।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउ कन्तस्सु ॥ १९९ ॥
सिरि चडिआ खंति प्फलइ पुणु डालइ मोडंति ।
तो वि महद्दुम सउणाह अवराहिउ न करंति ॥ २०० ॥



१९७ जिनवर का दीर्घ नयनों वाला सलोना मुह देखकर मानो अत्यन्त मत्सर (ईर्ष्या) से भरकर लोन ज्वलन (अग्नि) में प्रवेश करता है।
१९८ अभ्र डूंगरों से लगे हैं (छाये हैं), पथिक रटता (रोता) हुआ जाता है कि जो इस गिरि को भी निगलने का मनवाला (इच्छुक) है वह क्या धन्या पर कृपा करेगा ?
१९९ पांव में अंतड़ियां लगी हैं, सिर कंधे से लटक गया है, तो भी हाथ कटारी पर है। [ऐसे] कंत को मैं बलि जाऊं।
२०० सिर पर चढ़कर फल खाते हैं, फिर डालों को मरोड़ते हैं, तो भी महान द्रुम शकुनियों (चिड़ियों) का अपराध नहीं करते।

सहायक साहित्य

संस्कृत

लालचन्द्र गांधी — अपभ्रंश काव्यत्रयी, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा, १९२७ ई०

हिंदी

अगरचंद नाहटा — वीर गाथा काल का जैन साहित्य (नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६, अंक ३, सं० १९९८ वि०)

आचार्यप्रवर तरुणप्रभ सूरि (जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसायटी, वर्ष २२, खंड १-२, १९४९ ई०)

कामताप्रसाद गुरु — हिंदी व्याकरण, संशोधित संस्करण (नागरी प्रचारिणी सभा, २००६ वि०)

किशोरीदास वाजपेयी — ब्रजभाषा का व्याकरण, कनखल १९४३ ई०

हिन्दी शब्दानुशासन, नागरी प्रचारिणी सभा, १९५९ ई०

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी — पुरानी हिन्दी (नागरी प्रचारिणी प्रचारिणी सभा, पुनर्मुद्रण २००५ वि०)

धीरेन्द्र वर्मा — ब्रजभाषा व्याकरण, रामनारायण लाल इलाहाबाद, १९३७ ई०

हिंदी भाषा का इतिहास, तृतीय संस्करण, १९४९ ई० (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)

नाथूराम प्रेमी — जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९४२ ई०

नामवर सिंह — पुरानी राजस्थानी (अनुवाद) नागरी प्रचारिणी सभा १९५७ ई०

बाबूराम सक्सेना — दक्खिनी हिन्दी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५२ ई०

रामकुमार वमा	हिंदा साहित्य का आलाचनात्मक इतिहास, द्वितीय सस्करण इलाहाबाद, १६४८ ई०
रामच द्र शुक्ल	हिंदा साहित्य का इतिहास, पचम सस्करण, २ ०८ वि० (नागरी प्रचारिणा सभा, काशी)
रामविलास शमा	भाषा और समाज, पापुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्लो, १६६१ ६०
राहुल साकृत्यायन	पुरातत्व निबधावलो इडियन प्रस, प्रयाग, १६३७ ६०
	हिंदी काव्य धारा, किताब महल, इलाहाबाद, १६४५ ६०
सुनातिकुमार चटर्जी	राजस्थाना भाषा, उदयपुर १६४६ ६०
हजारा प्रसाद द्विवेदी	हिंदी साहित्य का भूमिका, हिंदी ग्रथ रत्नाकर, बम्बई १६४१ ई
	हिंदी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६५२ ई०
	हिंदा साहित्य, दिल्ला, १६५२ ६०
हजारा प्रसाद द्विवेदा एव विश्वनाथ त्रिपाठी	सदेश रासक, हिंदा ग्रथ रत्नाकर, बम्बई १६६० ६०
हरिवश कोछड़	अपभ्रश साहित्य १६५६ ई
हारालाल जैन	सावयधम्मदोहा, करजा जैन ग्रथमाला, १६३२ ६०
	पाहुड दाहा करजा, १६ ३ ६०

गुजराती

केशव का० शास्त्री	अपभ्रश व्याकरण, अहमदाबाद, २००५ वि०
मधुसूदन चिमनलाल मादी	अपभ्रंश-पाठावली, अहमदाबाद, १६६२ वि

अंग्रेजी और जर्मन

Alsdorf , L	.. Apabhramsa Studien, Leipzig 1937
Barua and Mitra	Prakrit Dhammapad, Calcutta University 1921
Bhayani, H C	Paumcariu of Svayambhu SJS Bombay 1953

Bhayani and Jin Vijaya Muni — Sandes Rasak of Abdal Rahman SJS Bombay, 1945

Chatterji S K — The Origin and Development of Bengali Language Calcutta 1926

Ukti Vyakti Prakarana of Damoder SJS Bombay 1953

Chatterji and Babuaji Misra — Varna Ratnakar of Jyotirisvara Bibliotheca Indica 1940

Dalal C D and Gune, P D — Bhavisatta Kaha of Dhanpal GOS Baroda 1923

Dasgupta S N and De S K — A History of Sanskrit Literature (Classical period) Vol I, Calcutta University 1947

Divatia, N B — Gujarati Language and Literature Poona, 1921

Ghosh C M — Prakrit Paingalam Bibliotheca Indica 1902

Ghosal, S N — Controversy over the significance of Apabhramsa & a compromise between the views of Jacobi and Grier on

An Enquiry into Eastern Apabhramsa

(Journal of Asiatic Society, Calcutta, vol XXII, No 1 1956)

Grierson G A — Linguistic survey of India Vol I Part I

On the Modern Indo Aryan Vernacular (Indian Antiquary LX LXI LXII—1931 33)

Prakrit Dhatvadesas (Memoirs of

the Asiatic society of Bengal Vol VIII, No 2 1925)

Apabhramsa according to Markandey (JRAS B 1913)

Hoernle R — A Comparative Grammar of the Gaudian Languages with special reference to Eastern Hindi, London 1880

A collection of Hindi Root with remarks of their Derivation and classification. (JRASB, Vol XLIX, Part I, 1880)

Prakrit Lakshanam of Canda 1880

Jacobi H — Bhavisatta kaha Von Dhanvala Muchen, 1918

Jain Hiralal — Navakumar cariu of Puspadant Karanja 1933

Karakand cariu of Kankamar Karanja 1934

Katre S M — Prakrit Languages, and their contribution to Indian Culture Bhartiya Vidya Bhavan Bombay 1945

Master Alfred — Gleanings from Kubalavmala kaha, BSOAS Vol XIII Pt 2 4 1950-51

Mehendale M A — Historical Grammer of Inscriptional Prakrit DCRI Poona 1943

Misra K. P — Keith on Apabhramsa (Ind Ant 1930)

Panse, M G — Linguistic Peculiarities of Jnaneswari BDCRI Poona 1951

Pischel R — Grammatik der Prakrit Sprachen, Strassburg 1900

Materialien Zur Kenntnis des Apbhramsa Berlin, 1902
De i Namamala Von Hemchandra, 1880

axena, B R — Evolution of Avadhi Allahabad 1938

n, Sukumar — Comparative Grammar of Middle Indo Aryan, (Indian Linguistics Col 1951)

'agare G V — Historical Grammar of Apabhramsa DCRI, Poona 1948,

essitori L P — Notes on the Grammar of the Old Western Rajasthani with Special reference to Apabhramsa and to Gujarati and Marwari Indian Antiquary 1914 16

'padhye A N — Parmatm Prakas and yogsara of Joindu SJS 1937
Lilavai Kaha of Kouhal SJS 1949
Prakrit Literature (Encyclopedia of Literature-Shipley, Vol I 1946)

'aidya P L — Hemachandra's Prakrit Grammar Poona 1928
Jasahar Chariu of Puspadanta, Karanja 1931
Mahapurana of Puspadanta MDJG Bombay, 1937-41

'ale R N — Verbal Composition in Indo-Aryan DCRI, Poona 1948

'elankar H D — Jina Ratnakosa Vol I, Poona 1944

'reese K De — Apabhramsa Studies (Journal of American oriental Society 1954, 1959)